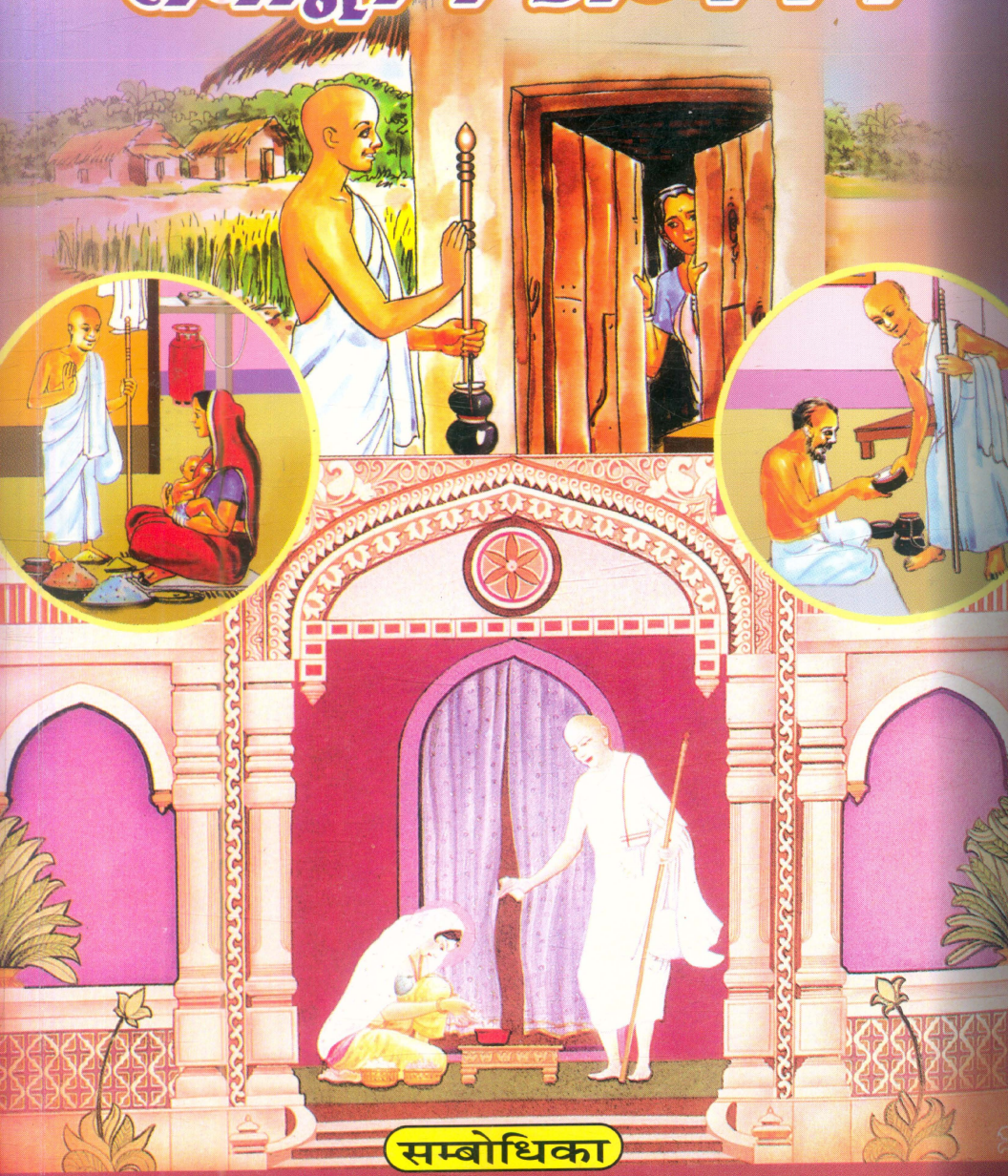
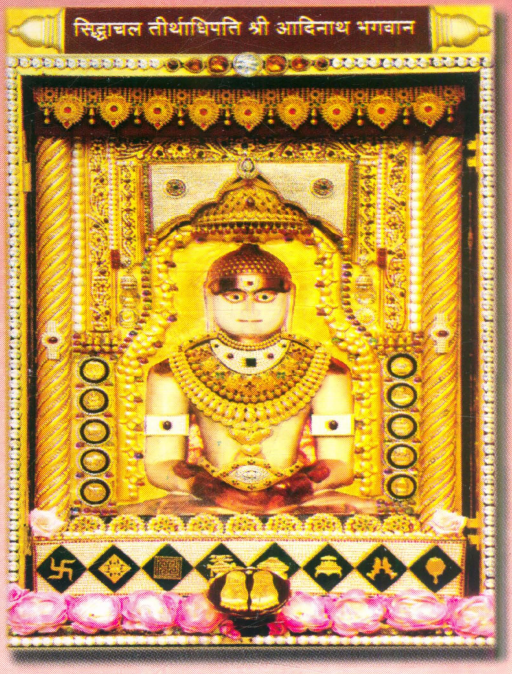
जैन मुनि की आहार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन



सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.





श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी



श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)



श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)



श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-6

2012-13

R.J. 241 / 2007

शोधार्थी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय

लाडनूं-341306 (राज.)

जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-6



स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन

कृपा वृष्टि : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल वृष्टि : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द वृष्टि : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा वृष्टि : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य वृष्टि : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह वृष्टि : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी, सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : • प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
email : sagarmal.jain@gmail.com
• सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00

(पुन: प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (VI)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

सेवार्पण

जिनकी छत्रछाया में बीता
मेरा भोला बचपन।
जिनके आदर्श मार्ग पर बढ़ रहा
मेरा हर गतिशील चरण।
जिनका आशीष देता संबल
और सफलता का उच्च गगन।
जिनकी निश्रा में महक रहा
गच्छ खरतर का हर एक चमन।।

ऐसी

मातृ हृदया, महत्तरा पद विभूषिता पूज्या विनीता श्रीजी म.सा.
विद्यार्जन भारती पूज्या दिव्यप्रभा श्रीजी म.सा.
सरलता की प्रतिमूर्ति पूज्या चन्द्रकला श्रीजी म.सा.
प्रवर्त्तिनी पदासीना पूज्या चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा.
वात्सल्य वारिधि प्रवर्त्तिनी पूज्या कीर्तिप्रभा श्रीजी म.सा.
पुण्य प्रभावी पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा.
सहज स्वभावी पूज्या सूर्यप्रभा श्रीजी म.सा.
प्रवचन पटु पूज्या डॉ. विद्युतप्रभा श्रीजी म.सा.

आदि सर्व

पुण्य शालिनी, शील धारिणी, गच्छ उद्धारिणी
पूज्यवर्य्याओं के चरणों में
श्रद्धाभावेन समर्पित

सज्जन चिन्तन कण

Western culture की दौड़ में,

Pizza, Burger और Cold Drink की Fashion ने,

Cake, ice-cream और Pasteries के शौक ने,

बढ़ती हुई महंगाई, Hotels और Restaurant के दौर ने,

हमें मित्र बना दिया है

Cholestrol और Diabities का।

शरणार्थी बना दिया है

Hospital और Health Fitness centre का।

मेहमान बना दिया है

अपने ही घर की रसोई का।

ऐसी स्थिति में

जिस भिक्षावृत्ति को माना जाता है अपराध,

वहीं त्यागी-तपस्वी मुनियों की भिक्षाचर्या का क्या है गूढ़ार्थ।

हमसे नहीं छूटता खाने के दाने का स्वाद,

वहाँ कैसे करते हैं मुनि आहार विजय का अभ्यास।

उसी माधुकरी वृत्ति के विभिन्न पहलुओं पर

एक मार्मिक प्रकाश...

हार्दिक अनुमोदन

कौलकाता निवासी

श्रेष्ठीवर्य्य पिताश्री **कपूरचंदजी**-मातु श्री **लक्ष्मी देवी**

की दिव्य स्मृति में

समाज समर्पित पुत्र रत्न

श्री विमलचन्द-प्रमिला

सुपौत्र

विकास-रुपा, विवेक-शालु

प्रपौत्र

रौनक, यश, नीति, शालवी, महक

महमवाल परिवार

ज्ञान मंजूषा के संरक्षक
श्री विमलचंदजी महमवाल परिवार

किसी कवि ने कहा है–

यस्मिन् श्रुतपथं प्राप्ते, दृष्टे स्मृति मुपगते।
आनन्दं यान्ति भूतानि, जीवितं तस्य शोभते।।

जिनके जीवन के बारे में जानकर एवं अनुभूति कर सभी को आनन्द मिलता है उन्हीं का जीवन सार्थक और शोभायमान है। कोलकाता जैन समाज के ऐसे ही आदर्श व्यक्तित्व हैं श्रावक रत्न श्री विमलचंदजी महमवाल।

आपका जन्म ईस्वी सन् 1946 को कलकत्ता नगर में हुआ। धर्मपरायणा मातु श्री लक्ष्मी देवी ने बाल्यकाल से ही माता मदालसा के समान विशुद्ध धर्म एवं कर्म के संस्कार देने प्रारंभ कर दिए अत: श्रेष्ठ संस्कारों की नींव मजबूत रूप से स्थापित हो गई।

पिता श्री कपूरचंदजी महमवाल समाज के सुप्रसिद्ध, कर्त्तव्यनिष्ठ कार्यकर्त्ता थे। आपको व्यावहारिक एवं व्यावसायिक दक्षता दिलवाने में किसी प्रकार की कमी उन्होंने नहीं रखी। उसी अनुभव ज्ञान की बदौलत आज आप सफलता एवं प्रसिद्धि के उत्तुंग शिखर पर हैं। किसी कवि ने कहा है–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे।
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।।

विकास के मार्ग पर गति करना सभी को प्रिय होता है परंतु उनमें कुछ लोग ही सर्वश्रेष्ठ बनते हुए समाज में एक कीर्तिमान स्थापित करते हैं।

आपश्री व्यवसाय से जौहरी हैं। कोलकाता के सुविख्यात जौहरियों में आपकी गणना होती है। जिस प्रकार दीपावली पर्व के आने पर दीप मालाओं की पंक्तियाँ सजती है उसी प्रकार आपका जीवन भी अनेक पदों पर सुशोभित हैं। आपका गांभीर्यपूर्ण शांत व्यक्तित्व, माधुर्य युक्त अल्पभाषित्व, सरल एवं स्नेहिल स्वभाव, उदार मनोवृत्ति, दिग्व्यापी वर्चस्व एवं अद्‌भुत सामर्थ्य के कारण हर संस्था आपको विशिष्ट पद प्रदान करने हेतु अग्रसर रहती है।

आपश्री पंचायती मन्दिर ट्रस्ट मंडल एवं जैन भवन आदि में अध्यक्ष पद पर मनोनीत हैं वहीं जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्ट, जौहरी साथ, कोलकाता जौहरी मंडल आदि में मन्त्री आदि विशिष्ट पदों पर आसीन हैं। खरतरगच्छ महासंघ में भी आप पूर्वी भारत का नेतृत्व करते हुए उपाध्यक्ष पद पर रह चुके हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य संस्थाओं से भी आप जुड़े हुए हैं।

आपका विवाह कोलकाता के सुप्रसिद्ध समाजरत्न श्री मुकुन्दीलालजी की सुपुत्री श्री कान्तिलालजी मुकीम की बहिन प्रमिलाजी से हुआ। विमलचंदजी के लिए कह सकते हैं कि **'धन्यः स पुरुषो भुवि'** वे इस धरती पर धन्य पुरुष हैं क्योंकि प्रमिलाजी के रूप में उन्हें एक ऐसी जीवन संगिनी मिली है जिनका पतिव्रत अनोखा, प्रेम अगाध एवं श्रद्धा अपरिमित हैं। आप दोनों माता-पितावत नगर विराजित सभी साधु-साध्वियों का ध्यान रखते हैं। श्री जिनदत्तसूरि मण्डल आपकी ही छत्र छाया में कली से गुलाब बनकर विकसित हो चुका है। गुरु भक्ति आपके रोम-रोम में रक्त बनकर प्रवाहित होती है। पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. को आप धर्म संस्कार दात्री माता के रूप में सम्मान देती हैं तो पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. को गुरु रूप मानती हैं। उनके नाम श्रवण मात्र से आपकी आँखों से श्रद्धा मेघ झरने लगते हैं। आप एक कुशल गृहिणी एवं सुदृढ़ समाज सेविका हैं।

अपने सुपुत्र विकास और विवेक को भी आपने ऐसे ही संस्कारों से नवाजा है। पुत्रवधु रूपाजी एवं शालूजी भी धर्मपरायणा, समन्वयवादी एवं सुज्ञ सन्नारियाँ हैं।

परम विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी पर आपका पुत्रीवत स्नेह रहा है। आपने कोलकाता अध्ययन प्रवास के दौरान उनका एक माता-पिता के समान ध्यान ही नहीं रखा अपितु उन्हें हर तरह की चिंताओं से मुक्त भी रखा। साध्वीजी के विराट शोध कार्य को पूर्ण करवाने में आपकी अविस्मरणीय भूमिका रही है।

अपनी पुण्यानुबंधी लक्ष्मी का उपयोग आप सत्कार्यों में सदा करते रहते हैं। आज आप ही के सहयोग से यह कृति प्रकाशित होने जा रही है। सज्जनमणि ग्रन्थमाला आपके आत्मीय सहयोग के लिए सदा आभारी रहेगा।

●

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति ऋषि-महर्षियों द्वारा संचालित अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। आर्य सभ्यता एवं समाज को आत्मोन्मुखी दिशा देने एवं उसे विश्व के समक्ष आदर्श रूप में स्थापित करने का श्रेय इन्हीं महात्माओं को जाता है। संत गृहस्थ वर्ग को आध्यात्मिक उन्नति एवं संसार विरक्ति का मार्ग बताते हैं तथा गृहस्थ इसके प्रतिफल स्वरूप उनकी व्यवहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है एवं जीवन यापन में सहयोगी बनता है।

साधु संतों की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं। जिनके लिए वह गृहस्थ वर्ग पर आश्रित रहते हैं। यह कह सकते हैं कि उनकी आध्यात्मिक साधना में किसी प्रकार की बाधा न आए या क्षति न पहुँचे इस हेतु गृहस्थ उन्हें सम्पूर्ण दायित्वों से मुक्त रखने का प्रयत्न करता है। जीवन यापन के लिए प्रमुख रूप से तीन आवश्यकताएँ जरूरी मानी गई हैं– रोटी, कपड़ा और मकान। संत कभी भी एक स्थान पर नहीं रहते अत: जहाँ जो स्थान मिल जाए वहीं उनका घर बन जाता है। दो जोड़ी वस्त्र की पूर्ति तो कहीं भी रहकर हो सकती है। परंतु सबसे महत्त्वपूर्ण है निर्दोष आहार की संप्राप्ति। सभी भारतीय परम्पराओं ने इस हेतु भिक्षावृत्ति का उल्लेख किया है।

भिक्षा अर्थात मांगकर या याचना द्वारा भोजन आदि प्राप्त करना। इसी कारण साधु को भिक्षु की उपमा भी दी गई है। वैदिक परम्परा में मुनि के लिए चार आवश्यक क्रियाएँ बताई हैं जिनमें से एक भिक्षा है। नारद ने मुनि के लिए भिक्षावृत्ति को राजदण्डवत आवश्यक माना है। बौद्ध परम्परा में तो श्रमण को भिक्षु ही कहा जाता है। उनकी आचारवृत्ति प्राय: जैन मुनियों के ही समान हैं। जातक कथा एवं बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मुनियों द्वारा भिक्षा गमन का उल्लेख मिलता है।

जैन श्रमण के लिए आवश्यकताओं के निर्वाह का एक मात्र साधन भिक्षावृत्ति है। परन्तु यदि जैन, बौद्ध एवं दैहिक संतों की भिक्षावृत्ति में तुलना की जाए तो जैन मुनि की भिक्षा वृत्ति अनेक नियम-उपनियम से युक्त एक कठिन चर्या है।

शास्त्रकारों ने मुख्य रूप से भिक्षा के तीन प्रकारों का वर्णन किया है– 1. दीनवृत्ति, 2. पौरुषघ्नी एवं 3. सर्व सम्पतकरी। इसमें से मुनि द्वारा याचित भिक्षा सर्व सम्पत्करी कहलाती है। क्योंकि अहिंसक एवं संयमी मुनि सहज रूप से प्राप्त निर्दोष भिक्षा ही ग्रहण करते हैं। जैन ग्रन्थों में मुनि भिक्षा के लिए गोचरी, माधुकरी, कापोती वृत्ति, उञ्छवृत्ति, एषणा, पिण्डैषणा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह शब्द जैन मुनि की भिक्षा विधि के वैशिष्ट्य को द्योतित करते हैं।

सर्वथा निराहार रहकर साधना करना असंभव है। शरीर के सम्यक संचालन एवं समाधियुक्त साधना के लिए आहार अत्यन्त आवश्यक है अत: श्रमण नीरस भाव से औषधि के समान भोजन का सेवन करता है। उसका भोजन हित, मित एवं परिमित होता है।

आहार शुद्धि की अपेक्षा जैन मुनि के लिए भिक्षाशुद्धि की नवकोटियाँ बताई गई है। तदनुसार मुनि के निमित्त वस्तु खरीदना, निर्माण करना या हिंसा करना वर्जित है। इसी प्रकार किसी के द्वारा करवाना अथवा इन कार्यों की तद्निमित्त अनुमोदना करना भी निषिद्ध है। इन नव कोटियों से यह स्पष्ट है कि जैन मुनि किसी पर भी भारभूत नहीं बनता। सहजता से गृहस्थ के घर में जो भी निर्दोष आहार प्राप्त हो जाए, उस सात्विक आहार से ही अपना जीवन यापन करते हैं।

दशवैकालिकसूत्र में मुनि की भिक्षाचर्या को अदीनवृत्ति कहा है, क्योंकि मुनि को अदीन भावपूर्वक भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। निरस भोजन मिलने पर न तो उसे विषाद करना चाहिए और न ही सरस भोजन मिलने पर आनन्दित होना चाहिए। इसी के साथ भिक्षाचर्या सम्बन्धी 42 दोषों का वर्णन भी मुनि भिक्षा की सूक्ष्मता का परिज्ञान करवाता है।

भिक्षाचर्या मुनि जीवन का आवश्यक अंग है। आगमकाल से ही हमें इसकी विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। आचारांग एवं दशवैकालिक सूत्र में भिक्षाचर्या का प्राचीनतम स्वरूप दृष्टिगत होता है। उक्त दोनों ग्रन्थ इस विषय में महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक स्थान रखते हैं। इसी के साथ स्थानांग, भगवती, प्रश्नव्याकरण, निशीथ आदि सूत्रों में भी विषयगत सामान्य चर्चा की गई है। जहाँ तक 42 या 47 दोषों का वर्णन है वह आगमों में विकीर्ण रूप से प्राप्त होता है। आगमिक व्याख्या साहित्य में सर्वप्रथम पिण्डनिर्युक्ति में 47 दोषों का

एक साथ क्रमिक वर्णन प्राप्त होता है। यह निर्युक्ति आहारविधि से सम्बन्धित ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मध्यकालीन साहित्य में न्यूनाधिक रूप से इसकी चर्चा प्राय: सभी आचार ग्रन्थों में परिलक्षित होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस विषयक रहस्योद्घाटक चर्चा पंचवस्तुक ग्रंथ में की है।

दिगम्बर साहित्य में मूलाचार एवं अणगार धर्मामृत में यह वर्णन स्पष्ट रूप से सविस्तार उपलब्ध है।

जैन मुनि के आहार ग्रहण की कई मर्यादाएँ एवं नियमोपनियम हैं। भिक्षा ग्रहण करने के लिए मुनि ऐसे किसी भी घर में जा सकता है जहाँ सात्त्विक आहार बनता हो। राजपिण्ड, महाभोज आदि का आहार करना निषिद्ध है। वहीं वैदिक ग्रन्थों में शालीन एवं यायावर प्रकार के ब्राह्मणों से भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश है। इनके लिए मांस, मधु, अपक्व फल आदि का भी निषेध है। वे अनेक घरों से भिक्षा याचना कर सकते हैं अथवा एक घर से भी भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। वे पकाया हुआ आहार न लेकर आटा, घी, धान आदि की याचना करते हैं और स्वयं पकाकर खाते हैं। लाए हुए आहार का संचय भी कर सकते हैं एवं अन्य लोगों को भी उसके द्वारा भोजन करवा सकते हैं। जबकि जैन मुनि न तो आहार का संचय कर सकते हैं और न ही वे अपना आहार सम्भोगी मुनि के अतिरिक्त किसी अन्य को दे सकते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में मुनिगण गुर्वाज्ञा पूर्वक गोचरचर्या हेतु जाते हैं। एषणा आदि दोषों का निवारण कर विधिपूर्वक आहार लेते हैं। यहाँ पर काष्ठ पात्रों में आहार लाने का विधान है तथा मंडली अर्थात समुदाय में बैठकर आहार ग्रहण किया जाता है। वहीं दिगम्बर मुनि एकल आहारी होते हैं। वे गृहस्थ के घर जाकर नवधा भक्तिपूर्वक करपात्री में आहार ग्रहण करते हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी की ही गुरुभगिनी साध्वी स्थितप्रज्ञाश्रीजी एवं साध्वी संवेगप्रज्ञाश्रीजी द्वारा पिण्डनिर्युक्ति एवं पंचवस्तुक पर किया गया शोध कार्य भी इस विषय में दृष्टव्य है।

वर्तमान समय में गृहस्थवर्ग की भिक्षाचर्या के प्रति घटती जागरूकता एवं उपेक्षाभाव की परिस्थितियों में यह कृति एक सफल मार्गदर्शक होगी। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भिक्षाचर्या के औचित्य एवं महत्ता को उजागर करना अत्यन्त आवश्यक था, जिसके लिए सौम्यगुणाजी ने एक सार्थक एवं प्रशंसनीय प्रयास किया है।

साध्वीजी को विगत 20 वर्षों से जानता हूँ और तभी से उनके दृढ़ मनोबल एवं अहोरात्रि परिश्रम का साक्षात्कार करता रहा हूँ। विधिमार्गप्रपा जैसे कठिन प्राकृत ग्रंथ का अर्थ हो या विधि-विधान सम्बन्धी शोध कार्य? उन्होंने अपनी शत-प्रतिशत मेहनत इस कार्य में की है। आज उसी मेहनत की बदौलत जैन साहित्य में यह अमूल्य सर्जन हुआ है। वे इसी प्रकार अपनी श्रुतयात्रा में नए-नए आयामों को प्राप्त करें एवं ज्ञान पिपासुओं के लिए विधि-विधानों की प्रपातुल्य बने यही मंगलकामना।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मौतियों की खोज

कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि, नाकोडा तीर्थ

विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान सम्बन्धी विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिख कर डी.लिट् उपाधि प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सौम्याजी ने पूर्व में विधिमार्गप्रपा का हिन्दी अनुवाद करके एक गुरुत्तर कार्य संपादित किया था। उस क्षेत्र में हुए अपने विशिष्ट अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए उसी विषय को अपने शोध कार्य हेतु स्वीकृत किया तथा दत्त-चित्त से पुरुषार्थ कर विधि-विषयक गहनता से परिपूर्ण ग्रन्थराज का जो आलेखन किया है, वह प्रशंसनीय है।

हर गच्छ की अपनी एक अनूठी विधि-प्रक्रिया है, जो मूलतः आगम, टीका और क्रमशः परम्परा से संचालित होती है। खरतरगच्छ के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं... मर्यादाएँ हैं... क्रियाएँ हैं...। हर काल में जैनाचार्यों ने साध्वाचार की शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भगीरथ प्रयास किया है। विधिमार्गप्रपा, आचार दिनकर, समाचारी शतक, प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत शतक, साधु विधि प्रकाश, जिनवल्लभसूरि समाचारी, जिनपतिसूरि समाचारी, षडावश्यक बालावबोध आदि अनेक ग्रन्थ उनके पुरुषार्थ को प्रकट कर रहे हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान संबंधी बृहद् इतिहास की दिव्य झांकी के दर्शन कराते हुए गृहस्थ-श्रावक के सौलह संस्कार, व्रतग्रहण विधि, दीक्षा विधि, मुनि की दिनचर्या, आहार संहिता, योगोद्वहन विधि, पदारोहण विधि, आगम अध्ययन विधि, तप साधना विधि, प्रायश्चित्त विधि, पूजा विधि, प्रतिक्रमण विधि, प्रतिष्ठा विधि, मुद्रायोग आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन-विश्लेषण प्रस्तुत कर इन सभी विधि विधानों की मौलिकता और सार्थकता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उजागर करने का अनूठा प्रयास किया है।

विशेष रूप से मुद्रायोग की चिकित्सा के क्षेत्र में जैन, बौद्ध और हिन्दु परम्पराओं का विश्लेषण करके मुद्राओं की विशिष्टता को उजागर किया है।

निश्चित ही इनका यह अनूठा पुरुषार्थ अभिनंदनीय है। मैं

कामना करता हूँ कि संशोधन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे खूब आगे बढ़ें और अपने गच्छ एवं गुरु के नाम को रौशन करते हुए ऊँचाईयों के नये सोपानों का आरोहण करें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थि के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-

विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता

का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया

है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर

1.2.13 भद्रावती

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मेहनत

की अनुमोदना।

नयपद्म सागर

'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' शोध प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह में बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ ही उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

संयम बोधि विजय

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।

किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।
साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।
शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री, भद्रावती तीर्थ

अमृत नाद

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'– विद्वत् मनीषियों ने शरीर को धर्म का प्रमुख साधन कहा है। श्रमण धर्म का आचरण शरीर से होता है और शरीर निर्वाह के लिए आहार की आवश्यकता रहती है अत: साधना के लिए देहरक्षण अनिवार्य है।

जैन श्रमण जीवन निर्वाह के लिए भिक्षाचर्या का आलम्बन लेते हैं परंतु उनकी भिक्षाविधि सामान्य भिक्षुकों से अलग होती है। अनेक नियम-उपनियमों का पालन करते हुए मुनि निर्दोष आहार की गवेषणा एक मधुकर या गाय के समान करते हैं, इसी कारण उनकी भिक्षाविधि माधुकरी वृत्ति या गोचरचर्या भी कहलाती हैं। वे बिना किसी भेदभाव के निर्दोष एवं सात्त्विक आहार प्राप्त करने का प्रयत्न भी समभाव अवस्था में करते हैं। न अनुकूल प्रसंगों में हर्ष न प्रतिकूलता में विषाद। मिले तो उदर पूर्ति और न मिले तो तप में वृद्धि की भावना करते हुए सदैव आत्मानंद में ही मग्न रहते हैं। इसी कारण जैन मुनि की भिक्षाचर्या विशिष्ट होती है।

शोध प्रबन्ध के इस षष्ठम खण्ड में जैन मुनि की भिक्षाचर्या एवं तद्विषयक विधि-नियमों का सांगोपांग स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। श्रमण संघ में विशेषत: नूतन दीक्षित एवं ज्ञान पिपासुओं के लिए इस तरह की कृति बहुउपयोगी सिद्ध होगी। सुयोग्या सौम्यगुणाजी ने भिक्षाचर्या के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया है अत: सभी के लिए साधुवाद की पात्री हैं। मेरा अन्तराशीष है कि वह विधि प्रभा के उपनाम को सार्थक करती हुई इस दिशा में नवोन्मेष का दीप प्रज्वलित करती रहें।

अभ्युदय कांक्षिणी
आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति

आप सदैव सचेष्ट रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के यादगार पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना

कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम

कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन

के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु

पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप.ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन; हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक

चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित

कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी।

गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन

संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श

रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंततः उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक अभिव्यंजना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति का माधुर्य

पवित्रता दो प्रकार की होती है– बहिरंग और अन्तरंग। एक शारीरिक है और दूसरी मानसिक। बाह्य शुद्धि से शरीर की पवित्रता तथा आन्तरिक शुद्धि से मन की पवित्रता बनी रहती है। सुसंस्कृत मानव के लिए दोनों ही आवश्यक है।

बहिरंग पवित्रता भी दो प्रकार की होती है एक बाह्य और दूसरी आभ्यंतर। अस्पृश्य पदार्थों को स्पर्श न करना, जल आदि द्वारा शरीर आदि को स्वच्छ रखना बाह्य शुद्धि है और न्यायोपार्जित पदार्थों के सेवन से शरीर को टिकाये रखना भीतरी पवित्रता है। सुस्पष्ट है कि आन्तरिक विशुद्धि आहार शुद्धि से ही संभव है।

जैन श्रमण की भिक्षाचर्या मूलत: आभ्यन्तर शुद्धि पर आधारित है। आहार शुद्धि भी दो प्रकार की होती है– 1. न्यायोपार्जित धन द्वारा प्राप्त आहार 2. अभक्ष्य, तामसिक एवं गरिष्ठ आदि पदार्थों से रहित आहार। भिक्षाचर्या में इन दोनों शुद्धियों के साथ निर्दोष आहार की भी प्रधानता है। समाधि युक्त जीवन यात्रा के लिए श्रमण को भी भोजन की आवश्यकता होती है। सर्वथा निराहार रहने पर शरीर टिक नहीं सकेगा और शरीर के अभाव में साधना संभव नहीं। इसलिए श्रमण भी जीवन निर्वाह हेतु भोजन करता है।

सामान्य व्यक्ति और श्रमण के भोजन में मुख्य अन्तर यह है कि श्रमण जो कुछ भी खाता है स्वाद के लिए नहीं प्रत्युत औषध के रूप में शरीर रक्षा के लिए खाता है। उसका भोजन हित, मित एवं परिमित होता है। भिक्षाचर्या के अनेक नियमोपनियम हैं। मूलत: मुनि भिक्षा नवकोटि से परिशुद्ध और बयालीस दोषों से रहित होती है। जैसे कि साधु भिक्षा के लिए न दूसरों को किसी तरह की पीड़ा देता है, न दूसरों से दिलवाता है और यदि कोई किसी को पीड़ा दे रहा हो तो उसका अनुमोदन भी नहीं करता है। इसी तरह वह स्वयं की भिक्षा के लिए न आहार पकाता है, न दूसरों से आहार पकवाता है और यदि कोई आहार पका रहा हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करता है। आहारादि के लिए न स्वयं कोई वस्तु खरीदता है, न दूसरों से आहारादि पदार्थ खरीदकर मंगवाता है और यदि कोई मुनि के निमित्त खरीद रहा हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं

करता है। ऐसा नवकोटियों से परिशुद्ध आहार ही जैन श्रमण स्वीकार करता है। इसी के साथ उसके उद्देश्य से बना हुआ, सामने लाया हुआ, तद्निमित्त खरीदा हुआ, छींके आदि से उतारा गया आदि बयालीस दोष से रहित भिक्षा ग्रहण करता है।

यदि भिक्षाटन के सम्बन्ध में विचार किया जाए तो जैन मुनि की भिक्षा सामान्य याचकों से सर्वथा भिन्न होती है। सामान्य याचक दीनता या औषधि आदि के प्रयोग दिखाकर भिक्षा प्राप्त करता है जबकि जैन साधु न अपनी दीनता प्रकाशित करता है और न दाता को किसी प्रकार का भय या प्रलोभन दिखाता है। जैन मुनि भिक्षा की याचना नहीं करता अपितु गृहस्थजन उन्हें भिक्षा देने के लिए भाव पूर्वक खड़े रहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि जैन मुनि मात्र पक्व भोजन ही लेता है, किसी प्रकार के धन आदि की याचना नहीं करता है और न उसे देने के लिए दाता को विवश करता है। वह सड़क पर खड़े होकर भी भिक्षा की याचना नहीं करता है बल्कि लोगों के घरों में जाकर यदि उनके द्वार खुले हों और भोजन बना हुआ हो तो ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जैन मुनि की भिक्षाचर्या अन्य परम्पराओं की भिक्षावृत्ति से बिल्कुल भिन्न है। सामान्यतया जिसे भिक्षा समझा जाता है जैन मुनि की भिक्षावृत्ति उससे अलग है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि जैन मुनि भिक्षावृत्ति इसलिए नहीं करते कि उन्हें श्रम नहीं करना पड़े अपितु उनकी भिक्षावृत्ति के पीछे मुख्य कारण यह है कि भोजन के पकाने आदि में जो षट्जीवनिकाय के जीवों की हिंसा होती है, उससे बच सके। दूसरा कारण यह भी कहा गया है कि वह भिक्षा में जैसा भी रूखा-सूखा भोजन मिले, उसमें संतुष्ट रहे। इससे वह किसी तरह के अपराध या दोष का भागी नहीं बनता है अत: जैन मुनि की भिक्षावृत्ति अनेक तथ्यों से महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ इस प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है कि आहार शुद्धि का सम्बन्ध अन्तरंग शुद्धि से कैसे है? वैज्ञानिक अनुसंधान के आधार पर हमारी शारीरिक संरचना का मुख्य केन्द्र हृदय है। हृदय की सक्रियता से हमारी जीवन यात्रा निरन्तर गतिशील रहती है अत: हृदय को स्वस्थ और सक्रिय बनाये रखना परमावश्यक है। जैन विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से हृदय को आहार शुद्धि के आधार पर ही स्वस्थ रखा जा सकता है और आहार की शुद्धता सात्विक, स्वस्थ एवं

संयमित भोजन पर अवलम्बित है। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांत से भी सिद्ध हो चुका है कि भोजन से केवल शरीर का ही निर्माण नहीं होता अपितु हमारा मन, बुद्धि, विचार भी भोजन से प्रभावित होते हैं। व्यक्ति के आचार, विचार, व्यवहार आदि का सीधा सम्बन्ध भोजन से है। कहावत भी है–

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पाणी, वैसी बोले वाणी।।

यह केवल कहावत नहीं है, अपितु हजारों वर्षों का अनुभूत सत्य है। नीतिकार चाणक्य ने कहा है– मनुष्य का आहार ही उसके विचारों एवं चरित्र का निर्माता है। जो व्यक्ति जैसा आहार करेगा उसका निर्माण भी वैसा ही होगा। कहा गया है–

दीपो भक्षयेद् ध्वान्तं, कज्जलं च प्रसूयते।
यादृशं भुज्यते चान्नं, जायते तादृशी प्रजाः।।

दीपक अंधेरे को खाता है, इसलिए काजल पैदा करता है। एक ब्रिटिश डाक्टर का कहना है– 'यू आर व्हाट यू ईट' अर्थात आप वही होते हैं जो आप खाते हैं। छान्दोग्योपनिषद में भी आहार शुद्धि के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा गया है–

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिर्लब्धे सर्व, ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।
(अ. 7, ख. 26/2)

आहार शुद्धि के बल पर अन्तःकरण शुद्ध बनता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर बुद्धि निर्मल बनती है। निर्मल बुद्धि के द्वारा अज्ञान और भ्रम दूर हो जाते हैं और अन्ततः सभी बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

सार तत्त्व यह है कि शुद्ध भोजन ही साधना और सिद्धि में सहायक बनता है अतः शुद्ध, सात्त्विक और निर्दोष आहार हेतु अनासक्त योगी श्रमण के लिए भिक्षाचर्या करना, भिक्षाशुद्धि रखना सर्वथा युक्ति संगत है।

मूलतः भिक्षा विधि क्या है? भिक्षा हेतु कौन से स्थान ग्राह्य और वर्ज्य हैं? भिक्षागमन कहाँ, किस प्रकार करना चाहिए? गृहस्थ के घर पर भिक्षार्थ प्रवेश करते समय साधु का वर्त्तन कैसा होना चाहिए? ग्राह्य-अग्राह्य भिक्षा का निर्णय किस प्रकार करें? भिक्षार्थी साधु आहार की गवेषणा करते समय किस प्रकार के अभिग्रह धारण करें? आहार सम्बन्धी बयालीस दोष कौन-कौनसे हैं? भिक्षाचर्या

में लगने वाले दोषों की आलोचना किस प्रकार करें? मंडली के साथ आहार करते समय किन दोषों का वर्जन करना चाहिए? ऐसे कई बिन्दु मननीय हैं।

प्रस्तुत शोध कृति में इन सब पहलुओं को सात अध्यायों में उजागर करने का प्रयास किया है।

प्रथम अध्याय में भिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, भिक्षाचर्या के समानार्थी पर्यायवाची शब्दों का विश्लेषण एवं भिक्षा प्राप्ति के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है। इसमें भिक्षा शुद्धि की नव कोटियाँ, भिक्षाटन करने वाले मुनि की उपमाएँ, आहार के प्रकार और आहार सेवन की विविध कोटियाँ भी बतलायी गयी हैं। इस प्रकार यह अध्याय भिक्षा का स्वरूप एवं उसके प्रकारों से सम्बन्धित है।

द्वितीय अध्याय में भिक्षाचर्या की उपयोगिता, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रासंगिकता, भिक्षा का उद्देश्य एवं भिक्षाचर्या सम्बन्धी विधि-विधानों के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय अध्याय में भिक्षाचर्या का अधिकारी कौन? आहार करने योग्य स्थान कैसा हो? आहार कितने परिमाण में करना चाहिए? आहार देने का अधिकारी कौन? भिक्षाचर्या सम्बन्धी मर्यादाएँ, भिक्षाचर्या के नियम, भिक्षा प्राप्ति के लिए निषिद्ध-अनिषिद्ध स्थान, इस प्रकार कई नियमोपनियमों का शास्त्रीय वर्णन करते हुए आधुनिक युग में भिक्षाचर्या के औचित्य एवं अनौचित्य तथा आहार की शुद्धता एवं औद्देशिकता के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय आहार में लगने वाले दोषों से सम्बन्धित है। इसमें मुख्य रूप से आहार लेते समय मुनि के द्वारा एवं आहार देते समय गृहस्थ के द्वारा कौन-कौनसे दोष लगते हैं? उन दोषों के हेतु और दोष सेवन के दुष्परिणामों की चर्चा की गई है। कुछ दोषों के अपवाद भी बताये गये हैं।

पंचम अध्याय में भिक्षाचर्या से लेकर भिक्षा के अनन्तर सम्पन्न की जाने वाली समग्र विधियों का निरूपण किया गया है।

इसमें मुख्यतया भिक्षाटन से पूर्व उपयोग विधि, भिक्षाटन से लौटने के पश्चात पाँव प्रमार्जन विधि, कायोत्सर्ग विधि, आलोचना विधि, आहार सेवन से पूर्व सहवर्ती मुनियों को निमन्त्रण, स्वाध्याय आदि की विधि तथा आहार के पश्चात पात्र प्रक्षालन एवं अतिरिक्त आहार का परिष्ठापन किस विधि पूर्वक किया जाता है? इन सभी

विधि-नियमों की चर्चा प्रामाणिक ग्रन्थों के सन्दर्भ में की गई है।

षष्ठम अध्याय में भिक्षाचर्या का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अनुसंधान विस्तार पूर्वक किया गया है।

सप्तम अध्याय उपसंहार के रूप में प्रस्तुत है। इस कृति के परिशिष्ट में 42 दोष सम्बन्धी कथाएँ भी उद्धृत कर दी गई है जिससे आहार लेने एवं देने में पूर्ण सावधानी रखी जा सके। वर्तमान युग में मुनि भिक्षा के प्रति बढ़ती असावधानी, उपेक्षा एवं अज्ञानता में यह कृति सफल मार्गदर्शक बनकर आर्यजनों में बहुमान जगा सके, अंतस् में संयम प्राप्ति की नींव डाल सके तथा गृहस्थों एवं साधुओं को नियमों में दृढ़ बना सके, इसी मंगल प्रार्थना के साथ।

●

वन्दना की सरगम

आज से सत्रह वर्ष पूर्व एक छोटे से लक्ष्य को लेकर लघु यात्रा प्रारंभ हुई थी। उस समय यह अनुमान कदापि नहीं था कि वह यात्रा विविध मोड़ों से गुजरते हुए इतना विशाल स्वरूप धारण कर लेगी। आज इस दुरुह मार्ग के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने में मेरे लिए परम आधारभूत बने जगत के सार्थवाह, तीन लोक के सिरताज, अखिल विश्व में जिन धर्म की ज्योत को प्रदीप्त करने वाले, मार्ग दिवाकर, अरिहंत परमात्मा के पाद प्रसूनों में अनेकशः श्रद्धा दीप प्रज्वलित करती हूँ। उन्हीं की श्रेयस्कारी वाणी इस सम्यक ज्ञान की आराधना में मुख्य आलंबन बनी है।

रत्नत्रयी एवं तत्त्वत्रयी के धारक, समस्त विघ्नों के निवारक, सकारात्मक ऊर्जा के संवाहक, सिद्धचक्र महायंत्र को अन्तर्हृदय से वंदना करती हूँ। इस श्रुतयात्रा के क्रम में परम हेतुभूत, भाव विशुद्धि के अधिष्ठाता, अनंत लब्धि निधान गौतम स्वामी के चरणों में भी हृदयावनत हो वंदना करती हूँ।

धर्म-स्थापना करके जग को, सत्य का मार्ग बताया है।
दिवाकर बनकर अखिल विश्व में, ज्ञान प्रकाश फैलाया है।
सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु ने, पतवार बन पार लगाया है।
सिद्धचक्र और गुरु गौतम ने, विषमता में साहस बढ़ाया है।।

जिनशासन के समुद्धारक, कलिकाल में महान प्रभावक, जन मानस में धर्म संस्कारों के उन्नायक, चारों दादा गुरुदेव के चरणों में सश्रद्धा समर्पित हूँ। इन्हीं की कृपा से मैं रत्नत्रयात्मक साधना पथ पर अग्रसर हो पाई हूँ। इसी श्रृंखला में मैं आस्था प्रणत हूँ उन सभी आचार्य एवं मुनि भगवंतों की, जिनका आगम आलोडन एवं शस्त्र गुंफन इस कार्य के संपादन में अनन्य सहायक बना।

दत्त-मणिधर-कुशल-चन्द्र गुरु, जैन गगनांगण के ध्रुव सितारे हैं।
लक्षाधिक को जैन बनाकर, लहरायी धर्म ध्वजा हर द्वारे हैं।
श्रुत आलोडक सूरिजन मुनिजन, आगम रहस्यों को प्रकटाते हैं।
अध्यात्म योगियों के शुभ परमाणु, हर बिगड़े काज संवारे हैं।।

जिनके मन, वचन और कर्म में सत्य का तेज आप्लावित है। जिनके

आचार, विचार और व्यवहार में जिनवाणी का सार समाहित है ऐसे शासन के सरताज, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. के चरणारविन्द में भाव प्रणत वंदना। उन्हीं की अन्तर प्रेरणा से यह कार्य ऊँचाईयों पर पहुँच पाया है।

श्रद्धा समर्पण के इन क्षणों में प्रतिपल स्मरणीय, पुण्य प्रभावी, ज्योतिर्विद, प्रौढ़ अनुभवी , इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर शासन प्रभावना की यशोगाथाएँ अंकित कर रहे पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के पाद पद्मों में श्रद्धायुक्त नमन करती हूँ। आपश्री द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं अनुभवी ज्ञान इस यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहायक रहा है।

इसी श्रृंखला में असीम उपकारों का स्मरण करते हुए श्रद्धानत हूँ अनुभव के श्वेत नवनीत, उच्च संकल्पनाओं के स्वामी, राष्ट्रसंत पूज्य पद्मसागरसूरीश्वर जी म.सा. के पादारविन्द में। आपश्री द्वारा प्रदत्त सहज मार्गदर्शन एवं कोबा लाइब्रेरी से पुस्तकों का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। आपश्री के निश्रारत सहजमना पूज्य गणिवर्य प्रशांतसागरजी म.सा. एवं सरस्वती उपासक, भ्राता मुनि श्री विमलसागरजी म.सा. ने भी इस ज्ञान यात्रा में हर तरह का सहयोग देते हुए कार्य को गति प्रदान की।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहशील व्यक्तित्व के नायक, छत्तीस गुणों के धारक, युग प्रभावक पूज्य कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. के चरण कमलों में, जिनकी असीम कृपा से इस शोध कार्य में नवीन दिशा प्राप्त हुई। आप श्री के विद्वद् शिष्य पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. द्वारा प्राप्त दिशानिर्देश कार्य पूर्णता में विशिष्ट आलम्बनभूत रहे।

कृतज्ञता ज्ञापन की इस कड़ी में विनयावनत हूँ शासन प्रभावक पूज्य राजयश सूरीश्वरजी म.सा. एवं मृदु व्यवहारी पूज्य वाचंयमा श्रीजी म.सा. (बहन महाराज) के चरणों में, जिन्होंने अहमदाबाद प्रवास के दौरान हृदयगत शंकाओं का सम्यक समाधान किया।

मैं भावप्रणत हूँ संयम अनुपालक, जग वल्लभ, नव्य अन्वेषक पूज्य आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से जिज्ञासाओं को उपशांत किया एवं अचलगच्छ परम्परा सम्बन्धी सूक्ष्म विधानों के रहस्यों से अवगत करवाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के स्वर्ण पुरुष, श्रुत सागर के गूढ़

अन्वेषक, कुशल अनुशास्ता, आचार्य श्री महाप्रज्ञजी एवं आचार्य श्री महाश्रमणजी के पद पंकजों में, आप श्री की सृजनात्मक संरचनाओं के माध्यम से यह कार्य अथ से इति तक पहुँच पाया है।

इसी क्रम में मैं नतमस्तक हूँ शासन उन्नायक, संघ प्रभावक, त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. के चरण पुंज में, जिन्होंने यथायोग्य सहायता देकर कार्य पूर्णाहुति में सहयोग दिया।

मैं श्रद्धाप्रणत हूँ शासक प्रभावक, क्रान्तिकारी संत श्री तरुणसागरजी म.सा. के चरण सरोज में, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रमों में भी मुझे अपना अमूल्य समय देकर यथायोग्य समाधान दिए।

मैं अंत:करण पूर्वक आभारी हूँ शासन प्रभावक, मधुर गायक प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं प्रखर वक्ता प.पू. सम्यकरत्न सागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर समय समुचित समस्याओं का समाधान देने में रुचि एवं तत्परता दिखाई। सच कहूं तो

जिनके सफल अनुशासन में, वृद्धिंगत होता जिनशासन।
माली बनकर जो करते हैं, संघ शासन का अनुपालन॥
कैलास गिरी सम जो करते रक्षा, भौतिकता के आंधी तूफानों से।
अमृत पीयूष बरसाते हरदम, मणि अपने शांत विचारों से॥
कर संशोधन किया कार्य प्रमाणित, दिया सद्ग्रन्थों का ज्ञान।
कीर्तियश है रत्न सम जग में, पद्म कृपा से किया ज्ञानामृत पान॥
सकल विश्व में गूंज रहा है, राजयश जयंतसेन का नाम।
गुणरत्न की तरुण स्फूर्ति से, महाप्रज्ञ बने श्रमण वीर समान॥

इस श्रुत गंगा में चेतन मन को सदा आप्लावित करते रहने की परोक्ष प्रेरणा देने वाली, जीवन निर्मात्री, अध्यात्म गंगोत्री, आशु कवयित्री, चौथे कालखण्ड में जन्म लेने वाली भव्य आत्माओं के समान प्राज्ञ एवं ऋजुस्वभावधारिणी, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. के पाद-प्रसूनों में अनन्तानन्त वंदन करती हूँ, क्योंकि यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उन्हीं के कृपाशीष की फलश्रुति है अत: उनके पवित्र चरणों में पुनश्च श्रद्धा के पुष्प अर्पित करती हूँ।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में मैं आस्था प्रणत हूँ वात्सल्य वारिधि, महतरा पद विभूषिता पूज्या विनिता श्रीजी म.सा., पूज्या प्रवर्त्तिनी चन्द्रप्रभा

श्रीजी म.सा., स्नेह पुंज पूज्य कीर्तिप्रभा श्रीजी म.सा., ज्ञान प्रौढ़ा पूज्य दिव्यप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पूज्य चन्द्रकलाश्रीजी म.सा., मरुधर ज्योति पूज्य मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पूज्य मनोहर श्रीजी म.सा., मंजुल स्वभावी पूज्य सुलोचना श्रीजी म.सा., विद्या वारिधि पूज्य विद्युतप्रभा श्रीजी म.सा. आदि सभी पूज्यवर्य्याओं के चरणों में, जिनकी मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाने एवं लक्ष्य प्राप्ति में सेतु का कार्य किया।

गुरु उपकारों को स्मृत करने की इस वेला में अथाह श्रद्धा के साथ कृतज्ञ हूँ त्याग-तप-संयम की साकार मूर्ति, श्रेष्ठ मनोबली, पूज्या सज्जनमणि श्री शशिप्रभा श्रीजी म.सा. के प्रति, जिनकी अन्तर प्रेरणा ने ही मुझे इस महत् कार्य के लिए कटिबद्ध किया और विषम बाधाओं में भी साहस जुटाने का आत्मबल प्रदान किया। चन्द शब्दों में कहूँ तो

आगम ज्योति गुरुवर्य्या ने, ज्ञान पिपासा का दिया वरदान।
अनायास कृपा वृष्टि ने जगाया, साहस और अंतर में लक्ष्य का भान।।
शशि चरणों में रहकर पाया, आगम-ग्रन्थों का सुदृढ़ ज्ञान।
स्नेह आशीष पूज्यवर्य्याओं का, सफलता पाने में बना सौपान।।

कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर मैं अपनी समस्त गुरु बहिनों का भी स्मरण करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरे लिए सदभावनाएँ ही संप्रेषित नहीं की, अपितु मेरे कार्य में यथायोग्य सहयोग भी दिया।

मेरी निकटतम सहयोगिनी ज्येष्ठ गुरुबहिना पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा., संयमनिष्ठा पू. जयप्रभा श्रीजी म.सा., सेवामूर्ति पू. दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा. जाप परायणी पू. तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., प्रवचनपटु पू. सम्यकदर्शना श्रीजी म.सा., सरलहृदयी पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., प्रसन्नमना पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., व्यवहार निपुणा शीलगुणा जी, मधुरभाषी कनकप्रभा श्रीजी, हंसमुख स्वभावी संयमप्रज्ञा श्रीजी, संवेदनहृदयी श्रुतदर्शना जी आदि सर्व के अवदान को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

साध्वीद्वया सरलमना **स्थितप्रज्ञाजी** एवं मौन साधिका **संवेगप्रज्ञाजी** के प्रति विशेष आभार अभिव्यक्त करती हूँ क्योंकि इन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य के दौरान व्यावहारिक औपचारिकताओं से मुक्त रखने, प्रूफ संशोधन करने एवं हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने में अद्वितीय भूमिका अदा की। साथ ही गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रही।

इसी के साथ अल्प भाषिणी सुश्री मोनिका बैराठी (जयपुर) एवं शान्त स्वभावी सुश्री सीमा छाजेड़ (मालेगाँव) को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान दोनों मुमुक्षु बहिनों ने हर तरह की सेवाएँ प्रदान की।

अन्तर्विश्वास भगिनी मंडल का, देती दुआएँ सदा मुझको।
प्रिय का निर्देशन और सम्यक बुद्धि, मुदित करे अन्तर मन को।
स्थित संवेग की श्रुत सेवाएँ, याद रहेगी नित मुझको।
इस कार्य में नाम है मेरा, श्रेय जाता सज्जन मण्डल को।।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन काल में जिनका मार्गदर्शन अहम् स्थान रखता है ऐसे जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन के निष्णात विद्वान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक, पितृ वात्सल्य से समन्वित, आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति अन्तर्भावों से हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ। आप श्री मेरे सही अर्थों में ज्ञान गुरु हैं। यही कारण है कि आपकी निष्काम करुणा मेरे शोध पथ को आद्यंत आलोकित करती रही है। आपकी असीम प्रेरणा, नि:स्वार्थ सौजन्य, सफल मार्गदर्शन और सुयोग्य निर्माण की गहरी चेष्टा को देखकर हर कोई भावविह्वल हो उठता है। आपके बारे में अधिक कुछ कह पाना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है।

दिवाकर सम ज्ञान प्रकाश से, जागृत करते संघ समाज
सागर सम श्रुत रत्नों के दाता, दिया मुझे भी लक्ष्य विराट।
मार्गदर्शक बनकर मुझ पथ का, सदा बढ़ाया कार्योल्लास।।

इस दीर्घ शोधावधि में संघीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए अनेक स्थानों पर अध्ययनार्थ प्रवास हुआ। इन दिनों में हर प्रकार की छोटी-बड़ी सेवाएँ देकर सर्व प्रकारेण चिन्ता मुक्त रखने के लिए शासन समर्पित सुनीलजी मंजुजी बोथरा (रायपुर) के भक्ति भाव की अनुशंसा करती हूँ।

अपने सद्भावों की ऊर्जा से जिन्होंने मुझे सदा स्फुर्तिमान रखा एवं दूरस्थ रहकर यथोचित सेवाएँ प्रदान की ऐसी स्वाध्याय निष्ठा, श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मृति की इस कड़ी में परमात्म भक्ति रसिक, सेवाभावी श्रीमती शकुंतलाजी चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू) मुणोत (कोलकाता) की अनन्य सेवा भक्ति एवं आत्मीय स्नेहभाव की स्मृति सदा मानस पटल पर बनी रहेगी।

इसी कड़ी में श्रीमति किरणजी खेमचंदजी बांठिया (कोलकाता) तथा श्रीमती नीलमजी जिनेन्द्रजी बैद (टाटा नगर) की निस्वार्थ सेवा भावना एवं मुद्राओं के चित्र निर्माण में उनके अथक प्रयासों के लिए मैं उनकी सदा ऋणी रहूँगी।

बनारस अध्ययन के दौरान वहाँ के भेलुपुर श्री संघ, रामघाट श्री संघ तथा निर्मलचन्दजी गांधी,कीर्तिभाई ध्रुव, अश्विन भाई शाह, ललितजी भंसाली, धर्मेन्द्रजी गांधी, दिव्येशजी शाह आदि परिवारों ने अमूल्य सेवाएँ दी, एतदर्थ उन सभी को सहृदय साधुवाद है।

इसी प्रवास के दरम्यान कलकत्ता, जयपुर, मुम्बई, जगदलपुर, मद्रास, बेंगलोर, मालेगाँव, टाटानगर, वाराणसी आदि के संघों एवं तत् स्थानवर्ती कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दुसाज, विमलचन्दजी महमवाल, महेन्द्रजी नाहटा, अजयजी बोथरा, पन्नालाल दुगड़, नवरतनमलजी श्रीमाल, मयूर भाई शाह, जीतेशमलजी, नवीनजी झाड़चूर, अश्विनभाई शाह, संजयजी मालू, धर्मचन्दजी बैद आदि ने मुझे अन्तप्रेरित करते हुए अपनी सेवाएँ देकर इस कार्य की सफलता का श्रेय प्राप्त किया है अतएव सभी गुरु भक्तों की अनुमोदना करती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

इस श्रेष्ठतम शोध कार्य को पूर्णता देने और उसे प्रामाणिक सिद्ध करने में L.D. Institute अहमदाबाद श्री कैलाशसागरसूरि ज्ञानमंदिर-कोबा, प्राच्य विद्यापीठ-शाजापुर, खरतरगच्छ संघ लायब्रेरी-जयपुर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-वाराणसी के पुस्तकालयों का अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ कोबा संस्थान के केतन भाई, मनोज भाई, अरूणजी आदि एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ओमप्रकाश सिंह को बहुत-बहुत धन्यवाद और शुभ भावनाएँ प्रेषित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को जनग्राह्य बनाने में जिनकी पुण्य लक्ष्मी सहयोगी बनी है उन सभी श्रुत संवर्धक लाभार्थियों का मैं अनन्य हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस बृहद शोध खण्ड को कम्प्यूटराईज्ड करने एवं उसे जन उपयोगी बनाने हेतु मैं अंतर हृदय से आभारी हूँ मितभाषी श्री विमलचन्द्रजी मिश्रा (वाराणसी) की, जिन्होंने इस कार्य को अपना समझकर कुशलता पूर्वक संशोधन किया। उनकी कार्य निष्ठा का ही परिणाम है कि यह कार्य आज साफल्य के शिखर पर पहुँच पाया है।

इसी क्रम में ज्ञान रसिक, मृदुस्वभावी श्रीरंजनजी कोठारी, सुपुत्र रोहितजी कोठारी एवं पुत्रवधु ज्योतिजी कोठारी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ कि उन्होंने जिम्मेदारी पूर्वक सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन एवं कंवर डिजाईनिंग में सजगता दिखाई तथा उसे लोक रंजनीय बनाने का प्रयास किया। शोध प्रबन्ध की समस्त कॉपियों के निर्माण में अपनी पुण्य लक्ष्मी का सदुपयोग कर श्रुत उन्नयन में निमित्तभूत बने हैं।

Last but not the least के रूप में उस स्थान का उल्लेख भी अवश्य करना चाहूँगी जो मेरे इस शोध यात्रा के प्रारंभ एवं समापन की प्रत्यक्ष स्थली बनी। सन् १९९६ के कोलकाता चातुर्मास में जिस अध्ययन की नींव डाली गई उसकी बहुमंजिल इमारत सत्रह वर्ष बाद उसी नगर में आकर पूर्ण हुई। इस पूर्णाहुति का मुख्य श्रेय जाता है श्री जिनरंगसूरि पौशाल के ट्रस्टी श्री विमलचंदजी महमवाल, कान्तिलालजी मुकीम, कमलचंदजी धांधिया, मणिलालजी दुसाज आदि को जिन्होंने अध्ययन के लिए यथायोग्य स्थान एवं सुविधाएँ प्रदान की तथा संघ समाज के कार्यभार से मुक्त रखने का भी प्रयास किया।

इस शोध कार्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गई हो अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सहयोगी बने हुए लोगों के प्रति कृतज्ञ भाव अभिव्यक्त न किया हो तो सहृदय मिच्छामि दुक्कडम् की प्रार्थी हूँ।

प्रतिबिम्ब इन्दू का देख जल में, आनंद पाता है बाल ज्यों।
आप्त वाणी मनन कर, आज प्रसन्नचित्त मैं हूँ।
सत्गुरु जनों के मार्ग का, यदि सत्प्ररूपण ना किया।
क्षमत्व हूँ मैं सुज्ञ जनों से, हो क्षमा मुझ गल्तियाँ।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : भिक्षा विधि का स्वरूप एवं उसके प्रकार 1-19

1. भिक्षाचर्या के विभिन्न अर्थ 2. भिक्षाचर्या के एकार्थक पर्यायवाची 3. भिक्षा प्राप्ति के प्रकार 4. भिक्षा गमन के प्रकार 5. भिक्षा के अन्य प्रकार 6. भिक्षा शुद्धि की नवकोटियाँ 7. भिक्षार्थ भ्रमण एवं भिक्षा सेवन करने वाले मुनि की उपमाएँ 8. आहार के प्रकार 9. आहार सेवन के प्रकार।

अध्याय-2 : भिक्षाचर्या की उपयोगिता एवं उसके रहस्य 20-36

1. आहार ग्रहण के उद्देश्य 2. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भिक्षाटन की प्रासंगिकता 3. भिक्षाचर्या सम्बन्धित विधि-विधानों के रहस्य • भिक्षाचर्या के लिए अभिग्रह धारण करना आवश्यक क्यों?

• उपाश्रय में प्रवेश करने से पूर्व पाँव प्रमार्जना क्यों? • मुनि शुद्ध और सात्विक आहार ही ग्रहण क्यों करें? • मुनि के लिए निर्दोष आहार का विधान क्यों? • प्रथम भिक्षाचर्या हेतु शुभ दिन आवश्यक क्यों? • भिक्षाटन से पूर्व उपयोग विधि किसलिए? • भिक्षाचर्या सम्बन्धी आलोचना दो बार क्यों? • आहार हेतु निमंत्रण क्यों दिया जाए? • भोजन मंडली की आवश्यकता क्यों? • श्रमण का आहार गुप्त क्यों? • आहार के लिए मध्याह्न काल श्रेष्ठ क्यों बताया गया? • दिगम्बर मुनि खड़े-खड़े एवं करपात्री में भोजन क्यों करते हैं? • एक चौके में एक से अधिक साधु एक साथ आहार ले सकते हैं? • चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है या नहीं? • एकल भोजी का आहार उत्कृष्ट कैसे?

अध्याय-3 : वर्तमान युग में भिक्षाचर्या का औचित्य एवं उसके नियमोपनियम 37-89

1. भिक्षाचर्या योग्य मुनि के लक्षण 2. शुद्ध पिण्ड का अधिकारी कौन? 3. आहार ग्रहण का समय 4. आहार के लिए उचित स्थान 5. आहार का

परिमाण क्या हो? 6. अवशिष्ट आहार की शास्त्रोक्त व्यवस्था 7. आहार और विवेक 8. आहार दान का अधिकारी कौन? 9. आहार दान सम्बन्धी सावधानियाँ 10. निरन्तराय आहार हेतु अपेक्षित सावधानियाँ 11. भिक्षाचर्या (गवेषणा) सम्बन्धी मर्यादाएँ।

12. भिक्षाचर्या से सम्बन्धित आवश्यक नियम • भिक्षागमन सम्बन्धी नियम • गृह प्रवेश सम्बन्धी नियम • भिक्षा स्थल सम्बन्धी नियम • भिक्षाचर्या सम्बन्धी सामान्य नियम।

13. भिक्षाचर्या के निषिद्ध-अनिषिद्ध स्थान • कुल स्थानों में जाने का निषेध • पर्व स्थानों में जाने का निषेध • उत्सव स्थानों में भिक्षार्थ जाने का निषेध • महाभोज में आहारार्थ जाने का निषेध • राजभवन में आहारार्थ जाने का निषेध • गोदोहन सम्बन्धी काल का निषेध • बंद द्वार गृहों में आहारार्थ प्रवेश का निषेध • भिक्षा योग्य-अयोग्य स्थान।

14. अतिरिक्त आहार ग्रहण सम्बन्धी निर्देश 15. दिगम्बर मुनि किन स्थितियों में आहार नहीं ले सकते? 16. 'निर्दोष आहार की प्राप्ति संभव है' इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष 17. आधुनिक युग में भिक्षाचर्या के औचित्य एवं अनौचित्य का प्रश्न 18. आहार की शुद्धता और औद्देशिकता का प्रश्न।

अध्याय-4 : आहार सम्बन्धित बयालीस दोषों के हेतु एवं परिणाम 90-171

1. उद्गम के सोलह दोष 2. उत्पादना के सोलह दोष 3. एषणा के दस दोष 4. मंडली सम्बन्धी पाँच दोष 5. आहार करने के प्रयोजन 6. आहार न करने के प्रयोजन 7. भिक्षाचर्या के अन्य दोष 8. आहार शुद्धि के अभाव में लगने वाले दोष 9. गोचरचर्या सम्बन्धी आलोचना में लगने वाले दोष।

अध्याय-5 : भिक्षाचर्या की विधि एवं उपविधियाँ 172-196

1. भिक्षागमन से पूर्व करने की विधि 2. भिक्षा गमन विधि 3. गोचरचर्या के पश्चात उपाश्रय में आकर करने योग्य विधि 4. भिक्षा सम्बन्धी आलोचना विधि 5. आहार रखने की विधि।

6. आहार दिखलाने की विधि 7. द्वितीय कायोत्सर्ग विधि 8. स्वाध्याय एवं उसके प्रयोजन 9. आहारार्थी मुनि के प्रकार 10. आहार करने की विधि

11. आहार के समय खड़े होने की विधि 12. आहार भोग की आपवादिक विधि 13. विधि पूर्वक आहार करने के लाभ 14. सात्विक आहार का फल 15. पात्र धोने की विधि 16. परिष्ठापनीय आहार और परिष्ठापन विधि 17. प्रचलित परम्पराओं में भिक्षाचर्या विधि।

अध्याय-6 : भिक्षाचर्या का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अनुसंधान **197-222**

1. भिक्षाचर्या विधि की ऐतिहासिक अवधारणा 2. तुलनात्मक विवेचन 3. आहार के सैंतालीस दोषों का तुलनात्मक चार्ट।

अध्याय-7 : उपसंहार **223-224**

• सैंतालीस दोष सम्बन्धी कथाओं की विषय सूची **225-255**

1. उद्गम दोष : लड्डुकप्रियकुमार कथानक 2. आधाकर्म : पानक दृष्टान्त 3. द्रव्यपूति : गोबर दृष्टान्त 4. क्रीतकृत दोष : मंख दृष्टान्त 5. लौकिक प्रामित्य दोष : भगिनी दृष्टान्त 6. परिवर्तित दोष : लौकिक दृष्टान्त 7. अभ्याहृत दोष : मोदक दृष्टान्त 8. मालापहृत दोष : भिक्षु दृष्टान्त 9. आच्छेद्य दोष : गोपालक-दृष्टान्त 10. अनिसृष्ट दोष : लड्डुक-दृष्टान्त 11. धात्री दोष : संगमसूरि और दत्त कथानक 12. दूती दोष : धनदत्त कथा 13. निमित्त दोष : ग्रामभोजक दृष्टान्त 14. चिकित्सा दोष : सिंह दृष्टान्त 15. क्रोधपिण्ड : क्षपक दृष्टान्त 16. मानपिण्ड : सेवई दृष्टान्त 17. मायापिण्ड दोष : आषाढ़भूति कथानक 18. लोभपिण्ड दोष : सिंहकेशरक मोदक दृष्टान्त 19. विद्या प्रयोग दोष : भिक्षु-उपासक का कथानक 20. मंत्र प्रयोग दोष : मुरूण्ड राजा एवं पादलिप्तसूरि कथानक 21. चूर्ण प्रयोग दोष : क्षुल्लकद्वय एवं चाणक्य कथानक 22. योग प्रयोग दोष : कुलपति एवं आर्य समित कथानक 23. मूलकर्म प्रयोग दोष : विवाह दृष्टान्त 24. छर्दित दोष : मधुबिन्दु दृष्टान्त 25. द्रव्य ग्रासैषणा दोष : मत्स्य दृष्टान्त।

सहायक ग्रन्थ सूची **256-260**

अध्याय-1

भिक्षा विधि का स्वरूप एवं उसके प्रकार

भिक्षाचर्या, मुनि जीवन का एक आवश्यक अंग है। जैन श्रमण गृहस्थ से आहार आदि की याचना कर अपनी उदर पूर्ति करता है। यह याचना विधि भिक्षा वृत्ति कहलाती है। भगवान महावीर की परम्परा के साधु-साध्वी अपने जीवन का निर्वाह भिक्षा वृत्ति के माध्यम से ही करते हैं। इसीलिए उन्हें 'भिक्षु' कहा गया है। श्रमण का एक अपर नाम भिक्षु भी है। दशवैकालिक निर्युक्ति में 'भिक्षु' का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि जो आठ प्रकार के कर्मों का भेदन करने में संलग्न है, वह भिक्षु है तथा जिसकी आजीविका का साधन केवल भिक्षा ही है, वह भिक्षु है।[1]

उक्त परिभाषा में दूसरा अर्थ 'याचक' से सम्बन्धित है। यद्यपि जैन मुनि भी याचना से उदर पूर्ति करता है किन्तु उसके द्वारा भिक्षा की प्राप्ति केवल जीवन निर्वाह एवं संयम साधना के लिए की जाती है।

इस प्रकार जैन मुनि आहार, वस्त्र, पात्र, वसति आदि आवश्यक वस्तुएँ याचना से ही प्राप्त करता है। इसी याचना विधि को भिक्षा विधि कहते हैं।

भिक्षाचर्या के विभिन्न अर्थ

भिक्षा विधि का प्रथम चरण भिक्षाचर्या है। भिक्षाचर्या का सीधा सा अर्थ है- भिक्षा के लिए गमन या परिभ्रमण करना। 'भिक्षा' शब्द में याचनार्थक भिक्ष् धातु और स्त्रीवाचक अ + टाप् प्रत्यय जुड़े हुए हैं तथा 'चर्या' शब्द में गत्यार्थक चर् धातु और कृदन्त यत् + टाप् प्रत्यय तथा स्त्रीवाचक का संयोग है। इस प्रकार भिक्षा = याचना करना, चर्या = गमन करना अर्थात आहार प्राप्ति हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करना भिक्षाचर्या है।

दूसरे अर्थ के अनुसार गोचरचर्या एवं एषणा सम्बन्धी नियमों तथा विविध अभिग्रहों के द्वारा भिक्षा वृत्ति करना भिक्षाचर्या है। तीसरे अर्थ के अनुसार एषणा सम्बन्धी नियमों एवं विविध अभिग्रहों का पालन करते हुए भिक्षा वृत्ति करना भिक्षाचर्या है। इसे गोचरचर्या भी कहते हैं।

भिक्षाचर्या के एकार्थवाची

जैन आगमों में भिक्षा वृत्ति के लिए गोचरी, माधुकरी, कापोती वृत्ति, उञ्छवृत्ति, एषणा, पिण्डैषणा आदि शब्दों का भी उल्लेख है। इन एकार्थवाची शब्दों का सामान्य वर्णन इस प्रकार है–

1. गोचरी– गो=गाय, चर=घूमना, चर्या-विशेष नियम पूर्वक प्रवृत्ति करना अर्थात गाय की तरह घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा प्राप्त करना गोचरचर्या है।

उत्तराध्ययन टीका के अनुसार गाय की भाँति विचरण करते हुए उच्च-नीच कुलों से अल्प मात्रा में निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना गोचरचर्या है। इसके लिए गोचराग्र शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। जिस प्रकार गाय चरती हुई यहाँ-वहाँ थोड़ी-थोड़ी घास ही ग्रहण करती है, कहीं से भी सम्पूर्ण घास नहीं खाती है, उसी तरह मुनि भी परिभ्रमण करते हुए गृहस्थों के यहाँ से थोड़ा-थोड़ा भोजन प्राप्त करता है अत: उसकी भिक्षावृत्ति गोचरी कहलाती है।[2]

इसी तरह जैसे गाय चारे का अग्रभाग ही खाती है, उसे समूल से नष्ट नहीं करती वैसे ही मुनि भी एक ही घर से पूरा आहार नहीं लेता, अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता है। इसलिए उसे गोचराग्र भी कहा जाता है।[3]

2. माधुकरी वृत्ति– मधुकर शब्द भ्रमर का पर्यायवाची है। मधुकर की भाँति जीवन का निर्वाह करना माधुकरी वृत्ति कहलाता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है जिस प्रकार भ्रमर पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता हुआ किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है। उसी प्रकार श्रमण नाना घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेता हुआ किसी एक गृहस्थ पर भारभूत न होकर स्वयं की उदरपूर्ति कर लेता है। इसका तात्पर्य है कि मुनि प्रत्येक घर से उतना ही आहार लेता है कि गृहस्थ को अपने लिए दुबारा भोजन बनाना न पड़े।[4]

3. कापोती वृत्ति– कापोती वृत्ति का अर्थ है- कबूतर की तरह आजीविका का निर्वहन करना। जिस प्रकार कपोत धान्य कण आदि को चुगते समय नित्य सशंक रहता है, उसी प्रकार भिक्षाचरी मुनि एषणा आदि दोषों के प्रति सशंक रहे अर्थात गवेषणा करते हुए भी किसी प्रकार का दोष न लग जाए इस हेतु पूर्ण सचेत रहे।[5]

4. उञ्छ वृत्ति– उञ्छ का अर्थ भिक्षा है। मुनि, जीवन यापन के लिए सभी तरह के घरों से और अपरिचित कुलों से सामूहिक भिक्षा प्राप्त करें।[6]

यहाँ सामूहिक भिक्षा से तात्पर्य है कि मुनि समभाव की दृष्टि रखते हुए अनेक घरों से भिक्षा प्राप्त करें। एक या दो-तीन घरों से ही भिक्षा ली जाये तो उसमें एषणा शुद्धि रहना कठिन है, इससे साधु की स्वाद लोलुपता भी बढ़ सकती है। अत: इन्द्रियनिग्रह एवं एषणा शुद्धि को लक्ष्य में रखते हुए सभी घरों से भिक्षा ग्रहण करें।

उच्च और नीच दोनों प्रकार के घरों से भिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य यह है कि मुनि धनिक, निर्धन, मध्यम सभी घरों से आहार लें। जो घर जाति से उच्च एवं धन से समृद्ध हों उनके यहाँ से ही भिक्षा न लें अपितु जो धन से समृद्ध न हों और जहाँ इच्छित आहार आदि भी न मिलता हो उन गृहों से भी आहार प्राप्त करें। इसी के साथ मार्ग में आ रहे नीच कुलों को छोड़कर या लांघकर उच्च कुलों में भिक्षार्थ न जाएं, इससे समत्व गुण का ह्रास एवं जिनशासन की निन्दा होती है। किन्तु घृणित कार्य करने वाले कुलों में भिक्षार्थ न जाएं। दशवैकालिकचूर्णि के मतानुसार उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा प्राप्त करना अज्ञातउंछ है।[7]

5. मृगचर्या वृत्ति– उत्तराध्ययनसूत्र में साधु की भिक्षाचर्या को मृगचर्या से उपमित किया गया है। यह भी भिक्षाचर्या का एक पर्याय है। जैसे मृग अकेला अनेक स्थानों पर विचरण करते हुए अपनी उदरपूर्ति कर जीवन निर्वाह करता है वैसे ही मुनि गोचरी के लिए अनेक घरों में जाएं। यदि आहार प्राप्त न हो तो किसी की निन्दा नहीं करें और न किसी की अवज्ञा करें।[8]

6. अदीन वृत्ति– दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जैन मुनि अनासक्त भाव पूर्वक आहार प्राप्त करें, भिक्षा न मिले तो खेद न करें और स्वादिष्ट भोजन मिलने पर उसमें मूर्च्छित न हों।[9]

इस तरह जैन साधु गाय की तरह सभी प्रकार के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार प्राप्त करें। यदि भिक्षा न मिले तो किसी के प्रति रोष प्रकट न करें और भिक्षा मिलने पर किसी की प्रशंसा न करें।

भिक्षाचर्या के अर्थ में एषणा, गवेषणा शब्द भी प्रचलित हैं।

एषणा का सामान्य अर्थ

जैन धर्म में एषणा शब्द गवेषणा के अर्थ में प्रयुक्त है। निर्दोष वस्त्र-पात्र-वसति आदि की खोज करना एषणा कहलाता है।

एषणा का सामान्य अर्थ है खोज करना, शोध करना, संशोधन करना। एषणा का शास्त्रीय अर्थ है– निर्दोष आहार, पानी आदि की गवेषणा करना। जैन मुनि की आचार संहिता के अनुसार जो वस्तु ग्राह्य एवं विशुद्ध हो उसकी खोज करना अथवा अच्छी तरह निरीक्षण, परीक्षण आदि करके आहारादि प्राप्त करना एषणा कहलाता है। मुनि की साधना के लिए उपयोगी उपकरण आदि भी एषणा पूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

एषणा के प्रकार

एषणा तीन प्रकार की कही गई है– गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा।

1. गवेषणा– सोलह उद्गम सम्बन्धी एवं सोलह उत्पादना सम्बन्धी ऐसे बत्तीस दोषों को टालकर शुद्ध आहार-पानी की खोज करना गवेषणा है।

2. ग्रहणैषणा– शंकित आदि दस दोषों को टालकर शुद्ध आहार आदि ग्रहण करना ग्रहणैषणा है।

3. ग्रासैषणा– गवेषणा और ग्रहणैषणा द्वारा प्राप्त शुद्ध आहारादि का सेवन करते समय मांडली के पाँच दोषों का त्याग करना ग्रासैषणा है।[10]

उक्त तीन प्रकार की एषणा आहार से सम्बन्ध रखती है। यहाँ उपलक्षण से अन्य वस्तुओं का भी ग्रहण करना चाहिए। आहारादि सर्व प्रकार की वस्तुओं के शोधन, ग्रहण और उपभोग करने में संयम पूर्वक प्रवृत्ति करना एषणा समिति है।

इसका सार यह है कि मुनि आहार, उपधि और शय्या सम्बन्धित वस्तुएँ शोधन द्वारा ग्रहण करें, जैसे-तैसे ग्रहण न करें।

पिण्डैषणा का अर्थ– एषणा के तीनों प्रकारों का समूह वाचक नाम पिण्डैषणा है। पिण्ड-आहार जनित पदार्थों का समूह, एषणा-खोज करना यानी निर्दोष आहार आदि की खोज करना, गवेषणा द्वारा प्राप्त शुद्ध आहार को ग्रहण करना तथा उसका उपभोग करना पिण्डैषणा कहलाता है।

पिण्ड का अर्थ– जैन मत में 'पिण्ड' शब्द आहार के सम्बन्ध में प्रयुक्त है। मुनियों की आहार विशुद्धि को 'पिण्ड विशुद्धि' कहा गया है। सामान्यत: एक जाति या अनेक जाति की वस्तुओं का एकत्रित किया गया समुदाय पिण्ड कहलाता है। आहार विभिन्न सामग्रियों से निर्मित होता है अत: यहाँ 'पिण्ड' शब्द का प्रयोग सार्थक है। पिण्डनिर्युक्ति में पिण्ड के आठ पर्यायवाची कहे गये हैं।[11]

प्रकारान्तर से पिण्ड के छः प्रकार भी वर्णित हैं।[12] जैन मुनि की आहार विधि को समग्र रूप से प्रस्तुत करने वाला यह एक मात्र ग्रन्थ है अतः इसका नाम 'पिण्डनिर्युक्ति' है।

भिक्षा प्राप्ति के प्रकार

जैन साहित्य में 'भिक्षाविधि' का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उनमें भिक्षा प्राप्ति एवं भिक्षा ग्रहण के अनेक उपाय बताये गये हैं।

सर्वप्रथम आचारांग सूत्र में भिक्षा प्राप्त करने के सात प्रकार उल्लिखित हैं। इसका तात्पर्य है कि मुनि इन सात प्रकारों के अनुसार भिक्षा ग्रहण करें। इन्हें 'पिण्डैषणा' कहा गया है।

पिण्डैषणा सम्बन्धी सात प्रकार

पिण्डैषणा (आहार ग्रहण) के सात प्रकार निम्न हैं–

1. **संसृष्टा–** खाद्य वस्तुओं से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।
2. **असंसृष्टा –** अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना।
3. **उद्धृता–** पकाने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना।
4. **अल्पलेपा–** अल्पलेप वाली अर्थात चना, चिवड़ा आदि रूखी वस्तु लेना।
5. **अवगृहीता–** खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।
6. **प्रगृहीता–** परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकाला हुआ आहार लेना।
7. **उज्झितधर्मा–** जो भोजन मन पसन्द का न होने से परित्यक्त किया गया हो उसे लेना।[13]

इसी तरह पानी ग्रहण करने से सम्बन्धित भी सात प्रकार जानने चाहिए। इन्हें पानैषणा कहा गया है।[14]

इस प्रकार एषणा दो प्रकार की होती है– सात प्रकार से आहार ग्रहण करना पिण्डैषणा है और सात प्रकार से पानी ग्रहण करना पानैषणा है।

अभिग्रह सम्बन्धी तीस प्रकार

औपपातिक सूत्र में अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से भिक्षा प्राप्त करने के निम्न तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं।[15]

1. द्रव्याभिग्रह चरक– द्रव्यों की मर्यादा का अभिग्रह करके आहार लेना।

2. क्षेत्राभिग्रह चरक – ग्रामादि क्षेत्रों में से किसी एक क्षेत्र का अभिग्रह करके आहार लेना।

3. कालाभिग्रह चरक– दिन के अमुक भाग में आहार लेने का अभिग्रह करना।

4. भावाभिग्रह चरक– अमुक वय या वर्ण वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना या अभिग्रह पूर्वक आहार लेना।

5. उत्क्षिप्त चरक– किसी बर्तन में भोजन निकालने वाले के हाथ से आहार लेने का अभिग्रह करना।

6. निक्षिप्त चरक– किसी बर्तन में भोजन डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

7. उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक– किसी एक बर्तन में से भोजन लेकर दूसरे बर्तन में डालने वाले व्यक्ति से आहार लेने का अभिग्रह करना।

8. निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक– किसी एक बर्तन में निकाले गये भोजन को दूसरे बर्तन में डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

9. परिवेष्यमाण चरक– किसी के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।

10. संहियमाण चरक– थाली में निकाले हुए भोजन को अन्य बर्तन में लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

11. उपनीत चरक– आहार की प्रशंसा करते हुए देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

12. अपनीत चरक– आहार की निन्दा करते हुए देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

13. उपनीत-अपनीत चरक– जो आहार की पहले प्रशंसा करके बाद में निन्दा करे, उससे आहार लेने का अभिग्रह करना।

14. अपनीत-उपनीत चरक– जो आहार की पहले निन्दा करके बाद में प्रशंसा करे, उससे आहार लेने का अभिग्रह करना।

15. संसृष्ट चरक– लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना।

16. असंसृष्ट चरक– अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना।[16]

17. तज्जात संसृष्ट चरक– देने योग्य पदार्थ से खरड़े हुए हाथ, पात्र या चम्मच द्वारा दिये जाने वाले आहार को लेने का अभिग्रह करना।

18. अज्ञात चरक– अज्ञात स्थान से आहार लेने का अभिग्रह करना।

19. मौन चरक– मौन धारण किये हुए व्यक्ति से आहार लेने का अभिग्रह करना।

20. दृष्ट लाभिक– सामने रखा हुआ या दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।

21. अदृष्ट लाभिक– सामने नहीं दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।

22. पृष्ट लाभिक– 'तुम्हें क्या चाहिए' इस प्रकार पूछकर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

23. अपृष्ट लाभिक– बिना पूछे देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

24. भिक्षालाभिक– 'मुझे भिक्षा दो' ऐसा कहने पर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

25. अभिक्षा लाभिक– 'भिक्षा दो' आदि कुछ भी कहे बिना स्वत: देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

26. अन्नग्लायक– आज का बना हुआ नहीं लेने का अभिग्रह करना।

27. औपनिधिक– दाता के समीप में रखा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।

28. परिमित पिण्ड पातक– परिमित द्रव्यों को लेने का अभिग्रह करना।

29. शुद्ध एषणिक– एषणा में किसी प्रकार का अपवाद सेवन न करने का अभिग्रह करना।

30. संख्या दत्तिक– दत्ति का परिमाण निश्चित करके आहार लेने का अभिग्रह करना।

स्पष्ट है कि मुनि को उक्त तीस प्रकारों में से किसी भी अभिग्रह को धारण कर भिक्षाटन करना चाहिए, क्योंकि अभिग्रह पूर्वक प्राप्त की गई भिक्षा उत्कृष्ट

कहलाती है। इनमें जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट तीनों कोटि के अभिग्रहों का समावेश है अत: इन्हें प्रतिदिन ग्रहण किया जा सकता है।

अभिग्रह सम्बन्धी अन्य चार प्रकार

भिक्षा ग्रहण से सम्बन्धित विशिष्ट प्रतिज्ञा धारण करना अभिग्रह कहलाता है। मुख्य रूप से अभिग्रह चार प्रकार के होते हैं। अभिग्रह युक्त भिक्षा ग्रहण से अनन्त गुणा निर्जरा होती है इसलिए जब मुनि भिक्षाचर्या के लिए प्रस्थान करें तो अभिग्रह अवश्य लें।

1. द्रव्य अभिग्रह – आज मैं अमुक लेपकृत राब आदि या अमुक अलेपकृत कठोल खाखरा आदि द्रव्य ही लूंगा अथवा कड़छी, भाला आदि अमुक वस्तु से देने पर ही लूंगा–ऐसा नियम करना द्रव्य अभिग्रह है।

2. क्षेत्र अभिग्रह – गत्वा आदि आठ प्रकार की गोचर भूमियों में से किसी एक के संकल्प पूर्वक भिक्षा लूंगा, अथवा गोचर भूमियों के प्रमाणानुसार घूमते हुए जो मिलेगा वही लूंगा, अथवा अमुक स्थान में खड़े होकर बहरायेगा तो ही लूंगा, अथवा अपने गाँव या दूसरे गाँव में इतने घरों में से जो मिलेगा वही लूंगा-ऐसा नियम करना क्षेत्र अभिग्रह है।

3. काल अभिग्रह – भिक्षाकाल से पूर्व, भिक्षाकाल के मध्य या भिक्षाकाल बीतने के पश्चात भिक्षार्थ जाने का नियम करना काल अभिग्रह है।

4. भाव अभिग्रह – अमुक अवस्था में भिक्षा लूंगा, जैसे अमुक थाली, तपेली आदि में लिया गया आहार ही लूंगा अथवा जो दाता गाता हुआ, रोता हुआ, बैठा हुआ, खड़ा हुआ, पीछे हटता हुआ, सम्मुख आता हुआ, आभूषणों से अलंकृत हुआ अथवा अनलंकृत हुआ देगा तो ही लूंगा। इनमें से किसी भी प्रकार के संकल्प पूर्वक आहार लेना भाव अभिग्रह है।[17]

उक्त चारों अभिग्रह तीर्थंकरों द्वारा भी आचरित होते हैं। जैसा कि भगवान महावीर ने कौशाम्बी में पौष मास के पहले दिन कुछ अभिग्रह धारण किये थे।

द्रव्यत: – सूपड़े के कोने में उबले हुए उड़द हों।

क्षेत्रत: – दाता का एक पैर देहली के भीतर और एक पैर देहली के बाहर हो।

कालत: – भिक्षा का काल बीत चुका हो।

भावतः – राजकुमारी दासत्व स्वीकार की हुई, हाथ-पैरों में बेड़ियाँ, मुंडित सिर, आँखों में अश्रुधारा और तीन दिन की भूखी हो – ऐसी कन्या के हाथ से भिक्षा लूंगा।

भगवान महावीर द्वारा गृहीत यह अभिग्रह पाँच महीना और पच्चीस दिन बीतने पर चन्दनबाला के हाथ से पूर्ण हुआ।[18]

दिगम्बर परम्परानुसार भिक्षार्थी मुनि को निम्न संकल्पों या अभिग्रहों को धारण करके आहारार्थ जाना चाहिए।

1. गोचर प्रमाण – घरों की संख्या का परिमाण करके गमन करना। **2. दाता संकल्प** – वृद्ध, युवा या बालक आदि के द्वारा प्रतिग्रह (पड़िगाहन) किया जायेगा, तभी उसके यहाँ रुकूंगा, अन्यथा नहीं। **3. भाजन संकल्प**– कांसा, पीतल आदि धातु के पात्र या मिट्टी के पात्र द्वारा भिक्षा दी जायेगी तो स्वीकार करूंगा, अन्यथा नहीं। **4. अशन संकल्प** – चावल, सत्तू आदि विविध प्रकार की भोज्य सामग्री में से अमुक पदार्थ मिलेगा तो आहार ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।[19]

भगवती आराधना में भिक्षाटन सम्बन्धी विविध संकल्पों का निर्देश किया गया है। कुछ अभिग्रहों का स्वरूप निम्न प्रकार है[20]–

1. गत्वा प्रत्यागता – जिस मार्ग से पहले गया था, उसी से लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

2. ऋजु वीथि – सीधे मार्ग से गमन करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

3. गो मूत्रिका – गो मूत्रिका के आकार की भाँति बायीं ओर से दायीं तरफ के घरों और दायीं ओर से बायीं तरफ के घरों में जाते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

4. पेटा – वस्त्र आदि रखने योग्य चौकोर सन्दूक की तरह बीच के घरों को छोड़कर चारों ओर समान श्रेणी में स्थित घरों में भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

5. शंबूकावर्त्त – शंख के आवर्त्त की तरह भिक्षाटन करते हुए आहार प्राप्त हुआ तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

6. पतंगवीथी – पक्षियों की पंक्ति के समान अनियत क्रम से भ्रमण

करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

7. गोचरी – गाय के अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

8. पाटक – पाटक या मुहल्ला में मिली हुई भिक्षा ग्रहण करूंगा, अन्य स्थान की नहीं। इसमें एक या दो तीन मुहल्ला में प्रवेश करूँगा, ऐसा संकल्प किया जाता है।

9. नियंसण – अमुक घर के परिकर से लगी हुई भूमि पर मिली हुई भिक्षा स्वीकार करूँगा, घर में प्रवेश नहीं करूँगा।

10. भिक्षा परिमाण – एक या दो बार में जितना दिया जायेगा उतना ही ग्रहण करूँगा, अधिक नहीं।

11. दातृ ग्रास परिमाण – एक या दो दाता द्वारा दी गई भिक्षा अथवा दाता द्वारा दी जाने वाली भिक्षा में से इतने ग्रास ही ग्रहण करूँगा, ऐसा परिमाण करना।

12. पिण्डैषणा – पिण्ड रूप भोजन ही ग्रहण करूँगा।

13. पानैषणा – पीने योग्य पदार्थ ही ग्रहण करूँगा।

इसी प्रकार यवागू, पुग्गलया – चना, मसूर आदि धान्य, संसृष्ट - शाक, कुल्माष आदि से मिला हुआ, फलिहा – बीच में भात और उसके चारों ओर शाक रखा हो वैसा आहार, परिखा– बीच में अन्न और उसके चारों ओर व्यंजन रखा हो वैसा आहार, पुष्पोपहित-व्यंजनों के मध्य पुष्पावली के समान चावल रखे हों, शुद्धगोपहित – अन्नादि से रहित शाक-व्यंजन आदि। लेपकृत – जिससे हाथ खरड़े जाए वैसा भोजन, अलेपकृत– जिसके द्वारा हाथ लिप्त न हो वैसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार के संकल्प पूर्वक आहार के लिए गमन करना चाहिए।

भिक्षा गमन के प्रकार

जैनाचार्यों ने भिक्षाटन करने की छः या आठ पद्धतियाँ बतलाई हैं जो क्षेत्र अभिग्रह से सम्बन्धित हैं। अभिग्रहधारी मुनि को इन कोटियों में से किसी एक के संकल्पपूर्वक आहार प्राप्त करना चाहिए। अष्टविध कोटियों का सामान्य वर्णन इस प्रकार है[21]–

1. पेटा – पेटी की भाँति बीच के घरों को छोड़कर गाँव की चारों दिशाओं

के चारों कोनों में समान श्रेणी से घूमते हुए जो घर आते हैं उनसे भिक्षा मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं– इस संकल्प से भिक्षा प्राप्त करना पेटा भिक्षाचरी है।

2. अर्धपेटा – चौकोर कल्पित गाँव की दो दिशाओं में स्थित पंक्ति बद्ध घरों में जाते हुए मुझे भिक्षा मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं– इस संकल्प से भिक्षा प्राप्त करना अर्धपेटा भिक्षाचर्या है।

3. गो-मूत्रिका – गो-मूत्रिका की तरह बल खाते हुए बायीं पंक्ति के घरों से दायीं पंक्ति के घरों में और दायीं पंक्ति के घरों से बायीं पंक्ति के घरों में जाते हुए जो भिक्षा मिलेगी वही लूंगा, अन्य घरों से नहीं– इस संकल्प के साथ भिक्षाटन गो-मूत्रिका है।

4. पतंगवीथिका – जिस प्रकार पतंगा अनियत क्रम से उड़ता है, उसी प्रकार अनियत क्रम से गमन करते हुए भिक्षा मिलेगी तो लूंगा, अन्यथा नहीं– इस संकल्पपूर्वक भिक्षाटन करना पतंगवीथिका है।

5. शम्बूकावर्त्ता – शंख के आवर्त्तों की तरह भिक्षाटन करना शम्बूकावर्त्ता कहलाता है। इस भिक्षा विधि के दो प्रकार हैं–

(i) आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता – शंख के नाभि क्षेत्र से प्रारंभ कर बाहर आने वाले आवर्त्त की तरह गाँव के मध्य भाग से भिक्षाटन करते हुए बाहरी भाग में आने तक के घरों में जो कुछ मिलेगा वही लूंगा– ऐसा संकल्प करना आभ्यन्तर शम्बूकावर्त्ता है।

(ii) बाह्य शम्बूकावर्त्ता – बाहर से भीतर जाने वाले शंख के आवर्त्त की भांति गाँव के बाहरी भाग से भिक्षाटन करते हुए भीतरी भाग में पहुँचने तक के घरों में जो मिलेगा वही लूंगा। इस संकल्प पूर्वक भिक्षाटन करना बाह्य शम्बूकावर्त्ता नाम की भिक्षाचर्या है।

6. आयत गत्वा-प्रत्यागता – उपाश्रय से निकलने के पश्चात सीधे चलते हुए मार्ग में किसी एक पंक्ति के प्रथम घर से लेकर अन्तिम घर तक में प्राप्त हुई भिक्षा को ग्रहण कर सीधे उपाश्रय में लौट आना, आयत गत्वा-प्रत्यागता नाम की भिक्षाचर्या है।

इन छह प्रकारों में शम्बूकावर्त्त के बाह्य और आभ्यंतर तथा आयत गत्वा प्रत्यागता के गत्वा और प्रत्यागता ऐसे दो-दो भेद करने पर आठ प्रकार होते हैं।[22]

भिक्षा के अन्य प्रकार

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक प्रकरण में भिक्षा के निम्नोक्त तीन प्रकार बतलाये हैं- 1. **दीन भिक्षा-** अनाथ, अपंग व्यक्तियों के द्वारा उनकी अपनी असमर्थता के कारण मांगकर खाना दीन भिक्षा है। 2. **पौरूषघ्नी भिक्षा-** जो लोग परिश्रम न करने की वजह से तथा आलस्य एवं अकर्मण्यता के कारण मांगकर खाते हैं, वह पौरूषघ्नी भिक्षा है। 3. **सर्व संपत्करी भिक्षा-** अहिंसक एवं संयमी मुनियों के द्वारा सहज रूप से प्राप्त निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना, सर्वसंपत्करी भिक्षा है।

इनमें तीसरा प्रकार सर्वोत्तम माना गया है, दूसरा प्रकार निन्दनीय है और पहला प्रकार लौकिक है, क्योंकि वे निर्धन आदि करुणा के पात्र होने से धर्म की अप्रतिष्ठा के जनक नहीं होते हैं।[23]

भिक्षा शुद्धि की नवकोटियाँ

जैनागमों में कहा गया है कि मुनि का आहार नव कोटि परिशुद्ध होता है। वे नवकोटियाँ निम्न हैं-

1. जैन मुनि आहार के लिए न स्वयं हिंसा करते हैं।
2. न दूसरों से हिंसा करवाते हैं।
3. न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करते हैं।
4. न स्वयं आहार पकाते हैं।
5. न दूसरों से आहार पकवाते हैं।
6. न आहार पकाने वाले का अनुमोदन करते हैं।
7. न स्वयं कुछ खरीदते हैं।
8. न दूसरों से कुछ खरीदवाते हैं।
9. न खरीदने वाले का अनुमोदन करते हैं।

इनमें प्रथम छः भेद अविशोधिकोटि के और अंतिम तीन भेद विशोधिकोटि के हैं। इन नौ कोटियों तथा उद्गम-उत्पादन-एषणा के दोषों से रहित शुद्ध आहार मुनि के लिए गाह्य है।

इस प्रकार नवकोटि से युक्त विशुद्ध आहार करने वाले मुनि सच्चे श्रमणत्व की पर्युपासना करते हैं।[24]

वर्तमान में भिक्षा की नवकोटिक परिशुद्धता न्यून होती जा रही है। उसमें

उपभोक्तावादी संस्कृति ने आहार की श्रेष्ठता को ही क्षत-विक्षत कर दिया है।

इस तरह भिक्षा की शुद्धता का प्रश्न अति जटिल हो गया है जिसके लिए गृहस्थ और मुनि दोनों जिम्मेदार हैं।

भिक्षार्थ भ्रमण एवं भिक्षा सेवन करने वाले मुनि की उपमाएँ

स्थानांग सूत्र के अनुसार भिक्षाजीवी मुनि घुन (काष्ठ भक्षक कीड़े) के समान चार तरह के होते हैं–

1. त्वक् + खाद– वृक्ष की ऊपरी छाल को खाने वाला घुन, इसी तरह नीरस, रुक्ष, अन्त-प्रान्त आहार करने वाला साधु।

2. छल्ली+खाद– छाल के भीतरी भाग को खाने वाला घुन, इसी तरह अलेप अर्थात स्वाद रहित आहार करने वाला साधु।

3. काष्ठ + खाद– काष्ठ को खाने वाला घुन, इसी तरह दूध, दही घृतादि से रहित आहार करने वाला साधु।

4. सार + खाद– काष्ट के मध्यवर्ती सार को खाने वाला घुन, इसी तरह दूध, दही, घृतादि से परिपूर्ण आहार करने वाला साधु।

इनमें प्रारम्भ के तीन स्तर के मुनि क्रमशः उत्कृष्टतम, उत्कृष्टतर एवं उत्कृष्ट है, अन्तिम भेद सामान्य है।[25]

स्थानांग सूत्र में भिक्षाचारी मुनि को मत्स्य की उपमा दी गई है। वे मत्स्य की भाँति चार प्रकार के होते हैं–

1. अनुस्रोतचारी– जल प्रवाह के अनुकूल चलने वाले मत्स्य की तरह उपाश्रय के निकटवर्ती गृहों एवं उस गली में स्थित घरों से भिक्षा लेने वाला साधु अनुस्रोतचारी कहलाता है।

2. प्रतिस्रोतचारी– जल प्रवाह के प्रतिकूल चलने वाले मत्स्य की भाँति वीथी के अन्त से लेकर उपाश्रय पर्यन्त घरों से भिक्षा लेने वाला साधु प्रतिस्रोतचारी कहलाता है।

3. अन्तचारी– जल प्रवाह के किनारे-किनारे चलने वाले मत्स्य की भांति नगर ग्रामादि के अन्त भाग में स्थित घरों से भिक्षा लेने वाला साधु अन्तचारी कहलाता है।

4. मध्यचारी– जल प्रवाह के मध्य में चलने वाले मत्स्य की तरह नगर स्थित मध्य गृहों से आहार लेने वाला साधु मध्यचारी कहलाता है।

अभिग्रह की अपेक्षा उक्त चारों प्रकार के मुनि प्रशंसनीय हैं।[26]

आगमकारों ने शारीरिक सामर्थ्य एवं धृति बल आदि की अपेक्षा भिक्षाचारी मुनि की तुलना चतुर्विध पक्षियों से भी की है-

1. निपतिता, न परिव्रजिता– कोई पक्षी अपने घोंसले से नीचे उतर सकता है, किन्तु शिशु होने से उड़ नहीं सकता। इसी तरह कोई मुनि भिक्षार्थ गमन तो करता है किन्तु रुग्ण आदि होने के कारण अधिक घूम नहीं सकता।

2. परिव्रजिता, न निपतिता– कोई पक्षी अपने घोंसले से उड़ सकता है, किन्तु भय प्रकृति वाला होने से नीचे नहीं उतरता। इसी तरह कोई मुनि भिक्षार्थ भ्रमण कर सकता है, किन्तु स्वाध्याय आदि में संलग्न रहने से भिक्षाटन नहीं कर सकता।

3. निपतिता भी, परिव्रजिता भी– कोई समर्थ पक्षी घोंसले से नीचे भी उतर सकता है और ऊपर भी उड़ सकता है। इसी तरह समर्थ मुनि भिक्षा के लिए निकलता भी है और घूमता भी है।

4. न निपतिता, न परिव्रजिता– पक्षी का बहुत छोटा बच्चा न घोंसले से नीचे उतर सकता है और न ऊपर उड़ सकता है। इसी तरह नवदीक्षित मुनि भिक्षा के लिए अकेले नहीं निकलते हैं और घूम भी नहीं सकते हैं।

इनमें तीसरा प्रकार उत्कृष्ट है। सामान्यतया सभी मुनियों को समर्थ होना चाहिए।[27]

आहार के प्रकार

मनुष्य का आहार चार प्रकार का होता है– 1. अशन - जो भूख मिटाता है वह अशन है जैसे-चावल, दाल आदि। 2. पान– जो दस प्रकार के प्राणों पर अनुग्रह करता है, उन्हें जीवन देता है वह पान या पेय है जैसे-जल, दूध, नीबू का पानी आदि। 3. खादिम - जिसे मुख विवर में स्वाद लेते हुए खाया जाता है वह खादिम है जैसे-फल, मेवा आदि। 4. स्वादिम - जो आस्वाद युक्त होता है और मुखवास के रूप में खाया जाता है वह स्वादिम है जैसे-लौंग, इलायची आदि।[28]

दिगम्बर के मूलाचार एवं अनगार धर्मामृत में चतुर्विध आहार के भेद-प्रभेदों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि भोज्य पदार्थों का यह विभाजन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है, द्रव्यार्थिक नय के विचार से सभी आहार अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप है।[29]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में आहार के उपर्युक्त प्रकारों को निम्न चार भागों में वर्गीकृत किया गया है–1. कर्माहारादि 2. खाद्यादि 3. कांजी आदि और 4. पानक आदि। इस वर्गीकरण में कौनसा आहार किसके अन्तर्भूत माना गया है स्पष्ट तालिका इस प्रकार है–[30]

आहार

1. कर्माहारादि	2. खाद्यादि	3. कांजी आदि	4. पानकादि
कर्माहार	अशन	कांजी	स्वच्छ
नोकर्माहार	पान	आचाम्ल	बहल
कवलाहार	खाद्य	बेलड़ी	अलेपकृत
लेप्याहार	लेह्य		ससिक्थ
ओजाहार	स्वाद्य		असिक्थ

मुनि सम्बन्धी आहार में विशेष रूप से उपयोगी अलेप, अल्पलेप आदि का स्वरूप निम्न प्रकार है–

अलेप– ओदन, मण्डक, सत्तू, कुल्माष, चवला, चना आदि।

अल्पलेप– बथुए आदि का शाक, यवागू, कोद्रव, तक्र-उल्लण, सूप, कांजी, तीमन (छाछ) आदि।

बहुलेप– दूध, दही, खीर, कट्टर (कड़ी में डाला गया घी का बड़ा) फाणित आदि।[31]

लेपकृत पानक–इक्षुरस, द्राक्ष पानी, दाडिम पानी आदि।

अलेपकृत पानक– तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, कांजी, ओसामन, गर्म जल, चावलों का धोवन आदि।[32]

आहार सेवन के प्रकार

दिगम्बर परम्परा के रयणसार, चारित्रसार एवं तत्वार्थवार्त्तिक आदि ग्रन्थों में आहार सेवन के निम्न पाँच प्रकार उल्लेखित हैं–

1. उदराग्नि प्रशमन– जितने आहार से उदर की अग्नि (क्षुधाग्नि) शान्त हो, उतना आहार ग्रहण करना उदराग्नि प्रशमन आहार है। इस कोटि का आहार करने से तपश्चर्या का अभ्यास होता है।

2. अक्षमृक्षण– बैलगाड़ी के पहियों का आधारभूत काष्ठ अक्ष कहलाता है। उसे तेलादि से मिश्रित स्निग्ध पदार्थ द्वारा लिप्त करना अक्षमृक्षण कहा जाता

है अथवा जैसे–बैलगाड़ी आदि वाहनों को सुगमता से चलाने के लिए उसके पहिए की धुरी पर ओगन (तेलादि स्निग्ध पदार्थ) लगाया जाता है वैसे ही शरीर को संयम रूपी धर्म का साधन बनाए रखने के प्रयोजन से आहार ग्रहण करना अक्षमृक्षण है।

3. श्वभ्रपूरण– जैसे गड्ढे को किसी भी कचरे से भरा जा सकता है वैसे ही पेट रूपी गड्ढे को सरस या नीरस जैसा भी आहार मिले, उससे भरना श्वभ्रपूरण है।

4. गोचरी– जिस तरह गाय की दृष्टि अलंकरणों से सज्जित युवती पर न होकर उसके द्वारा लायी गई घास पर रहती है उसी तरह मुनि को भी दाता या दात्री के वेश-भूषा का निरीक्षण न करते हुए उसके द्वारा दिए जाने वाले रुक्ष - स्निग्ध आदि निर्दोष भोजन पर दृष्टि को केन्द्रित रखना गोचरी वृत्ति है।

5. भ्रामरी– जैसे भौंरा फूलों को कष्ट न पहुँचाते हुए रसपान करता है वैसे ही गृहस्थ को कष्ट न देते हुए एवं उन पर भार रूप न बनते हुए परिमित आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है।[33]

आहार सेवन के अन्य प्रकार

स्थानांग सूत्र में उपहत यानी खाने के लिए लाया गया आहार तीन प्रकार का बताया है–

1. शुद्धोपहृत– खाने के लिए साथ में लाया हुआ लेप रहित भोजन यानी अल्पलेपा नाम की चौथी पिण्डैषणा।

2. फलिकोपहृत– खाने के लिए थाली में परोसा हुआ भोजन यानी अवगृहीता नाम की पाँचवीं पिण्डैषणा।

3. संसृष्टोपहृत– खाने के लिए हाथ में उठाया हुआ भोजन।[34]

अवगृहीता (परोसने के लिए रसोईघर या कोठार से निकाला हुआ) आहार तीन प्रकार का माना गया है– 1. परोसने के लिए उठाया गया 2. परोसा गया 3. पकाने योग्य पात्र में डाला गया।[35] यहाँ अपहृत, अवगृहीत आदि प्रकार अभिग्रहधारी मुनियों की अपेक्षा से निर्दिष्ट हैं क्योंकि कोई अभिग्रहधारी उठाया हुआ लेता है तो कोई परोसा हुआ और कोई पुनः पाक पात्र में डाला हुआ लेता है।

भिक्षा मुनि जीवन का आवश्यक अंग है। मुनि अपना जीवन निर्वाह इसी के माध्यम से करते हैं। यह विधि मुनि को व्यवहारिक दायित्वों से निवृत्त रखती

है तथा स्वच्छंद होने से भी बचाती है। सामाजिक स्तर पर यह नियम उत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हैं। प्रस्तुत अध्याय भिक्षाचार्य के सामान्य स्वरूप से परिचित करवाते हुए उसके निर्वहन में सहयोगी बने यही प्रयत्न किया है।

सन्दर्भ सूची

1. *अट्ठविधं कम्मखुहं, तेण णिरूत्तं स भिक्खु त्ति।*
   जं भिक्खमेत्तवित्ती, तेण व भिक्खू..।।
   दशवैकालिक निर्युक्ति, 10/241-243
2. *गोचराग्रः अग्रः प्रधान आधाकर्मादि परिहारेण स चासौ गौरिव चरणम् उच्चावचकुलेष्वविशेषेण पर्यटनं गोचरः।*
   उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 607
3. *गोचरो नाम भ्रमणं....आहाकम्मुद्देसियाइभुंजगाणंति ।*
   गोरिव चरणं गोचरः.....भिक्षाटनम् ।।
   दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ. 167-168
4. *जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।*
   न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।।
   एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
   विहंगमा व पुप्फेसु, दाण भत्तेसणे रया।।
   दशवैकालिकसूत्र, 1/2-3
5. *(क) उत्तराध्ययनसूत्र, 19/33*
   (ख) उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, 456-457
6. *अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।*
   दशवैकालिकसूत्र, 9/3/4
7. *दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि, पृ. 242*
8. *उत्तराध्ययनसूत्र, 19/24*
9. *दशवैकालिकसूत्र, 5/2/26*
10. *उत्तराध्ययनसूत्र, 24/11-12*
11. *पिण्ड निकाये समूहे, संपिंडण पिंडणा य समवाए।*
    समुसरण निचय उवचय, चए ज जुम्मे च रासी य।।
    पिण्डनिर्युक्ति, गा. 2

12. नामं ठवणा पिण्डो, दव्वे खेत्तेय काल भावे य।
एसो खलु पिंडस्स उ, निक्खेवो छव्विहो होई।।
पिण्डनिर्युक्ति, गा. 5
13. आचारचूला, 2/1/11/ सूत्र 409
14. वही, 2/1/11/सूत्र, 409
15. औपपातिक सूत्र, 30
16. आचार चूला में असंसृष्ट आहार लेने का निषेध किया गया है क्योंकि लिप्त हाथ आदि को धोने से पश्चात्कर्म दोष लगता है। यदि कहीं पश्चात कर्म दोष न लगने जैसा ज्ञात हो तो ही इस अभिग्रह वाले आहार ले सकते हैं सभी व्याख्याकारों ने यही स्पष्टीकरण किया है।
चरणानुयोग, भा. 2, पृ. 270
17. (क) बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, 1648-1650, 1652-1653
(ख) पंचवस्तुक, गा. 298-305
18. आवश्यक चूर्णि, 1/पृ. 316-317
19. मूलाचार, गा. 355 की टीका
20. भगवती आराधना, गा. 220-222 की टीका
21. पेडा या अद्धपेडा, गोमुत्तिय पयंगवीहिया चेव।
संबुकावट्टायय, गंतुपच्चागया छट्ठा।।
उत्तराध्ययनसूत्र, 30/19
22. (क) उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र 605
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गा. 745-749
23. सर्व संपत्करी चैका, पौरूषघ्नी तथाऽपरा।
वृत्ति भिक्षा च तत्वज्ञै, रिति भिक्षा त्रिछोदिता।।
अष्टक प्रकरण, 5/1
24. (क) दशवैकालिक निर्युक्ति, 44
(ख) पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र 119
(ग) स्थानांगसूत्र, 9/30
25. स्थानांगसूत्र, 4/1/56
26. वही, 4/4/544
27. वही, 4/4/553

28. (क) स्थानांगसूत्र, 4/4/512
    (ख) आवश्यकनिर्युक्ति, 1601-1602
29. (क) मूलाचार, 7/647-48
    (ख) अनगार धर्मामृत, 7/13
30. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 1, पृ. 285
31. पिण्डनिर्युक्ति, गा0 623-625
32. आचारचूला, 1/104, 151
33. उदरग्गिसमण मक्ख, मक्खण गोयार सब्भपूरण।
    भमरं णाऊण तप्पयारे, णिच्चेवं भुञ्जए भिक्खू ॥
    (क) रयणसार, 108 (ख) चारित्रसार, 78
    (ग) तत्त्वार्थवार्तिक, 9/6/16
34. स्थानांगसूत्र, 3/3/379
35. वही, 3/3/380

●

अध्याय-2

भिक्षाचर्या की उपयोगिता एवं उसके रहस्य

जैन मुनि का जीवन विशाल मीनार की भांति उच्चादर्श रूप होता है। दिग्गज विद्वान और धनाढ्य व्यक्ति भी उन सन्त पुरुषों की चरण रज को शीर्ष पर धारण करते हैं तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उन्हें भिक्षार्थ याचना करने की क्या जरूरत है? इसका सुन्दर समाधान जैनाचार की संहिता बतलाते हुए किया जा सकता है।

सबसे पहला पक्ष तो यह है कि सन्त जीवन का आदर्श साधना पर अवलम्बित है न कि दैहिक स्तर पर। दूसरा पक्ष, भिक्षाचर्या स्वावलम्बी जीवन का अभिन्न अंग है। स्वावलम्बी व्यक्ति साधना की चरम स्थिति का स्पर्श कर सकता है। अत: मुनि के लिए भिक्षाटन करना किसी भी पहलू से असंगत नहीं है। तीसरे दृष्टिकोण से भिक्षाचर्या विषयक जो कुछ नियम-उपनियम बतलाये गये हैं वे साधना मार्ग को प्रशस्त एवं सुदृढ़ करने वाले हैं। इसी के साथ निर्दोष एवं विशुद्ध आहार की सम्प्राप्ति भिक्षाचर्या के माध्यम से ही संभव है। आहार का शुद्ध सात्विक होना शरीर, बुद्धि एवं साधना में प्रगति के लिए परमावश्यक है। आहार जीवन निर्माण का पहला तत्त्व है। आहार का जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन शरीर पर टिका हुआ है, चारित्र धर्म का पालन शरीर से होता है अत: शरीर निर्वहन हेतु आहार की आवश्यकता रहती है।

पांचवाँ हेतु यह माना जा सकता है कि इस चर्या का अनुसरण करने पर मुनि धर्म का उत्तरोत्तर विकास, आहार विजय का अभ्यास एवं समत्ववृत्ति का बीजारोपण होता है। साथ ही स्वादिष्ट एवं मनोनुकूल आहार प्रवृत्ति पर अंकुश लग जाता है। परिणामत: वह समत्व का सच्चा योगी भी बन सकता है। इस प्रकार भिक्षाचर्या की आवश्यकता को सिद्ध करने वाले अनेक कारण कहे जा सकते हैं। इस प्रसंग में भिक्षा सम्बन्धी नियमों एवं विधियों की आवश्यकता को भी रेखांकित किया जा सकता है।

आचारांगसूत्र में वर्णन आता है कि साधु को रूखा-सूखा जैसा भी भोजन मिले, उसे सहर्ष खा लेना चाहिए, यह नहीं कि अच्छा-अच्छा खा लें और रूखा-सूखा त्यक्त कर दें। यदि ऐसा किया जाये तो उसके लिए निशीथसूत्र में दण्ड का विधान है। यह नियम भिक्षा शुद्धि के लिए परमावश्यक माना गया है। अन्यथा वह विशिष्ट भोजन की तलाश में इधर-उधर देर तक घूमता रहेगा, अधिक संग्रह करेगा और अच्छा-अच्छा खाकर नि:सार द्रव्य फेंक देगा। इससे अहिंसा व्रत खण्डित होता है।

पूर्वाचार्य शय्यंभवसूरि ने यह भी निर्देश दिया है कि मुनि भिक्षा के लिए स्वादु भोजन देने वाले धनिक घरों की खोज में न रहें। मार्ग में चलते हुए जो भी घर आ जाए, वहाँ बिना किसी भेद-भाव के जायें और शास्त्र विधि के अनुसार खट्टा हो या मीठा किन्तु शरीर के अनुकूल भोजन ग्रहण करें।

ज्ञानी पुरुषों ने सभी नियम विशिष्ट उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बनाये हैं जिससे भिक्षा में किसी प्रकार की दुर्बलता प्रवेश न कर पाये और भिक्षा का आदर्श भी कलंकित न हो सके।

बृहत्कल्पभाष्य में भिक्षार्थ जाने से पूर्व कायोत्सर्ग करने का विधान है। इस कायोत्सर्ग (ध्यान) में विचार किया जाता है कि आज मैंने आयंबिल आदि कौनसा व्रत ले रखा है और उसके लिए कितना और कैसा भोजन आवश्यक है? यह कायोत्सर्ग स्वयं के भूख की अन्तर्ध्वनि सुनने के उद्देश्य से किया जाता है, ताकि मर्यादित और आवश्यक भोजन ही लाया जाये।[1]

गवेषणा पूर्वक आहार लाने के बाद जब तक गुरु चरणों में या अर्हत परमात्मा की साक्षी में गोचरचर्या की आलोचना न की जाए, तब तक लाया गया भोजन ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह नियम गुरु के समक्ष गोचरचर्या की रिपोर्ट देने के लिए है।

यदि आहार लेते समय किसी तरह का दोष लग गया हो तो उससे मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त का नियम है।

वस्तुत: भिक्षावृत्ति भीख मांगना नहीं है, प्रत्युत भिक्षा महान् आदर्श है। यदि इस चर्या का सम्यक पालन किया जाये तो कौनसा घर कैसा है? उनका आचार-विचार किस कोटि का है? आदर्श संस्कृति का विकास हो रहा है या ह्रास? आदि प्रश्नों के समाधान भिक्षाटन द्वारा प्राप्त हो सकते हैं और भिक्षाचरी

मुनि तदनुसार उपदेश देकर जन सामान्य का कल्याण भी कर सकते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में निर्दिष्ट भिक्षाचर्या स्वयं एक तपस्या है। जीवन की पवित्रता का महान मार्ग है।

आजकल भिक्षा के विरुद्ध जो आन्दोलन चल रहा है उसके साथ यह विचार करना आवश्यक है कि कौन किस तरह भिक्षा मांग रहा है? उपाध्याय अमर मुनि के शब्दों में सबको एक लाठी से नहीं हांका जा सकता। यह सत्य है कि आज राष्ट्र में भीखमंगों का दल जोरों पर है, हजारों-लाखों व्यक्ति साधु के नाम पर भिक्षा मांगकर देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहे हैं।[2] आचार्य हरिभद्रसूरि ने ऐसे मनुष्यों की भिक्षा को 'पौरूषघ्नी' बतलाया है और वह भिक्षा अवश्य ही निषिद्ध है।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित अष्टक प्रकरण में भिक्षा के तीन प्रकारों का उल्लेख है– 1. सर्वसम्पत्करी 2. पौरूषघ्नी और 3. वृत्ति भिक्षा। सर्वसम्पत्करी भिक्षा त्यागी मुनियों की होती है। इस भिक्षा से साधक की आत्मा में, राष्ट्र में एवं समाज में सदाचार का संचार होता है। जो मनुष्य आलस्यवश पुरुषार्थ न करके साधु वेश पहनकर भिक्षा द्वारा आजीविका चलाते हैं वह पौरूषघ्नी भिक्षा है। दीन, अनाथ, पंगु आदि असहाय मनुष्य जो स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकने के कारण भिक्षा मांगते हैं वह तीसरी वृत्ति भिक्षा है। यदि मानवीय दृष्टि से मनन करें तो जब तक वृत्ति भिक्षुक लोगों के लिए उचित प्रबन्ध न हो तब तक उन्हें भिक्षा मांगने का अधिकार है।[3]

अध्याहार रूप में कहें तो जैन मुनि की भिक्षा का स्वरूप सबसे महान है। वह साधक एवं राष्ट्र दोनों के लिए कल्याणकारी है।

आहार ग्रहण के उद्देश्य

संयम यात्रा का समुचित ढंग से निर्वाह हो सके, चारित्रिक समस्त क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न की जा सके, इसी उद्देश्य से मुनि को आहार करना चाहिए। आहार ग्रहण का मुख्य उद्देश्य संयम धर्म को पुष्ट एवं सबल बनाना है। जैनागम भी यही कहते हैं कि भिक्षाजीवी मुनि संयम जीवन का निर्वाह करने के लिए आहार की गवेषणा करें, किन्तु रसगृद्ध बनकर नहीं।[4]

भगवतीसूत्र कहता है कि जो संयम धर्म के पोषण हेतु निरवद्य आहार ग्रहण करता है वह आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के बन्धन को शिथिल कर देता है।[5]

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में कहा गया है कि श्रमण ज्ञान-दर्शन-चारित्र के परिवहन एवं मोक्ष प्राप्ति के प्रयोजन से ही आहार करते हैं, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए नहीं। रत्नत्रय रूप धर्म का आद्य साधन शरीर ही है, जिसे भोजन-पानी के द्वारा ही सशक्त रखा जा सकता है।[6]

उक्त कथन का समर्थन करते हुए रयणसार ग्रन्थ भी कहता है कि श्रमण ज्ञान और संयम की अभिवृद्धि एवं ध्यान और अध्ययन के वांछित लाभ को लक्ष्य में रखते हुए आहार ग्रहण करे, यही मोक्षमार्ग की यथार्थ साधना है।[7] मूलाचार में भी स्पष्ट निर्देश है कि निर्ग्रन्थ मुनि ज्ञान, संयम और ध्यान की अभिवृद्धि के लिए आहार करे। वह आयु, बल, स्वाद और देह पोषण आदि के लिए आहार न करे।[8]

तुलना– दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में आहार करने के छः कारणों में तीसरा क्रियार्थ नाम का कारण है। उसका अर्थ– षडावश्यक आदि क्रियाओं के पालनार्थ ऐसा किया गया है[9] जबकि श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में तीसरे क्रम पर इरियट्ठाए - ईर्यासमिति के शोधन के लिए ऐसा पाठ है।

मूलाचार में आहार त्याग के छः कारणों में अन्तिम शरीर परित्याग नाम का कारण है[10] जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थों में 'शरीर विच्छेद के लिए' यह पाठ है। अर्थ दृष्टि से दोनों में समानता है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भिक्षाटन की प्रासंगिकता

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भिक्षाटन का चिंतन किया जाए तो भिक्षा मांगना एक तुच्छ कार्य माना जाता है। जैन परम्परा में मुनि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है और इस मार्ग को राजा से लेकर रंक तक हर व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उच्च कुलीन घरों से दीक्षित होने वाले साधकों का भिक्षा मांगना कहाँ तक उचित है? यदि आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसकी अत्यधिक प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

जैन मुनि आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं कषाय दमन के उद्देश्य से चारित्र धर्म अंगीकार करते हैं और इस जीवन को अपनाने के साथ ही अतीत जीवन को पूर्णतः विस्मृत कर देते हैं। साधु मण्डली में सभी मुनियों का स्थान समान होता है, उन्हें Family status के अनुसार स्थान प्राप्त न होकर ज्येष्ठता-लघुता के

आधार पर होता है। भिक्षाटन के लिए जाने से अहंकार का दमन होता है जो कि साधुता गुण को प्रकट करने के लिए आवश्यक है। इससे आहार लोलुपता एवं रसासक्ति भी कम होती है। स्वयं गवेषणा करके आहार लाने से सात्विक एवं निर्दोष आहार प्राप्त हो सकता है। यह नियम मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा से भी हितकारी है। इससे प्रमाद, कषाय, पराधीनता आदि कम होते हैं। सामान्य लोगों में साधु-संतों के प्रति बढ़ते भ्रम, अनादर आदि की भावना एवं पाखंड आदि की मिथ्या धारणा दूर होती हैं। साधु अपने मूल उद्देश्य की ओर सम्यक प्रकार से आगे बढ़ सकता है।

कई लोग कहते हैं कि यदि साधु सामने लाया हुआ आहार करे तो क्या हर्ज है? इससे उसके समय की बचत होगी जिससे वह विशेष स्वाध्याय आदि करके समाज का अधिक उद्धार कर सकता है? बात किसी अपेक्षा से सही भी है क्योंकि मुंबई, कलकत्ता एवं बड़े-बड़े शहरों में गोचरी भ्रमण में बहुत समय बीत जाता है और उसके बाद भी शुद्ध आहार की प्राप्ति मुश्किल से होती है। और उसमें भी Traffic आदि के कारण प्राण हानि का भय बना रहता है, परंतु यदि इसके सम्पूर्ण लाभ-हानि पर चिंतन किया जाए तो इससे लाभ कम और हानि अधिक है। गृहस्वामी द्वारा लाया हुआ भोजन लेने से मुनि में आहार लोलुपता एवं रसासक्ति बढ़ने की संभावना अधिक रहती है। उष्ण, गरिष्ठ और अधिक भोजन करने से प्रमाद बढ़ता है जिससे स्वाध्याय में हानि होती है। लोगों में मुनि के प्रति अभाव आने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। निमित्त से लाए जाने वाले आहार में अनेक दोष लगने की संभावना भी रहती है। इससे लघुता गुण में वृद्धि नहीं होती तथा साधुचर्या की कठिनता का भी आभास नहीं होता।

वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में यदि भिक्षाटन का मूल्य आंका जाए तो आज भिक्षाटन या भिक्षा मांगना स्वयं एक बड़ी समस्या है। ऐसी स्थिति में भिक्षाटन के द्वारा समस्या का समाधान कैसे हो सकता है?

इस संदर्भ में गहन चिंतन करें तो भारतीय संस्कृति में साधु-संतों एवं याचकों द्वारा भिक्षार्थ गमन की प्रक्रिया प्राचीन काल से रही है। गृहस्थ के लिए भिक्षा देना पुण्य का कार्य समझा जाता है। वे साधु संत जो सम्पूर्ण घर परिवार और सांसारिक कार्य छोड़ देते हैं उन्हें यदि आहार के लिए स्वयं ही सब कुछ करना पड़े तो फिर उनमें और सामान्य गृहस्थ के जीवन में क्या अन्तर रह

जाएगा? इसी के साथ वे सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए भी उचित समय ही नहीं दे पायेंगे। जीवन की प्रमुख आवश्यकता आहार है और यदि उसकी व्यवस्था हो जाए तो फिर मुनि निश्चिंत होकर निजानंद का अनुभव कर सकता है।

निष्परिग्रही मुनि अपने सात्त्विक जीवन के द्वारा सामान्य जनों में बढ़ती भोग वृत्ति को रोकने का संदेश देता है। इससे उच्च एवं निम्न वर्ग में दिखती भेद रेखा समाप्त हो सकती है तथा मुनि की आहार वृत्ति नियंत्रित रहती है क्योंकि मांगकर भोजन करना हो तो व्यक्ति आवश्यकता के अनुसार ही आहार करेगा। इससे शारीरिक स्वस्थता एवं मानसिक निर्मलता बनी रहती है। वर्तमान की स्व-केन्द्रित जीवन प्रणाली में इसके कारण सामान्य व्यक्ति समाज से जुड़ा रहता है। उसके भीतर परोपकार, दान वृत्ति, साधु-सन्तों के प्रति सम्मान आदि का विकास होता है। मुनि द्वारा थोड़ा-थोड़ा आहार अनेक स्थलों से लेने के कारण गृहस्थ पर बोझ नहीं बनता। इसी के साथ ही पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते वर्चस्व को भी कम किया जा सकता है।

यदि मुनि का किसी से मन मुटाव हो तो भिक्षार्थ गमन करने से वह समाप्त हो जाता है। इससे विश्व बंधुत्व की भावना का प्रचार होता है एवं समाज में नैतिक एवं मौलिक मूल्यों की स्थापना होती है।

भिक्षाटन के महत्त्व की परिचर्चा यदि प्रबंधन या Management के क्षेत्र में की जाए तो इससे व्यक्ति, शरीर एवं समाज प्रबंधन आदि में विशेष सहयोग प्राप्त हो सकता है।

भिक्षाटन के द्वारा मुनि को Personality improvement और Development का मौका मिलता है। जन सम्पर्क बढ़ने से बोलने-समझाने आदि की कलाएँ विकसित होती है। भिक्षाटन पूर्वक उदर पूर्ति करने से मुनि में रसासक्ति नहीं बढ़ती तथा शुद्ध सात्विक एवं सीमित आहार का सेवन होता है। इससे मन एवं शरीर स्वस्थ रहता है।

भिक्षा गमन के माध्यम से उसका सम्पर्क अनेक वर्गों से होता है जिससे वह उन्हें धर्म मार्ग एवं सदाचार की प्रेरणा दे सकता है। आहार का निश्चित काल होने से मुनि के समय का भी नियोजन होता है। एक जगह बैठे रहने से शारीरिक स्थूलता एवं प्रमाद की संभावना अधिक बढ़ जाती है। भिक्षा हेतु भ्रमण

करने से शरीर में स्फूर्ति, स्वस्थता एवं अप्रमतत्ता बनी रहती है। इससे शारीरिक स्वस्थता एवं नियंत्रण में सहयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार भिक्षाटन द्वारा मुनि आत्म नियंत्रण करते हुए व्यक्तित्व विकास तो करता ही है। साथ ही Mass communication skills में भी पारंगत हो जाता है।

भिक्षाचर्या सम्बन्धित विधि विधानों के रहस्य

जैनाचार्यों ने मुनि जीवन के क्रिया-कलापों का निर्देशन अनेक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए किया है। भिक्षाटन साधुचर्या का आवश्यक अंग है तथा अनेक रहस्यमयी नियमोपनियम से युक्त है। भिक्षाचर्या के द्वारा मुनि किस प्रकार शारीरिक निरोगता एवं आध्यात्मिक उत्थान को अधिकाधिक प्राप्त करते हुए अपने आपको लक्ष्य की ओर गतिमान रखें इसका भी पूर्ण विवेक रखा गया है। भिक्षाचर्या सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य इस प्रकार है–

'जस्स य जोगो'– यह पूर्वाचार्यों द्वारा सम्मत आचरणा है कि जैन मुनि जब भी आहार के लिए उपाश्रय से बाहर निकले उस समय 'जस्स य जोगो' और 'आवस्सिआए' इन दो शब्दों का उच्चारण करते हुए प्रस्थान करें। 'जस्स य जोगो' का गूढ़ार्थ यह है कि भिक्षाकाल में संयमोपकारी वस्त्र-पात्र-आहार या शिष्यादि जिन वस्तुओं का योग मिलेगा उन्हें मैं ग्रहण करूँगा। यदि 'जस्स य जोगो' ऐसा न कहें तो उस मुनि को आहार के सिवाय अन्य वस्त्रादि कुछ भी ग्रहण करना नहीं कल्पता है, उसे (शिष्यादि) सचित्त अथवा (वस्त्रादि) अचित्त वस्तु स्वीकार करने का अधिकार नहीं रहता है।[11] गच्छ उपकारक वस्त्र आदि मिल भी जाये तो वह उसे नहीं ले सकता है क्योंकि मुनि जीवन की मर्यादानुसार गुर्वाज्ञा के बिना किसी भी तरह की क्रिया करना अथवा लेन-देन करना नहीं कल्पता है।[12] यहाँ तक कि श्वासोश्वास, छींक आदि सूक्ष्म क्रियाओं के लिए भी 'बहुवेलं' का आदेश लिया जाता है। यदि उक्त शब्दों का उच्चारण किये बिना भिक्षाटक मुनि के द्वारा आहार के अतिरिक्त किसी तरह की वस्तु ग्रहण कर ली जाए तो उसका तृतीय महाव्रत दूषित होता है।[13]

'आवस्सियाए'– मुनियों को निष्प्रयोजन वसति से बाहर जाने का निषेध है इसलिए जब भी उपाश्रय से बाहर जाना पड़े तो 'आवस्सही'– आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ यह शब्द उच्चरित किया जाता है। यदि बिना कारण उपाश्रय से बाहर जाये तो स्वच्छंद वृत्ति का आचरण होने से मोक्ष मार्ग का उल्लंघन होता है। इससे अन्य दोष भी लगते हैं, ऐसा पूर्वाचार्यों का अभिमत है।[14]

भिक्षाचर्या के लिए अभिग्रह धारण करना आवश्यक क्यों?

जैनाचार्यों ने युक्ति पूर्वक इस तथ्य पर बल देते हुए कहा है कि मुनि अभिग्रह धारण करके भिक्षार्थ गमन करें।

अभिग्रह का अर्थ है किसी कार्य का निश्चय, प्रतिज्ञा या नियम आदि का संकल्प करना। अभिग्रह करने से पूर्व साधक स्वयं को असमर्थ समझता है, परन्तु अभिग्रह के पश्चात मनोबल बढ़ने के कारण उसका सामर्थ्य जाग उठता है। इससे आत्मिक बल एवं आन्तरिक उत्साह में वृद्धि होती है। अभिग्रह निश्चय रूप है और निश्चय की शक्ति अचिन्त्य होती है। भारतीय मनीषियों ने किसी भी कार्य की सिद्धि हेतु प्रणिधान (निश्चय) को प्राथमिकता दी है क्योंकि संकल्प शक्ति के जागृत होते ही उसका विरोधी बल कमजोर हो जाता है और सहायक तत्व प्रकट हो जाते हैं। अभिग्रह युक्त भिक्षाचर्या से आहार संज्ञा एवं रसासक्ति पर विजय प्राप्त होती है।

उपाश्रय में प्रवेश करने से पूर्व पाँव प्रमार्जना क्यों?

मुनि धर्म की आचार मर्यादा के अनुसार जब भी कोई मुनि गोचरी या स्थंडिल के लिए वसति से बाहर जाकर पुन: वसति में प्रवेश करते हैं तो उस समय गाँव, जंगल आदि की सचित्त रज एवं उपाश्रय आदि की अचित्त रज का सम्मिश्रण न हो, एतदर्थ पाँवों की प्रमार्जना करते हैं क्योंकि सचित्त और अचित्त रज के मिश्रण से पृथ्वीकायादि जीवों की हिंसा होती है।

मुनि शुद्ध और सात्विक आहार ही ग्रहण क्यों करें?

मुनि भिक्षाटन करते समय शुद्ध एवं सात्विक आहार की गवेषणा करते हैं। यदि वर्तमान संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता एवं उपयुज्यता पर चिंतन किया जाए तो शुद्ध और सात्विक आहार ग्रहण करने से परिणामों की शुद्धता बनी रहती है। शारीरिक स्वस्थता एवं मानसिक स्थिरता आदि भी सात्विक आहार से ही संभव है। वर्तमान में अधिकतम रोगों का कारण आहार से सम्बन्धित हैं। फिर चाहे वह आहार की अनियमितता हो, उसकी गरिष्ठता हो अथवा उसकी तामसिकता या स्वाद प्रमुखता हो, आधुनिक जीवन प्रणाली में निरोगी जीवन जीने के लिए शुद्ध एवं सात्त्विक आहार अत्यावश्यक हो गया है।

आज बढ़ते आतंकवाद, भावनात्मक उग्रता, पारिवारिक क्लेश, साम्प्रदायिक वैमनस्य, सामाजिक तनाव एवं अपराध वृत्ति का एक मुख्य कारण

आहार में बढ़ती लोलुपता एवं उसकी तामसिकता आदि है। ऐसी भयावह स्थिति से छुटकारा पाने के लिए आहार की शुद्धता अत्यावश्यक है। प्राचीन उक्ति भी है कि "जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन।"

भारतीय समाज में Packed food का प्रचलन तो पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण करते हुए बढ़ गया है परंतु उसकी सात्विकता एवं प्रामाणिकता की जांच करने की वृत्ति अब तक हममें नहीं आई है। हम Packing की सुन्दरता या फिर Company Brand में मोहित होकर उसे खरीद लेते हैं। उसकी गुणवत्ता हमारे लिए अधिक मायने नहीं रखती। अन्य देशों में प्रत्येक पदार्थ के पीछे उसके निर्माण में प्रयुक्त सामग्री एवं उसकी पौष्टिकता का वर्णन देना आवश्यक है जो हमारे यहाँ नहीं दिया जाता। इसलिए भी आज आहार विवेक अत्यावश्यक हो गया है। जैन मुनि के शुद्ध एवं सात्विक आहार की गवेषणा के पीछे ऐसे ही कई कारण अन्तर्भूत हैं।

यदि हम शुद्ध एवं सात्त्विक आहार की उपादेयता पर प्रबंधन की दृष्टि से विचार करें तो कई क्षेत्रों के नियंत्रण में यह अत्यंत उपयोगी है। सर्वप्रथम तो इसके द्वारा भावों का प्रबंधन होता है क्योंकि शुद्ध एवं सात्विक आहार विशुद्ध भावों का निर्माण करता है। विशुद्ध एवं निर्मल भावों के द्वारा व्यक्ति दूसरों की सद्भावना का पात्र बनता है तथा उन्हीं सद्भावों के आधार पर व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में शीघ्र प्रगति करता है। भावनात्मक आवेगों का प्रभाव हमारे शरीर पर भी पड़ता है ऐसा शरीर शास्त्रियों का मानना है अत: शारीरिक स्वस्थता में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार Stress management (तनाव प्रबंधन) में भी आहार विशेष सहयोगी हो सकता है क्योंकि विभिन्न प्रकार के आहार का भिन्न-भिन्न प्रभाव हमारे मन मस्तिष्क पर देखे जाते हैं। जैसे गरिष्ठ आहार से कामवृत्ति, रुक्ष आहार से चिड़-चिड़ापन, अति चटपटे आहार से भाषा अनियन्त्रण आदि पर प्रभाव पड़ता है इससे शुद्ध एवं सात्विक भोजन का महत्त्व स्वत: प्रमाणित हो जाती है।

इसके द्वारा आर्थिक प्रबंधन में भी सहयोग प्राप्त हो सकता है। सामान्य सात्विक आहार में व्यक्ति का जितना पैसा खर्च होता है उससे कई अधिक पैसा स्वाद लोलुपता के लिए खाये जाने वाले चटपटे पदार्थों में होता है और फिर उससे भी अधिक पैसा उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले रोगों के उपचार में होता है।

अत: आर्थिक प्रबंधन भी इससे संभव है। इस प्रकार शुद्ध एवं सात्विक आहार की मूल्यवत्ता अनेक दृष्टियों से सिद्ध होती है।

जैन मुनि के लिए निर्दोष आहार का विधान क्यों?

जैन मुनि के लिए भिक्षाटन के द्वारा निर्दोष आहार प्राप्त करने का विधान है। निर्दोष आहार से यहाँ अभिप्राय मुनि के लिए नहीं बनाए गए आहार आदि से है। यदि वर्तमान संदर्भ में इस पर चिन्तन किया जाए तो कई समस्याएँ उपस्थित हो चुकी हैं, जैसे कि एकल परिवार की संस्कृति, बढ़ती महंगाई एवं नौकरी पेशा जिन्दगी में मुनि को अधिकतर घर बंद मिलते हैं।

अपनी सुविधानुसार गरम-गरम खाना बनाने एवं खाने से अधिक भोजन बनाने की वृत्ति भी लोगों में नहींवत रह गई है। आज बढ़ती महंगाई में जहाँ दाल-आटे के भाव आसमान को छू रहे हैं ऐसी स्थिति में कोई भी अधिक खाना बनाकर उसे बिगाड़ना नहीं चाहता। पूर्व कालीन संयुक्त परिवारों में आहार एक साथ बना दिया जाता था तथा बच्चों और अतिथि आदि की अपेक्षा से कुछ अधिक भी बनाया जाता था, परन्तु वर्तमान में यह सब प्राय: दुर्लभ है। ऐसी स्थिति में मुनि निर्दोष भिक्षा कैसे प्राप्त करे यह सबसे बड़ा प्रश्न है?

जहाँ पर जैन परिवार अधिक संख्या में रहते हैं और लोगों में धार्मिक संस्कार एवं साधु-साध्वियों के विषय में जानकारी होती है वहाँ यह समस्या इतनी उग्र नहीं है। इन परिस्थितियों में भी यदि इसकी आवश्कता पर विचार किया जाए तो मुनि के निर्दोष भिक्षा आचार से लोगों में उस जीवन के प्रति अभाव नहीं बढ़ता।

वर्तमान महंगाई के युग में भी मुनि समाज पर भार रूप नहीं बनते। मुनि तो हर जगह से थोड़ा-थोड़ा आहार लेता है और इतना आहार उसे घरों से प्राप्त हो सकता है। निर्दोष आहार ग्रहण करने से मुनि के मन में भी किसी के प्रति दुर्भाव उत्पन्न नहीं होते, न ही अपेक्षा वृत्ति जागृत होती है। इस प्रकार वर्तमान में जहाँ साधु-संतों के प्रति उपेक्षा भाव एवं मिथ्या धारणाएँ बढ़ रही हैं वहाँ मुनि का निर्दोष आहार ग्रहण करना उनके प्रति आस्था भावों में वृद्धि करता है।

निर्दोष आहार की मूल्यवत्ता प्रबंधन क्षेत्र में भी देखी जाती है जैसे कि निर्दोष आहारार्थी मुनि अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता है जिससे वह जहाँ से आहार लेता है उन्हें कोई हानि नहीं होती और दूसरी बात वह कभी

वहाँ जाए और कभी न जाए तो भी आहार नष्ट नहीं होता। यदि मुनि के निमित्त से भोजन बने और वह Waste हो जाये तो गृहस्थ के मन में मुनि के प्रति रोष उत्पन्न हो सकता है। निमित्त का आहार न लेने से खाद्य सामग्री का अपव्यय नहीं होता। इससे आहार एवं अर्थ प्रबंधन में गृहस्थ को सहयोग प्राप्त हो सकता है। निमित्त पूर्वक बनी हुई वस्तु इच्छा-अनिच्छा, आवश्यकता-अनावश्यकता आदि में भी लेनी ही पड़ती है, इससे स्वाध्याय आदि में हानि होती है जबकि निर्दोष आहार में इन समस्याओं के उत्पन्न होने की संभावनाएँ ही नहीं रहती। निर्दोष आहार में स्वाद लोलुपता नहीं बढ़ती एवं इससे इन्द्रिय नियंत्रण रहता है। इसी तरह निमित्त से नहीं बने आहार में निर्माता के भावों पर भी अधिक प्रभाव पड़ता है जिससे साधु का भाव जगत प्रभावित होता है। इस प्रकार भाव प्रबंधन की दृष्टि से भी निर्दोष आहार आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रथम भिक्षाचर्या हेतु शुभ दिन आवश्यक क्यों?

आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार नव दीक्षित मुनि को प्रथम भिक्षा के लिए शुभ मुहूर्त्त में जाना चाहिए। वर्तमान में इस नियम का निर्वाह किया जाता है या नहीं?

इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। यह निश्चय और व्यवहार दोनों का समन्वय करके चलता है। निश्चय दृष्टि से तो सभी अपने कर्मोदय के अनुसार लाभ प्राप्त करते हैं। परन्तु व्यवहार में किसी भी शुभ कार्य के लिए सर्वप्रथम मुहूर्त्तादि का विचार किया जाता है। भिक्षाटन, मुनि जीवन की आवश्यक क्रिया है। यदि किसी अशुभ काल में प्रथम बार भिक्षार्थ जाने से मुनि पर कोई उपद्रव हो जाए, उसे सहर्ष भिक्षा प्राप्त न हो, पात्र आदि टूट जाए अथवा बीमार पड़ जाए तो इससे मुनि के मन में खेद उत्पन्न हो सकता है तथा हीन भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं। प्रथम भिक्षा शकुन रूप में भी देखी जाती है। उस दिन नूतन दीक्षित को जिस प्रकार का आहार प्राप्त होता है उससे उसके आहार जोग का ज्ञान भी गीतार्थ गुरु कर लेते हैं, इसलिए प्रथम भिक्षार्थ भेजने के निमित्त शुभ नक्षत्र आदि का योग बल देखना व्यवहारत: उचित है।

आजकल कुछ सम्प्रदायों में ऐसी परम्परा भी प्रचलित हो गई है कि

नवदीक्षित मुनि दूसरे दिन अपने सांसारिक परिवार वालों के यहाँ अथवा ब्रह्मचर्य व्रत आदि का नियम लेने वालों के घर पर भिक्षार्थ जाते हैं। इस स्थिति में पूर्वोक्त नियम कैसे पल सकता है?

इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान परम्परा के अनुसार पहली बार भिक्षा के लिए गृहस्थ परिवार वालों के यहाँ जाने से सहज में आहार प्राप्त हो जाता है। दूसरा तथ्य यह है कि बड़ी दीक्षा से पूर्व तक नवदीक्षित स्वयं की आवश्यकता के अनुसार ही आहार लेता है, समुदाय के लिए तो अन्य साथ रहने वाले मुनि ही ग्रहण करते हैं।

संभवत: यह मुहूर्त्त आदि का विचार प्रथम बार सामुदायिक आहार के लिए जाने से पूर्व किया जाता होगा, जिससे वह वृद्ध आदि मुनियों की सेवा का लाभ प्राप्त कर सके।

भिक्षाटन से पूर्व उपयोग विधि किसलिए?

मुनि की दैनिक जीवन चर्या में उपयोग नाम की एक विधि होती है जिसके द्वारा सचित्त एवं अचित्त आहार आदि के विषय में गुर्वाज्ञा प्राप्त की जाती है। इस विधि का मुख्य प्रयोजन यह है कि भिक्षाटन करते समय कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिसके विषय में संशय हो और गुरु से पूछना असंभव हो तो भिक्षाचारी मुनि पूर्व गृहीत आज्ञा से विवेकानुसार कार्य कर सकता है। इस तरह उसके जीवन में मर्यादा बनी रहती है।

भिक्षाचर्या सम्बन्धी आलोचना दो बार क्यों?

आलोचना आत्म शुद्धि का प्राण है। प्रथम आलोचना पाप शुद्धि निमित्त गुर्वादि के सम्मुख की जाती है तथा भिक्षा सम्बन्धी दूसरी आलोचना स्मृतिगत आलोचना के अतिरिक्त भी कुछ दोष अज्ञात या विस्मृत रह गये हों तो उनकी शुद्धि हेतु आत्मसाक्षी पूर्वक की जाती है। भिक्षा सम्बन्धित दोषों को पूर्णत: स्मृतिगत रखना अशक्य होने से ही दो बार आलोचना का निर्देश है।[12]

आहार हेतु निमंत्रण क्यों दिया जाए?

ओघनिर्युक्तिकार के अनुसार जो भिक्षु स्वयं के द्वारा लायी गई भिक्षा का संविभाग करने हेतु साधर्मिक मुनियों को निमंत्रण देता है, वह स्वयं की चित्त शुद्धि करता है। चित्तशुद्धि से निर्जरा होती है, आत्मा शुद्ध बनती है। यदि सम्पूर्ण आहार दूसरों को अर्पण करके स्वयं में तप-त्याग का उत्कृष्ट रसायन

आ जाए तो संसार समुद्र से निस्तरण भी हो सकता है।[13]

भोजन मंडली की आवश्यकता क्यों ?

मंडल शब्द अनेकार्थक है। इसका प्रयोग गोल, वृत्ताकार, समुदाय, समूह, संग्रह, टोली आदि अर्थों में होता है। यहाँ मंडली से तात्पर्य समुदाय, टोली आदि है। साधु-साध्वी के द्वारा अपने समुदाय के साथ बैठकर आहार आदि करना भोजन मंडली कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जैन मुनि गृहस्थ की भाँति एक साथ भोजन नहीं करते, सभी के आहार पात्र अलग-अलग होते हैं फिर मंडली की आवश्यकता क्यों?

आगमकारों ने भोजन मंडली के निम्न आठ प्रयोजन बतलाये हैं[14]–

1. अतिग्लान– यदि रूग्ण मुनियों की सेवा अकेला साधु करे तो उसके सूत्र-अर्थ की हानि हो सकती है परन्तु मंडलीबद्ध होने पर ग्लान मुनि के कार्यों को बाँटा जा सकता है। इससे किसी एक साधु की सूत्र हानि भी नहीं होती और ग्लान की सेवा भी सम्यक प्रकार से हो जाती है।

2-3. बाल, वृद्ध– बाल एवं वृद्ध आहार लाने में असमर्थ होते हैं। यदि मंडली व्यवस्था हो तो अन्य साधु भी आहार आदि लाकर दे सकते हैं। इससे बाल-वृद्धादि मुनियों की सुखपूर्वक आराधना हो सकती है।

4. शैक्षक– नवदीक्षित मुनि आहार की शुद्धाशुद्धि से अनभिज्ञ होता है किन्तु मंडली में होने से सहवर्ती साधु सहयोगी बन सकते हैं।

5. प्राघूर्णक– विहार करके आए हुए मुनियों की सेवा के लिए मांडली आवश्यक है। मंडली व्यवस्था हो तो स्थिरवासी सभी मुनिजन आगत की परिचर्या कर सकते हैं।

6. असमर्थ– राजपुत्र आदि कोमल देह वाले होने से कदाच भिक्षार्थ भ्रमण न कर सकें तो मंडलीबद्ध होने पर सहवर्ती साधु भी आहार आदि प्रदान कर सकते हैं।

7. सर्व साधु सुश्रुषा– मंडली गत व्यवस्था में सर्व मुनियों को आहार आदि करवाने का लाभ प्राप्त होता है।

8. अलब्धि– कदाचित किसी मुनि के प्रबल अन्तराय कर्म का उदय हो और उसे आहारादि की प्राप्ति न होती हो तो मांडलिक साधु मदद कर सकते हैं।

इस प्रकार ग्लान आदि पराश्रित मुनियों की परिचर्या एवं कर्म निर्जरा की दृष्टि से भोजन मण्डली को अनिवार्य माना गया है।

श्रमण का आहार गुप्त क्यों?

जैन मुनि के लिए गुप्त आहार करने का निर्देश है। उसे एकान्त में इस तरह बैठकर आहार करना चाहिए कि किसी गृहस्थ की उन पर दृष्टि न पड़े। आचार्य हरिभद्रसूरि ने गुप्त भोजन का रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा है कि यदि साधु अप्रच्छन्न (खुले) रूप से भोजन करें तो उस भोजन को देखकर क्षुधा पीड़ित दीन आदि याचक उनसे आहार की याचना कर सकते हैं। कदाचित दया भाव आने से आहार का कुछ भाग दे दिया जाये तो साधु को निश्चित रूप से पुण्य बंध होता है किन्तु वह पुण्य बंध साधु के लिए इष्ट नहीं है। क्योंकि पुण्य बंध सुवर्ण बेड़ी के समान है और संसार चक्र का हेतु है। पुण्य और पाप के क्षय से मुक्ति होती है अत: निर्जरा के लिए प्रयत्नशील साधुओं के लिए पुण्य बंध हितकारी नहीं है।

यदि याचकों के द्वारा मांगे जाने पर भी भिक्षा न दी जाये तो याचक क्षुद्र वृत्ति वाले होने से उनके मन में अप्रसन्नता प्रकट होती है, शासन के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और फलत: शासन निन्दा आदि दुष्प्रवृत्तियों के कारण संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक तरह के कष्टों को प्राप्त करते हैं। इसी के साथ नरक, तिर्यंच आदि अशुभ गतियों में उत्पन्न होने की परम्परा का विस्तार कर लेते हैं। इस तरह प्रमादवश प्रच्छन्न भोजी साधु शासन द्वेष में निमित्त भूत एवं शास्त्र मर्यादा का अतिक्रमण करने के कारण पाप बन्ध का भागी होता है। इसलिए निर्ग्रन्थ मुनियों को गुप्त भोजन ही करना चाहिए। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'प्रच्छन्न भिक्षा' नामक एक अष्टक भी रचा है।[15]

आहार के लिए मध्याह्नकाल श्रेष्ठ क्यों बताया गया?

श्रमण की आहारचर्या के लिए मध्याह्न काल उत्कृष्ट माना गया है। इसका मुख्य हेतु जीव यतना एवं निर्दोष आहार की प्राप्ति करना है। पूर्व काल में अधिकांश लोग दिन के बारह बजे तक या उसके कुछ समय बाद तक भोजन कर लिया करते थे शेष जो कुछ बचता, वही मुनि के लिए ग्राह्य होता था। दूसरा उस समय तक सूर्य का पूर्ण प्रकाश फैल जाता है, जिससे आहार की शुद्धता-अशुद्धता का भी निरीक्षण करना संभव होता है। भिक्षाटन के लिए मध्याह्न काल

को श्रेष्ठ मानने का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि सूर्योदय के तुरन्त बाद या सूर्यास्त से पूर्व आहार लेने पर शंका हो सकती है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के अनुसार जो भिक्षु सूर्योदय एवं सूर्यास्त के प्रति शंकित होकर आहार ग्रहण करता है उसे रात्रिभोजन का दोष लगता है। रात्रिभोजन के दोष से पंच महाव्रत खण्डित होते हैं और अष्ट प्रवचन माता के परिपालन में शिथिलता आती है।[16]

तीसरा तथ्य है कि रात्रि में आहारार्थ गमन करने पर गृहस्थ या अन्य किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि मुनिवेश में यह कोई चोर-उचक्का तो नहीं है? साथ ही आत्म विपत्ति के भी अनेक प्रसंग उपस्थित हो सकते हैं अत: भिक्षागमन के लिए मध्याह्नकाल ही श्रेष्ठतम है।[17]

दिगम्बर मुनि खड़े-खड़े एवं करपात्री में ही भोजन क्यों करते हैं?

पण्डित आशाधर एवं आचार्य वट्टकेर ने मुनि द्वारा खड़े होकर भोजन करने के निम्न प्रयोजन बतलाए हैं– 'जब तक मैं समर्थ हूँ तब तक भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा' इस प्रकार की प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए तथा इन्द्रिय संयम और प्राण संयम के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं। बैठकर या पात्र में भोजन न करने के पीछे यह हेतु बतलाया गया है कि हथेली शुद्ध होती है। यदि उनके नियमानुसार भोजन में अन्तराय आ जाये तो अधिक झूंठा छोड़ना नहीं पड़ता, जबकि पात्र भोजी होने पर अन्तराय आ जाये तो भरी थाली का भी परिहार करना पड़ सकता है, जिससे प्रगाढ़ कर्मों का बंध संभव है। बैठकर भोजन करने पर अधिक भोजन भी हो सकता है तथा उस स्थिति में इन्द्रिय नियन्त्रण करना अशक्य हो जाता है। इसलिए दिगम्बर मुनि उर्ध्व स्थित और कर पात्र में भोजन करते हैं।

एक चौके में एकाधिक साधु एक साथ आहार ले सकते हैं?

दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध जैनाचार्य अमितगति ने योगसार में कहा है कि आहार देते समय गृहस्थ को यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस मुनि के लिए हाथ से आहार लें वह आहार उसी मुनि को देना चाहिए, अन्य मुनि को नहीं। यदि कोई मुनि अन्य के निमित्त दिए जाने वाले आहार को लेता है तो उसे छेद प्रायश्चित्त आता है।[18]

इस उल्लेख से दो बातें स्पष्ट होती हैं–1. एक चौके में एक साथ एकाधिक साधु आहार ले सकते हैं। 2. आहार लेते समय विशेष सावधानी

रखना आवश्यक है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जब भी कई मुनि घर में एक साथ आहार ले रहे हों तो श्रावक उन्हें इस तरह खड़ा करें। जिससे दोनों आमने-सामने न हों अर्थात पीठ से पीठ हो, अन्यथा एक को अन्तराय आने पर दूसरों को भी अन्तराय हो जायेगा। यह एक अपवाद व्यवस्था है।

चौके के बाहर से लाया गया आहार ग्राह्य है या नहीं?

आचार्य वट्टकेर के अनुसार चौके के बाहर से लाया गया आहार यदि पंक्तिबद्ध तीन अथवा सात घरों से लाया गया हो तो गाह्य है। यदि वह आहार बिना पंक्ति के यहाँ-वहाँ के घरों से लाया गया हो तो अग्राह्य है।[19]

एकल भोजी का आहार उत्कृष्ट कैसे?

तीर्थंकर पुरुषों ने एकल भोजी आहार को सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। गुरु की अनुमति पूर्वक किया गया एकाकी आहार मंडली की अपेक्षा उत्तम होता है। एक शिष्य ने प्रश्न किया – हे भगवन्! सम्भोज प्रत्याख्यान से (मंडली भोजन का त्याग करने वाला) जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान महावीर उत्तर देते हैं– सम्भोज प्रत्याख्यान से वह परावलम्बन को छोड़ता है। परावलम्बन को छोड़ने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं। वह भिक्षा में जो कुछ मिलता है, उसी में संतुष्ट रहता है। दूसरे मुनियों को प्राप्त हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं करता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा भी नहीं करता। वह आत्म पुरुषार्थ को प्राप्त कर विहार करता है।[20]

भावार्थ यह है कि एकल भोजी साधु का आहार सीमित एवं स्वावलम्बन युक्त होता है क्योंकि स्वयं में आश्रितपना सुख और पराश्रितपना दु:ख है। यद्यपि भोजन मंडली का सूत्रपात पराश्रितता को लेकर नहीं किया गया है। यह कुछ असमर्थ मुनियों के लिए नियत अवधि की एक आचार स्थापना है। ग्लान-स्वस्थ हो जाए, बाल-युवा हो जाए, अतिथि-सामान्य हो जाए तब वे ही एकल भोजी बन जाते हैं। अत: मंडली की अपेक्षा एकाकी आहार प्राधान्य गुण वाला है।

ऐसे ही अनेक प्रश्न जन मानस में स्फुरित होते रहते हैं किन्तु अनुकूल साधन नहीं मिलने के कारण वह स्फुरणाएँ एक प्रश्न बनकर रह जाती है। वर्णित अध्याय में ऐसे ही कई रहस्यों को उजागर किया गया है। यह विवरण युवा चित्त में दबी हुई शंकाओं एवं भ्रमित मान्यताओं का निवारण कर सम्यक मार्ग प्रदान करें यही लघु प्रयत्न किया है।

सन्दर्भ सूची

1. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1696 की टीका
2. श्रमणसूत्र, पृ. 218
3. अष्टकप्रकरण, 5/1
4. उत्तराध्ययनसूत्र, 8/11
5. भगवतीसूत्र (अंगसुत्ताणि), 1/9/438
6. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, श्रुतस्कन्ध-1, अध्ययन-18, सू. 43
7. रयणसार, 107
8. मूलाचार, 6/481
9. वही, 6/479
10. वही, 6/480
11. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 107-108
12. दशवैकालिकसूत्र, 204-205
13. ओघनिर्युक्ति, 525
14. वही, 553
15. (क) पंचाशक प्रकरण, 7/391
    (ख) पंचवस्तुक, 391
16. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, 2/3 पृ. 8
17. मूलाचार, 5/296
18. पिण्ड : पाणिगतोऽन्यस्मै, दातुं योग्यो न युज्यते।
    दीयते चेन्न भोक्तव्यं, भुङ्क्ते चेच्छेदभाग् यतिः ॥
    योगसार प्राभृत, 8/64
19. उज्जु तिहिं सत्तहिं वा, धरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
    परदो वा तेहिं भवे, तव्विवरीदं आणाचिण्णं ॥
    मूलाचार, 6/439
20. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/34

●

अध्याय-3

वर्तमान युग में भिक्षाचर्या का औचित्य एवं उसके नियमोपनियम

आज समय बदल रहा है। जीवन जीने का तरीका, जीवन मूल्य एवं जीवन की महत्त्वाकांक्षाएँ बदल रही है। लोगों का खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार आदि सब कुछ बदल गया है। लोगों का रूझान घर में कम और बाहर अधिक रहता है।

हमारा देश 'अतिथि देवो भव' की संस्कृति के लिए जग विख्यात था। देहलीज या द्वार पर आने वाला अतिथि या याचक कभी खाली हाथ नहीं जाता था। स्वयं का भोजन बनाने से पूर्व अतिथि एवं याचक का भाग निकाला जाता था। परन्तु आज उसी देश की परिस्थिति एवं मानसिकता दोनों बदल गई है।

एकल परिवार, बढ़ती महंगाई एवं गरमागरम भोजन खाने की आदत ने अधिकतर घरों में आहार प्राप्ति की संभावना नहींवत कर दी है।

गगनचुम्बी इमारतों में १०वें-१३वें तल्ले पर रहना सामान्य बात है क्योंकि Lift की सुविधा है लेकिन साधु-साध्वियों के लिए ऐसी स्थिति में भ्रमण करना और भी कठिन हो गया है।

जो लोग गुरु समागम को जरूरी नहीं समझते तथा गुरुजनों के सत्संग आदि में नहीं आते, ऐसे घरों में आहार कैसे बहराया जाए, कौनसा भोजन दिया जाए आदि के विषय में ज्ञान न होने से भी आहार प्राप्ति दुर्लभ होती जा रही है।

इन परिस्थितियों में यह प्रश्न उठना सहज है कि वर्तमान युग में भिक्षाचर्या सम्बन्धी नियमों का औचित्य है भी या नहीं? उनमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता है या फिर हमारे जागरुक होने की? अत: सामान्य जनता को भिक्षाचर्या के नियमों से अवगत करवाना नि:सन्देह आवश्यक हो गया है।

भिक्षाचर्या योग्य मुनि के लक्षण

भिक्षा एषणा का एक प्रकार है। सम्यक निरीक्षण एवं परीक्षण के द्वारा ही

शुद्ध आहार की प्राप्ति होती है। आचारांगसूत्र में एषणा कुशल मुनि के निम्न लक्षण बतलाये गये हैं-

वह **क्षेत्रज्ञ-** आहार योग्य क्षेत्र को जानने वाला हो, **कालज्ञ-** करणीय कृत्य के काल का ज्ञाता हो, **बलज्ञ-** आत्मबल का ज्ञाता हो, **मात्रज्ञ-** ग्राह्य वस्तु की मात्रा को जानने वाला हो, **खेदज्ञ-** जन्म जरा रोगादि से होने वाली खिन्नता (व्याकुलता) को जानने वाला हो, **क्षणज्ञ-** भिक्षाचर्या के अवसर का ज्ञाता हो, **विनयज्ञ-** ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वरूप का ज्ञाता हो, **स्वसमयज्ञ परसमयज्ञ-**स्व-पर सिद्धान्त का ज्ञाता हो, **भावज्ञ-** भिक्षा दाता के मनोभावों का परीक्षक हो, परिग्रह वृत्ति के प्रति अनासक्त हो, यथोचित समय पर अनुष्ठान करने वाला हो और **अप्रतिज्ञ-** भोजन के प्रति संकल्प रहित हो- इन गुणों से युक्त मुनि भिक्षाटन के लिए योग्य माना गया है।[1]

शुद्ध पिण्ड का अधिकारी कौन?

आचार्य हरिभद्रसूरि पंचाशक प्रकरण के तेरहवें अधिकार में शुद्ध पिण्ड के अधिकारी की चर्चा करते हुए कहते हैं कि परमार्थतः बयालीस दोष रहित शुद्ध आहार की प्राप्ति प्रतिलेखना, स्वाध्याय आदि क्रियाओं में लीन रहने से होती है। प्रतिलेखनादि क्रियाओं से रहित मुनि बयालीस दोषों का परिवर्जन कर लें तब भी परमार्थ से शुद्ध पिण्ड नहीं होता है क्योंकि मूलगुणों के बिना उत्तरगुणों का अनुसंचरण अर्थात पालन व्यर्थ है।

प्रतिलेखनादि क्रिया विधियों में अनुरक्त मुनि का पिण्ड शुद्ध होता है। साधु को विशुद्ध पिण्ड ही ग्राह्य है। अशुद्ध पिण्ड के ग्रहण से संयम धर्म दूषित होता है। इसलिए प्रतिलेखनादि क्रियाओं में अनुरक्त मुनि ही शुद्ध पिण्ड का अधिकारी है तथा प्रतिलेखन आदि रूप मूलगुणों का अभ्यस्त साधु ही आहार की शुद्ध गवेषणा कर सकता है।[2]

आहार ग्रहण का समय

आहार कब करना चाहिए, कितनी अवधि में करना चाहिए आदि बिन्दुओं पर चर्चा करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि सूर्योदय होने के तीन घड़ी (चौबीस मिनिट की एक घड़ी मानी जाती है) बाद से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक का समय मुनियों के आहार ग्रहण का है। इस अवधि में तीन मुहूर्त्त तक भोजन करना जघन्य और एक मुहूर्त में भोजन कर लेना उत्कृष्ट है।[3]

आचार्य वट्टकेर ने एक बार भोजन करने वाले मुनि के लिए आहार का समय दिन का मध्याह्नकाल बताया है।[4]

दिगम्बर मुनि आहार प्राप्ति के लिए कब, किस विधिपूर्वक प्रस्थान करें? इसका निरूपण करते हुए बताया गया है कि सूर्योदय होने के दो घड़ी पश्चात आवश्यक क्रियाएँ करें, फिर स्वाध्याय करें, फिर मध्याह्न काल का देववन्दन करें। तदनन्तर बालकों के भरे हुए पेट से एवं अन्य लिंगियों से भिक्षा का समय ज्ञात करें। इसी के साथ गृहस्थ के घरों से धुआँ निकलना बन्द हो जाए एवं मूसल आदि के शब्द शान्त हो जाएं, तब गोचरी के लिए प्रवेश करना चाहिए।[5] इस यान्त्रिक युग में उपरोक्त रीति से भिक्षाकाल ज्ञात करना लगभग असम्भव है।

भगवती आराधना की विजयोदया टीकानुसार भिक्षार्थ मुनि को आहार काल के विषय में तीन दृष्टियों से विचार करने के पश्चात निकलना चाहिए।

1. भिक्षाकाल– अमुक गाँव आदि में, अमुक महीने में, अमुक कुल एवं अमुक मुहल्ले में अमुक समय भोजन तैयार होता है। इस प्रकार भिक्षाकाल ज्ञात कर आहारार्थ गमन करें।

2. बुभुक्षाकाल– आज मुझे तीव्र या मन्द भूख है-इस तरह स्वयं की इच्छा का निरीक्षण कर आहारार्थ गमन करें।

3. अवग्रहकाल– पूर्व दिन यह नियम ग्रहण किया था, आज मेरा यह अभिग्रह है– इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध होकर आहारार्थ गमन करें।[6]

पूर्वोक्त भेदों के विचार पूर्वक भिक्षार्थ गमन करने पर निर्दोष एवं परिमित आहार की प्राप्ति होती है जिससे शुद्ध संयम का परिपालन होता है।

आहार के लिए उचित स्थान

आगमकारों के निर्देशानुसार जहाँ ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक इन तीन दिशाओं में सूक्ष्म जीव और बीज आदि की संभावनाएँ न्यूनतम हों, जो स्थान प्राणी और बीज से रहित हों, ऊपर से ढँका हुआ हो तथा चारों तरफ दीवार आदि से घिरा हुआ हो वहाँ भोजन करें।[7]

इस वर्णन से सूचित होता है कि जैन मुनि को खुले स्थान, खुले आकाश एवं खुले मकानों में आहार नहीं करना चाहिए।

आहार का परिमाण क्या हो?

पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार पुरुष का आहार बत्तीस कवल (ग्रास) परिमाण तथा स्त्री का अट्ठाईस कवल परिमाण माना गया है। एक कवल का परिमाण बड़े आँवले जितना बतलाया गया है अथवा एक बार में जितना आहार मुख में डालने से मुख विकृत न हो उसे एक कवल मानना चाहिए। इस कथन से निश्चित होता है कि मुनि के लिए बत्तीस कवल परिमाण और साध्वी के लिए अट्ठाईस कवल परिमाण से अधिक आहार करना वर्जित है।

आहार का यह परिमाण शरीर एवं साधना दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए निर्धारित किया गया है। शरीर के कुछ तत्व ऐसे हैं जिन्हें निश्चित मात्रा में अन्न, पानी, वायु सभी की आवश्यकता रहती है। इनका संतुलन बनाये रखने के लिए पूर्वाचार्यों का निर्देश है कि कल्पना से उदर के छह भाग करें, तीन भाग आहार से और दो भाग पानी से पूरित करें, छठा भाग वायु संचरण के लिए खाली छोड़ दें। ऋतुबद्ध काल की दृष्टि से कहा गया है कि अत्यन्त शीत काल में कल्पित छह भाग में से एक भाग पानी से पूर्ण करें और चार भाग आहार से पूर्ण करें। मध्यम शीत काल और उष्ण काल में दो भाग पानी से और तीन भाग आहार से पूरित करें तथा अत्यन्त उष्ण काल में तीन भाग पानी से और दो भाग आहार से पूर्ण करें। छठा भाग सर्वत्र वायु संचरण के लिए रखें। इसका हार्द यह है कि प्रमाणोपेत कवल के साथ-साथ शीतोष्ण काल की अपेक्षा भी आहार में न्यूनाधिकता करें। शीत काल में आहार की मात्रा और उष्ण काल में पानी की मात्रा बढ़ायी जा सकती है।

संक्षेप में शारीरिक तत्वों की स्थिति संतुलित एवं नियन्त्रित रहे, उस प्रकार का आहार करना चाहिए।[8]

अवशिष्ट आहार की शास्त्रोक्त व्यवस्था

पूर्वाचार्यों के निर्देशानुसार सामूहिक रूप से वितरित कर देने के पश्चात भी कुछ आहार शेष बच जाये तो ज्येष्ठ मुनि आचार्य से अनुमति प्राप्त करें और उस अवशिष्ट आहार को क्रमशः आयंबिल, उपवास आदि करने वाले मुनियों में वितरित कर दें लेकिन परिष्ठापित नहीं करें। प्रत्याख्यान के एक आगार का नाम 'महत्तराकार' है जिसका अर्थ है– गुरु आदि पूज्यजनों की अनुमति होने तक इस तप का पालन करूँगा। तदनुसार आयंबिल आदि तपस्वी मुनियों के

द्वारा अवशिष्ट आहार का सेवन करने पर भी उन्हें तप भंग का दोष नहीं लगता है क्योंकि इस प्रकार के आहार भोग में आसक्ति का अभाव और गुर्वाज्ञा प्रधान होने से तप खण्डित नहीं होता है।

आगमिक व्याख्याओं में इसके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि चिकित्सा हेतु उपवास करने वाले, तेला से अधिक उपवास करने वाले, ग्लान और आत्म लब्धिवान मुनि को बचा हुआ आहार न दें, जबकि शेष मुनियों को अवशिष्ट आहार देने का स्पष्ट उल्लेख है।[9]

आहार और विवेक

आहार करते समय मुनि को सबसे पहले स्निग्ध और मधुर पदार्थ खाने चाहिए। इनसे पित्त आदि का शमन होता है और शक्ति एवं बुद्धि का संवर्धन होता है। अनुभवियों ने कहा भी है 'घृतेन वर्धते मेधा' घृत से मेधा बढ़ती है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से विरोधी अथवा बेमेल द्रव्यों को मिलाकर न खायें। इससे आहार अहितकर हो जाता है जैसे दही और तेल का मिश्रण तथा दूध, दही और कांजी का मिश्रण करना आदि अलाभकारी है। इस तरह के आहार का सेवन करने पर कई रोगों के उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है। अत: अविरुद्ध द्रव्यों के मिश्रण वाला ही आहार करना चाहिए। वही पथ्य आहार माना जाता है। पथ्य आहार के सेवन से पुराना रोग नष्ट हो जाता है और नया रोग उत्पन्न नहीं होता।

मुनि को यह विवेक रखना भी अत्यावश्यक है कि वह आहार करते समय सुर-सुर या चव-चव की आवाज न करे। आहार को अति शीघ्रता से या अति धीरे-धीरे न खाए, नीचे बिखेरते हुए या राग-द्वेष युक्त विचारों से न खाएं।[10]

दशवैकालिक सूत्र में आहार विवेक के प्रति सचेत करते हुए मुनि को सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस पीने का निषेध किया गया है, क्योंकि मादक रस का सेवन करने से उन्मत्तता, माया, मृषा, अयश, अतृप्ति और असंयम में प्रवृति आदि दोष लगते हैं।[11]

प्रस्तुत सूत्र में यह भी बतलाया गया है कि कदाच किसी मुनि को सरस आहार की प्राप्ति हो जाये और वह सोचने लगे कि आचार्य आदि को दिखाने पर वे स्वाद के वशीभूत होकर अकेले ही ग्रहण कर लेंगे अत: मार्ग में ही सरस

आहार का सेवन कर लेता है तो वह रसलोलुपी वृत्ति के कारण प्रगाढ़ पाप बन्ध करता है और निर्वाण पथ से दूर हो जाता है। कदाचित कोई मुनि विविध प्रकार के भोजन और पानी को प्राप्त कर उनमें से सरस और स्वादिष्ट आहार कहीं एकान्त में बैठकर कर ले तथा विवर्ण और विरस आहार को स्थान पर ले आए तो द्रव्य-भाव संयुक्त अविवेक होता है।[12]

अविवेक पाप कर्मों का प्रतिबंधक है, अत: मोक्षाभिलाषी मुनि विवेक का दीप प्रज्वलित रखते हुए संयम धर्म का संपोषण करें।

आहार दान का अधिकारी कौन?

दिगम्बर साहित्य के अनुसार निम्न गुणों से युक्त गृहस्थ आहार दान का अधिकारी माना गया है–

1. जो गृहस्थ प्रतिदिन देव दर्शन करने वाला, रात्रिभोजन एवं सप्त व्यसनों का त्यागी और सच्चे देव, गुरु, धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाला हो।

2. जिनकी आय का स्रोत हिंसात्मक एवं अनुचित न हो यानी शराब का ठेका, जुआ, सट्टा खिलाना, कीटनाशक दवाएँ, नशीली वस्तु के व्यापार का परित्यागी हो।

3. जिनके परिवार में जैनेतरों से विवाह सम्बन्ध न हुआ हो।

4. जिनके परिवार में विधवा का विवाह सम्बन्ध न हुआ हो।

5. जो अपराध, दिवालिया, पुलिस केस, सामाजिक प्रतिबंध आदि से रहित हो।

6. जो हिंसक प्रसाधन सामग्री (कोस्मेटिक) एवं रेशमी वस्त्रों आदि का उपयोग न करते हों एवं नाखून न बढ़ाते हों।

7. जो किसी भी प्रकार के जूते, चप्पल आदि का निर्माण या व्यवसाय न करते हों।

8. जो भ्रूणहत्या, गर्भपात आदि पापवर्धक प्रवृत्तियाँ करते हों, नहीं करवाते हों और उसमें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से भी सहभागी नहीं होते हों।

9. शरीर में घाव हो, खून निकल रहा हो अथवा बुखार, सर्दी, खाँसी, केंसर, यक्ष्मा (T.B.), सफेद दाग आदि रोगों से आक्रान्त हो तो आहार नहीं दें।

10. रजस्वला स्त्री छठवें दिन अरिहंत परमात्मा के दर्शन, पूजन एवं साधु को आहार दे सकती हैं। अशुद्धि के दिनों में चौके से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं

करें और खाद्य सामग्री का शोधन भी न करें। जो बर्तन स्वयं के उपयोग में लिए हों, उन्हें अग्नि से तपाकर शुद्ध करें।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी पूर्वोक्त नियमों का पालन करने वाला गृहस्थ आहार दान का अधिकारी होता है।[13]

आहार दान सम्बन्धी सावधानियाँ

पं. राजकुमार शास्त्री के उल्लेखानुसार दिगम्बर मुनि को आहार करवाते समय अग्रलिखित नियमों पर ध्यान देना आवश्यक है–

1. पाद प्रक्षालन के पश्चात गंधोदक की थाली में हाथ नहीं धोयें तथा सभी लोग गंधोदक अवश्य लें।

2. चौके में पैर धोने के लिए प्रासुक जल रखें और सभी आहार दाता एड़ी अच्छी तरह धोकर ही प्रवेश करें एवं चौके के अंदर भी अच्छी तरह से हाथ धोयें।

3. पड़गाहन के समय साफ-सुथरी जगह पर खड़े होवें। जहाँ नाली का पानी बह रहा हो, मृत जीव-जन्तु पड़े हों, हरित घास हो, पशुओं का मल हो, ऐसे स्थान से पड़गाहन न करें एवं मुनियों को चौके तक ले जाते समय भी इन सभी बातों का ध्यान रखें।

4. मुनि की परिक्रमा नीचे देखते हुए करें एवं परिक्रमा करते समय साधु की परछाई पर पैर नहीं पड़े इसका ध्यान रखें।

5. साधु के पड़गाहन के बाद आहार करते समय भी साधु की परछाई पर पैर नहीं पड़े इसका ध्यान रखें।

6. यदि दूसरे के चौके में प्रवेश करना हो तो श्रावक एवं साधु से अनुमति लेकर ही प्रवेश करें।

7. मुनि को आहार देते वक्त इधर-उधर जाना पड़े तो नीचे देखकर जीवों को बचाते हुए चलें। यदि कोई जीव दिखे तो उसे सावधानी से दूर कर दें।

8. पूजन सामग्री एक व्यक्ति चढ़ायें जिससे द्रव्य गिरे नहीं, क्योंकि उससे चीटियाँ आती हैं। खड़े होते समय हाथ जमीन पर नहीं टेकें।

9. चौकी पड़गाहन से पूर्व ऐसे स्थान पर लगायें, जहाँ पर पर्याप्त प्रकाश हो, ताकि साधु को आहार शोधन में असुविधा न हो।

10. खाद्य सामग्री एक ही व्यक्ति दिखाये जो चौके का हो और जिसे सभी जानकारी हो।

11. पड़गाहन करते समय महिलायें एवं पुरुष मस्तक ढककर रखें, जिससे बाल गिरने की संभावना न हो।

12. हाथ जोड़कर शुद्धि बोलें। आहार सामग्री लेकर शुद्धि नहीं बोलें, क्योंकि इससे थूंक के कण सामग्री में गिर सकते हैं। आहार दान के पश्चात मौन में रहें। बहुत आवश्यक होने पर सामग्री ढँककर सीमित बोलें।

13. पात्र पर जाली बांधें। पात्र गहरा और बड़ा हो, जिससे यदि जीव गिरें तो डूबे नहीं।

14. आहार का दान नवधा भक्ति पूर्वक करें, क्योंकि इस विधिपूर्वक आहार करवाने से पुण्य का बंध होता है। यहाँ नवधा भक्ति से तात्पर्य पड़गाहन, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजन, नमन, मन:शुद्धि, वचन शुद्धि एवं काय शुद्धि इन नौ प्रकार के आचारों का परिपालन करना है।[14]

15. अहिंसक मुनि किसी भी वनस्पति को रस के रूप में, साग के रूप में, शेक (गाढ़ा रस) के रूप में या चटनी के रूप में ही लेते हैं गृहस्थ के समान सचित्त फल के रूप में नहीं लेते।

16. फलों में जैसे कि नाशपति, सेव, केला, अंगूर, अमरूद आदि के टुकड़ों को 5-10 मिनिट पानी में उबालने से प्रासुक हो जाते हैं, फिर उन्हें आहार के रूप में बहराएँ। श्वेताम्बर परम्परानुसार किसी भी प्रकार का फल उसके बीज निकालने के 48 मिनिट पश्चात प्रासुक एवं ग्राह्य होता है। दिगम्बर मान्यतानुसार जिसका स्पर्श, रस, गंध, वर्ण बदल जाए एवं लौकी की सब्जी जैसे मुलायम हो जाए वही वस्तु प्रासुक कहलाती है। साधु अधपका आहार नहीं ले सकते क्योंकि अंगुल के असंख्यातवें भाग में जीव रहते हैं।

17. लौकी, परवल, करेला, गिलकी, टिंडा आदि साग उबालकर बहराएं।

18. खरबूजा, पपीता, पका आम, चीकू इन फलों के बीज एवं छिलके दूरकर शेक बनाकर (फेंटकर) बहरायें। इसमें कोई टुकड़ा न रह जाये, सावधानी रखें क्योंकि टुकड़ा अप्रासुक माना जाता है।

19. मौसंबी, संतरा, अनानास, नारियल, सेव, ककड़ी, नीबू आदि का रस बहराएं, इनके दाने अप्रासुक होते हैं अत: उन्हें गर्म करना व्यर्थ है। रस हाथ

के घर्षण से प्रासुक हो जाता है। सभी रस कांच के बर्तन, शीशी आदि में रखें, अन्यथा 30 मिनिट बाद विकृत होने की संभावना रहती हैं।

20. कच्ची मूंगफली, चना, मक्का, ज्वार, मटर आदि जल में उबालकर या सेककर दें तथा सूखी मूंगफली, उड़द, मूंग, चना आदि को साबूत नहीं उबालें, क्योंकि इनके बीच में त्रस जीव रह सकते हैं।

21. किसी भी फल का बीज प्रासुक नहीं होता है इसलिए उनमें से बीज निकालकर ही बहराएं।

22. ड्रायफ्रूट जैसे-काजू, बादाम, पिस्ता आदि के दो भाग करके एवं मुनक्का को बीज रहित करके दें। किसमिस-मुनक्का को जल में गलाने से उनके तत्त्व निकल जाते हैं अतएव उन्हें गलाए नहीं, यदि गलाएँ तो उसका जल अवश्य दें।

23. कच्चे दूध, दही, छाछ के साथ दो दल वाली वस्तुएँ जैसे मूंग, उड़द, चना आदि का आहार एक साथ नहीं दें। दो दल वाली ऐसी वस्तुएँ, जिनमें तेल निकलता हो, जैसे मूंगफली, बादाम आदि दही-छाछ के साथ अभक्ष्य नहीं होती हैं अत: इन्हें एक साथ भी दे सकते हैं।

24. पीसे हुए नमक को जल में उबालने पर प्रासुक होता है। आजकल बांटकर गरम कर लेने पर भी उसे प्रासुक मान लेते हैं। मुनियों के लिए दोनों तरह का नमक अलग-अलग कटोरी में रखें।

25. दिगम्बर मतानुसार गीले नारियल को घिसकर उसकी चटनी बनाने पर ही वह प्रासुक होता है अत: गीला नारियल चटनी बनाकर दें।

26. भोजन सामग्री को दूसरी बार गर्म करना, कम पकाना (कच्चा रह जाना), ज्यादा पकाना (जल जाना) यह द्विपक्वाहार कहलाता है। ऐसा आहार साधु के लेने योग्य नहीं होता है तथा आयुर्वेद में भी ऐसे भोजन को विष वर्धक माना गया है इसलिए द्विपक्वाहार न दें।

27. सब्जी वगैरह में अधिक मात्रा में लाल मिर्च का प्रयोग न करें, क्योंकि अधिक मिर्च होने पर मुनियों के पेट में जलन हो सकती है।

28. आहार सामग्री सूर्योदय के दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व तक बनाएँ। रात्रि में बनाया आहार अभक्ष्य हो जाता है।

29. जो मुनि बूरा या गुड़ नहीं लेते हैं उनके लिए छुहारे का पाउडर या चटनी सामग्री में मिलाकर दे सकते हैं।

30. जीरे आदि मसाले खड़े नहीं डालें, अलग से पीसें। साग में सेंककर डालें, पहले डालने से जल जाते हैं एवं सुपाच्य नहीं होते और पेट में गैस बनाते हैं।[15]

दिगम्बर मतानुसार आहार सामग्री की शुद्धि भी निम्न प्रकार से आवश्यक है–

1. जल शुद्धि – कुएँ में जीवानी (पानी छानने के बाद गरणें में रहे हुए जीव) डालने के लिए कड़े वाली बाल्टी का प्रयोग करें एवं जल जिस कुएँ आदि से भरा है, जीवानी भी उसी कुएँ में धीरे-धीरे छोड़ें। कड़े वाली बाल्टी जब पानी की सतह के करीब पहुँच जाये, तब धीरे से रस्सी को झटका दें, जिससे जलगत जीवों को पीड़ा न हो।

- जब भी चौके में जल छानें तो एक बर्तन में जीवानी रख लें और जब जल भरने जाएँ तो कुएँ में जीवानी छोड़ दें।
- पानी छानने का गरणा 36 इंच लंबा और 24 इंच चौड़ा हो तथा जिसमें सूर्य का प्रकाश न दिख सके वैसा हो। छन्ना सफेद हो तथा गंदा एवं फटा न हो।
- जीवानी डालने के बाद छन्ने को बाहर सूखी जगह पर निचोड़ें क्योंकि बाल्टी में निचोड़ने से जीवानी के सारे जीव मर जाते हैं।
- कुएँ का पानी प्लास्टिक की बाल्टी में न रखें।
- कुआँ, बहती नदी, बावड़ी, चौड़ी बोरिंग जिसमें जीवानी नीचे तक पहुँच सकती हो तथा होज या टंकी में एकत्रित कर रखा हुआ वर्षा जल भी चूना आदि डालकर चौके के लिए उपयोग कर सकते हैं।

2. दुग्ध शुद्धि – शुद्ध जल के द्वारा गाय-भैंस के थनों को धोकर एवं पौंछकर दूध दुहना चाहिए और दुहने के पश्चात छन्ने से छानकर उसे 48 मिनिट में गर्म कर लेना चाहिए, गर्म न करने पर जिस गाय, भैंस का दूध रहता है उसी आकार के सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

3. दही शुद्धि – उबले दूध को ठंडा करके, उसमें बादाम या नारियल की नरेटी का एक छोटा टुकड़ा डालकर दही जमाएँ। जहाँ तक संभव हो गाय के दूध का दही दें, वह सुपाच्य रहता है। छाछ बनाते समय उसमें घी नहीं रह जाए इसका ध्यान रखें।

4. घृत शुद्धि – शुद्ध दही के मक्खन को तत्काल अग्नि पर गर्म करके घृत तैयार कर लेना चाहिए, इसमें से जल का अंश पूर्णतः निकल जाना चाहिए। यदि जल का अंश रह जाये तो चौबीस घंटे के बाद अभक्ष्य हो जाता है। मक्खन को तत्काल गर्म कर लेना चाहिए, जिससे जीवोत्पत्ति न हो। इसी प्रकार मलाई को भी तुरंत गर्म करके घी निकालना चाहिए। कई लोग तीन-चार दिन की मलाई इकट्ठी हो जाने पर गर्म करके घी अभक्ष्य हैं, वह घी अमर्यादित कहलाता है और साधु के लिए अग्राह्य होता है।

5. गुड़ शुद्धि – बाजार में गन्ने के रस की दुकान पर प्रासुक जल से मशीन धुलवाकर और गन्नों का संशोधन करके, अधिक मात्रा में रस निकलवाकर घर पर ही गुड़ बनाना चाहिए। गन्ने के रस का गाढ़ा सीरा बनाकर यह सीरा भी सीधा सामग्री में डाल सकते हैं। जो बूरा नहीं लेते हैं और मीठे का भी त्याग नहीं है तो यह सीरा वे भी ले सकते हैं। बाजार का गुड़ अशुद्ध होता है।

आहार दान सम्बन्धी अन्य नियम

1. आहार के पश्चात जब साधु अंजली छोड़कर कुल्ला करें तो उन्हें लौंग, हल्दी, नमक, माजूफल, शुद्ध सरसों का तेल, शुद्ध मंजन, अमृतधारा, नीबू रस आदि अवश्य दें।

2. गेहूँ और चने की बराबर मात्रा वाले आटे की रोटी में अच्छी तरह घी मिलाकर दें और सादा रोटी चोकर सहित दें, यह स्वास्थ्य वर्धक होती है।

3. मुनि आहार करते समय जब पानी लेते हैं उस समय अजवाइन मिश्रित पानी भी दें, इससे गैस के रोगों में आराम मिलता है।

4. आहार के अन्त में सौंफ, लौंग, अजवाइन, नमक, सौंठ, हल्दी, गुड़ की डली और नींबू का रस अवश्य दें। ये वस्तुएँ ऋतु के अनुसार मर्यादित होनी चाहिए एवं मसाले पूर्ण रूप से पीसे हुए हों।

5. मूंग की दाल छिलके वाली ही बनाएँ तथा दाल के पानी में घी मिलाकर देने से लाभदायक होता है।

6. जल के आगे-पीछे किसी तरह का रस नहीं दें और नींबू के साथ घी नहीं दें, क्योंकि वह विषवर्धक होता है।

7. दूध के आगे-पीछे खट्टे पदार्थ, दही, रस आदि नहीं दें।

8. गेहूँ, मूंग, घी, मुनक्का, मीठा अनार, पके आम, आंवला, कैंथ, दूध, सेंधा नमक आदि वात शांति के द्रव्य हैं।

• मधुर रस, चावल की खीर, मुनक्का, आंवला, छुआरा, ककड़ी, केला, घी, दूध आदि पित्त शांति के द्रव्य हैं।

• चना, गुड़, सौंठ, काली मिर्च, पीपर आदि कफ शांति के द्रव्य हैं।

देह निरोगता के लिए वात, पित्त, कफ की शांति आवश्यक है। इसलिए मुनि को आहार देते समय त्रिदोष नाशक वस्तुएँ अवश्य प्रदान करें।

निरन्तराय आहार हेतु अपेक्षित सावधानियाँ

मुनि को आहार देते समय किसी तरह की अन्तराय न आये, यह दाता की सर्वोत्तम उपलब्धि है क्योंकि निरंतराय आहार से श्रमण धर्म की साधना उत्तरोत्तर की जा सकती है।

1. तरल पदार्थ– जल, दूध, रस आदि जो भी प्रदान करें तुरंत छानकर दें, लेकिन प्लास्टिक की छन्नी का प्रयोग नहीं करें। एकदम जल्दी और एकदम धीरे नहीं दें।

2. पड़गाहन से पूर्व देने योग्य खाद्य सामग्री का शोधन कर लें तथा चौके में जीव वगैरह न हो इसका भी सूक्ष्मता से निरीक्षण कर लें।

3. यदि साधु को आहार लेते समय घबराहट हो रही हो तो नींबू, अमृतधारा या हाथ में थोड़ा बेसन लगाकर सुंघा दें।

4. चौके के अतिरिक्त अन्य लोगों को खाद्य सामग्री नहीं पकड़ाएं, उनसे चम्मच द्वारा ही सामग्री दिलवायें।

5. कोई भी वस्तु जल्दबाजी में नहीं दें। देने योग्य वस्तु को कम से कम तीन बार पलटकर देखें।

6. खाद्य सामग्री का शोधन वृद्धजनों एवं बच्चों से न करवायें, उनके द्वारा कोई भी सामग्री चम्मच से दिलवायें।

7. मुनि, आर्यिक, ऐलक, क्षुल्लक आदि मुनियों को किसी भी खाद्य वस्तु के लिए तीन बार निवेदन करें। कोई भी सामग्री जबरदस्ती नहीं दें।

8. यदि देय पात्र में मक्खी गिर जाये तो उसे राख में रखने से मरने की संभावना नहीं रहती है।

9. ग्रास देने का कार्य एक ही व्यक्ति करें क्योंकि उसका उपयोग स्थिर

रहता है और शोधन अच्छे से होता है।

10. एक व्यक्ति एक ही वस्तु पकड़े, क्योंकि इससे शोधन अच्छी तरह हो सकता है।

11. आहार देते समय भावों की विशुद्धि को उत्तरोत्तर बढ़ायें। संभव हो तो अन्तर्मन में नवकार मंत्र भी पढ़ सकते हैं।

12. प्रतिदिन माला गिनें कि तीन कम नौ करोड़ मुनिराजों का आहार निरंतराय हो।

13. आहार का शोधन खुली प्लेट में ही करें, जिससे सूक्ष्म जीवों को अच्छी तरह देखा जा सके।

14. सूखी सामग्री का शोधन एक दिन पहले ही अच्छी तरह कर लेना चाहिए, जिससे कंकर, बीज आदि का शोधन ठीक से हो जाये।

15. अधिक गर्म जल, दूध वगैरह न दें, थाली में थोड़ा ठंडा करके दें। यदि गाय का दूध हो तो ऐसे ही दें और भैंस का हो तो आधे गिलास दूध में आधा जल मिलाकर दें। यदि ऐसा ही लेते हों तो बिना जल मिलाएँ भी दे सकते हैं।

16. आहार देते समय जिस हाथ में पात्र हो उससे ग्रास नहीं उठायें, क्योंकि इससे अन्तराय हो जाता है। सामान्यतया अन्तराय आने में साधु का लाभान्तराय कर्म एवं दाता का दानान्तराय कर्म का उदय होता है। लेकिन दाता की असावधानियों के कारण भी कई बार अंतराय आती हैं।

17. आहार दान के समय द्रव्य, क्षेत्र काल एवं भाव शुद्धि, ईंधन शुद्धि और बर्तनों की शुद्धि आवश्यक है।

18. साधु को आहार देते समय दाता का हाथ साधु की अंजली से स्पर्श नहीं होना चाहिए। यदि अंजली के बाहरी भाग से कोई बाल या जीव हटाना हो तो हटा सकते हैं।

19. सामग्री देते समय उसे गिराए नहीं, कभी-कभी अधिक गिरने से साधु वह वस्तु लेना बंद भी कर सकते हैं।

20. गैस, चूल्हा, लाईट आदि पड़गाहन के पूर्व ही बंद कर दें।

21. आहार दाता मन्दिर के वस्त्र पहनकर भिक्षा नहीं दें तथा पुरुष वस्त्र बदलते समय गीला तौलिया पहनकर वस्त्र बदलें, क्योंकि अशुद्ध वस्त्रों के ऊपर शुद्ध वस्त्र पहनने से शुद्ध वस्त्र भी अशुद्ध हो जाते हैं। महिलाओं एवं

बच्चों को भी यह सब नियम ध्यान रखने चाहिए। उन्हें फटे एवं गन्दे वस्त्र भी नहीं पहनने चाहिए तथा चलते समय वस्त्र जमीन में भी नहीं लगने चाहिए।

22. शुद्धि के वस्त्र बाथरूम आदि में नहीं बदलें और शुद्धि के वस्त्र पहनकर शौच अथवा बाथरूम का प्रयोग नहीं करें और यदि करें तो उन वस्त्रों को पूर्ण रूप से बदलकर स्नानपूर्वक नये शुद्ध वस्त्र धारण करना आवश्यक है अन्यथा काय शुद्धि नहीं रहती।

23. चौके में कंघा, नेल पॉलिश, बेल्ट, स्वेटर आदि नहीं रखें एवं चौके में कंघी भी नहीं करें।

24. यदि मुनि को आहार देना हो तो टेबिल पहले से रख लें। यदि आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक हो तो बड़ी चौकी रखें। जिस पर सामग्री रखने में सुविधा रहती है।

25. बर्तनों में वार्निस एवं स्टीकर नहीं लगा होना चाहिए क्योंकि वह सर्वथा अशुद्ध है।

26. जहाँ चौका लगा हो उस कमरे में लेटरिन, बाथरूम नहीं होना चाहिए।

27. कमण्डलू में चौबीस घंटे की मर्यादा वाला गर्म जल ही भरें, ठंडा या कम मर्यादा वाला नहीं।

28. जिसकी गर्माहट में थोड़ा-थोड़ा अंतर हो ऐसा जल तीन बर्तनों में तीन जगह रखना चाहिए जिसे साधु की अनुकूलता के अनुसार दे सकें।

29. यदि आहार का दान दूसरे के चौके में कर रहे हों तो अपनी भोजन सामग्री अवश्य ले जाएं।

30. जब भी चक्की से कुछ पीसें या पिसवाएँ तो वह साफ होनी चाहिए, क्योंकि वहाँ सूक्ष्म जीव-जंतु और उसमें पुराना आटा भी लगा रह सकता है। अत: शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु में क्रमश: 7, 5, 3 दिन के अन्तर से चक्की अवश्य साफ करें।

31. यदि हाथों में किसी प्रकार की आहार सामग्री लगी हुई हो तो आहार नहीं दें।

32. परिवार में सूतक-पातक होने पर और शव दाह में सम्मिलित होने पर भी आहार दान नहीं करें।

33. आहार देते समय मृत्यु सम्बन्धी बात नहीं करें। पीप, चमड़ा आदि

असभ्य शब्द न बोलें इससे अन्तराय होता है।

34. अतिथि संविभाग व्रत लाभकारी है। पड़गाहन के लिए द्वार पर प्रतीक्षा करने से संपूर्ण आहार का लाभ मिल जाता है। प्रतीक्षा के बाद भी मुनि भगवन्त नहीं आये तो संक्लेश नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उनका आहार निरंतराय हो, ऐसी भावना भानी चाहिए।

भिक्षाचर्या (गवेषणा) सम्बन्धी मर्यादाएँ

अर्हत परम्परा के साधु-साध्वी भिक्षा सम्बन्धी आचार नियमों का सुविशुद्ध रूप से अनुपालन कर सकें, इस दृष्टि से ओघनिर्युक्तिकार ने 11 द्वारों का उल्लेख किया है जो निम्नोक्त हैं[16]–

1. स्थान – भिक्षाग्राही मुनि शास्त्र नियमानुसार आहार लेते समय तीन स्थानों का वर्जन करें- 1. आत्मोपघाती 2. संयमोपघाती और 3. प्रवचनोपघाती। जहाँ गाय आदि पशुओं के बैठने-रहने का स्थान है वहाँ खड़े होकर भिक्षा लेना आत्मोपघाती कहलाता है, क्योंकि वहाँ गाय आदि पशुओं के उपद्रव होने की संभावना रहती है, कदाच पशु क्रोधाविष्ट हो तो आत्म विराधना हो सकती है।

जहाँ सचित्त पृथ्वी, पानी आदि रहे हुए हो वहाँ खड़े होकर आहार लेना अथवा जहाँ खड़े होकर आहार लेने से ऊपर या नीचे सचित्त फल आदि का स्पर्श हो रहा हो वहाँ भिक्षा लेना संयमोपघाती कहलाता है क्योंकि ऐसे स्थान पर खड़े रहने से जीव हिंसा की संभावना रहती है, उससे संयम की विराधना होती है।

अशुचि के स्थान पर खड़े होकर भिक्षा लेना प्रवचनोपघाती कहलाता है। इससे जिन शासन की निन्दा और धर्म की हीलना होती है अतः मुनि इन तीन स्थानों पर खड़े होकर आहार ग्रहण नहीं करें।

2. दायक – भिक्षाग्राही मुनि शास्त्र निषिद्ध 20, 29 या 40 व्यक्तियों के हाथ से भिक्षा नहीं लें।

3. गमन – यदि दाता आहार देने के लिए पाकशाला (रसोई) आदि में आना-जाना करे तो मुनि उसकी गमन क्रिया का निरीक्षण करें। यदि दाता अयतना पूर्वक चल रहा हो तो भूमि पर रहे हुए जीवों की हिंसा हो सकती है, ऊपर में वृक्षादि हो तो डालियों (वनस्पति जीवों) को कष्ट पहुँच सकता है, तिर्यक् दिशा में छोटे बालक आदि का संस्पर्श हो सकता है परिणामस्वरूप उस

मुनि का संयम दूषित होता है। कदाच दाता गिर जाये और मस्तक आदि पर चोट लग जाए तो आत्म विराधना (मृत्यु) हो सकती है। इस प्रकार अविवेक पूर्वक गमन करने वाले दाता के हाथ से भिक्षा नहीं लें।

4. ग्रहण– दाता जिस स्थान से भिक्षा में देने योग्य पदार्थ ग्रहण कर रहा हो मुनि उस जगह का निरीक्षण करें। यदि घर का दरवाजा छोटा हो, कपाट बंद हो या पर्दा आदि होने से दाता की ग्रहण क्रिया नहीं दिखाई देती हो तो उत्सर्गत: उस दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण नहीं करे। अपवादत: दाता की ग्रहण क्रिया दिखाई नहीं देने पर भी भिक्षार्थ समुपस्थित हुआ मुनि कर्ण आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण सम्बन्धी दोषों को जानने का प्रयत्न करें। जैसे कि गृहस्थ आहारादि देने के लिए हाथ या पात्र धो रहा हो तो पानी के गिरने का शब्द सुने, जीवों की हिंसा कर रहा हो तो स्पर्श, रस एवं गंध से जाने। इस तरह इन्द्रियों द्वारा सजग रहने के उपरान्त भी दोषों की शंका न हो तो भिक्षा ग्रहण करें।

5. आगमन– यदि दाता आहार सामग्री लेकर मुनि के सम्मुख आ रहा हो तो उसकी आगमन क्रिया का निरीक्षण करें। इसमें भी गमन क्रिया की तरह विवेक रखें। यदि आगमन क्रिया यतना पूर्वक हो रही हो तो ही उस दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण करें।

6. प्राप्त– जो गृहस्थ भिक्षा देने हेतु उपस्थित हो वह प्राप्त कहलाता है। उस दाता के हाथ पानी से गीले हैं या सूखे? जिस पात्र में आहार रखा हुआ है वह किसी सचित वस्तु से संसक्त है या असंसक्त? आदि का निरीक्षण करें। यदि दाता और पात्र दोनों निर्दोष हो तो भिक्षा ग्रहण करें।

7. परावर्तित – जिस पात्र से आहार देना हो उस पात्र को उल्टा कर देना परावर्तित कहलाता है। गृहस्थ आहार दिए जा रहे पात्र को उल्टा करे तो साधु उस क्रिया का निरीक्षण करें, यदि वह पात्र सचित्त जल या त्रस जीव से युक्त हो तो उससे भिक्षा ग्रहण नहीं करें।

8. पातित – जो आहार दिया जा रहा है अथवा दिया जा चुका है, मुनि उस आहार का वहीं पर अन्वेषण करें कि दिया गया चावल या चूरमा आदि स्वाभाविक है या कृत्रिम?

सेकें हुए जौ-चने आदि का आटा अथवा मूंग के आटे के बने लड्डू आदि शुद्ध है या अशुद्ध ? इस तरह का निरीक्षण करें। यदि लड्डू आदि अशुद्ध लगे

तो उसके टुकड़ें करवा कर देखें। यदि ऐसा नहीं करें तो कदाच दाता ने साधु के प्रति रोष आदि होने के कारण उसमें रत्न-अंगूठी आदि रखी हो तो उसे अखंड लेने पर साधु के ऊपर चोरी का कलंक आ सकता है और राजदंड आदि भी हो सकता है अथवा उसको खाने से आत्म विराधना भी हो सकती है। अतः दी जा रही वस्तु को भलीभांति देखकर ही ग्रहण करना चाहिए।

9. गुरुक – गृहस्थ के आहार देने का पात्र या उसके ऊपर का ढक्कन आदि बहुत भारी हो तो वह गुरुक कहलाता है। मुनि इस तरह के भारी पात्र से आहार ग्रहण नहीं करे परन्तु आसानी से दिया जा सके ऐसे पात्र से भिक्षा लें। भारी पात्र से आहार लेने पर उसे उठाने या रखने में उस पात्र के गिरने की आशंका रहती है यदि गिर जाये तो दाता या साधु को चोट पहुँच सकती है।

10. त्रिधा – भिक्षार्थी मुनि तीन प्रकार के काल और दाता का ध्यान रखें। इसमें ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा ऋतु ये तीन प्रकार के काल होते हैं और स्त्री, पुरुष और नपुंसक ऐसे दाता भी तीन प्रकार के होते हैं। उसमें स्त्री उष्ण, पुरुष मध्यम एवं नपुंसक शीतल जानना चाहिए। इन दाताओं के हाथ से किन स्थितियों में भिक्षा ली जा सकती है या नहीं ली जा सकती है, इसका ध्यान रखें।

11. भाव – आहार दाता के अध्यवसायों का निरीक्षण करें। यदि वह प्रशस्त भाव पूर्वक भिक्षा दे रहा हो तो उसे ग्रहण करें। उपेक्षा पूर्वक दी जाने वाली भिक्षा ग्रहण नहीं करें। इस तरह भिक्षाग्राही मुनि को इन ग्यारह मर्यादाओं का विधियुक्त परिपालन करना चाहिए।

ओघनिर्युक्ति में भिक्षाचर्या से सम्बन्धित अष्टविध मर्यादाओं का सूचन भी किया गया है।[17]

1. परिमाण – जैन मुनि की भिक्षाचर्या सम्बन्धी पहली मर्यादा यह है कि वह गृहस्थ के घर भिक्षा हेतु दो बार ही जाएं। एक बार मलादि की शंका होने पर अपान स्थान की शुद्धि हेतु पानी के लिए जाएं और दूसरी बार भिक्षार्थ जाएं। इसके अतिरिक्त तीसरी बार गृहस्थ के घर जाने का विधान नहीं है। तदुपरान्त कोई मुनि रुग्ण हो जाये तो उपचारार्थ अनेक बार जाने की भी मर्यादा है, किन्तु वह मूलतः अपवाद मार्ग ही है।

पाँचवें महाव्रत में 'संनिधि' नामक दोष न लग जाये इस उद्देश्य से प्राचीन काल में तथा वर्तमान में स्थानकवासी परम्परा के कुछ मुनि रात्रि में पानी नहीं

रखते, स्थण्डिल के निमित्त जब पानी की जरूरत पड़ती है तब ही लाते थे। परन्तु आजकल रात्रि में चूने का पानी रखने का व्यवहार है इस दृष्टि से मुनि को गृहस्थ के घर एक बार ही जाना चाहिए।

2. काल– बाल-वृद्ध-तपस्वी-रोगी आदि साधुओं के लिए दिन की प्रथम पौरुषी का आधा भाग बीत जाये तब आहार के लिए गमन करें। अन्य कारण होने पर गृहस्थ के भोजन समय में या मध्याह्न में भिक्षा हेतु जायें।

3. आवश्यक – मुनि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्त होने के पश्चात ही आहार के लिए प्रस्थान करें, अन्यथा बीच मार्ग में मल या मूत्र करने पर धर्म का उपहास होता है।

4. संघाटक – भिक्षार्थ मुनि अकेला नहीं जाये, किसी एक मुनि के साथ जायें। एकाकी जाने से किसी स्त्री का या किसी द्वेषी आदि का उपद्रव हो सकता है। बृहत्कल्पसूत्र में अकेले मुनि के द्वारा भिक्षार्थ जाने पर संभावित नौ हानियाँ बतायी गयी है।[18]

5. उपकरण– उत्सर्गत: भिक्षाग्राही मुनि स्वयं के सभी उपकरणों को संलग्न रखते हुए भिक्षा की गवेषणा करे। अपवादत: जो मुनिगण अशक्त आदि हों वे पात्र, पडला, रजोहरण, डंडा, ऊनी कंबली, दो सूती चद्दर और मात्रक- इतनी वस्तुएँ तो जरूर साथ में रखें।

6. मात्रक – भिक्षाटन करते समय मुनि मात्रक भी साथ में रखें। ओघनिर्युक्ति में भिक्षाचर्या के दौरान मात्रक रखने के निम्न प्रयोजन बताये गये हैं–

यदि आचार्य के लिए कोई अनुकूल आहार अलग से ग्रहण करना हो तो मात्रक का उपयोग करना चाहिए। इसी तरह रोगी अथवा प्राघुर्णक (अतिथि) साधुओं के निमित्त अलग से आहार लेने के लिए, घृत आदि कोई दुर्लभ वस्तु मिल जाये तो उसे लेने के लिए, अचानक किसी समय बहुत आहार मिल रहा हो तब जिसको थोड़े आहार के कारण संयम निर्वाह में कठिनाई हो रही हो तो उसके अनुग्रहार्थ अधिक आहार लेने के लिए और सेके हुए चने का आटा लेते समय गेहूँ आदि संसक्त पदार्थ आ गया हो तो जीव रक्षार्थ उसे अलग करने के लिए मात्रक रखने का विधान है।[19]

वर्तमान में पात्रों की संख्या बढ़ जाने से मात्रक की उपयोगिता नहींवत रह

गई है। मात्रक रखने की मर्यादा पूर्वकाल की अपेक्षा नि:सन्देह औचित्यपूर्ण है।

7. कायोत्सर्ग – भिक्षाग्राही मुनि उपयोग का कायोत्सर्ग करके आहार हेतु प्रस्थान करें।

8. जस्स य जोगो – भिक्षार्थ मुनि गुरु के सम्मुख 'जस्स य जोगो' कहकर समस्त प्रकार की कल्प्य वस्तु ग्रहण करने की अनुमति लेकर जाएं। उक्त आठों भिक्षाचर्या सम्बन्धी औत्सर्गिक मर्यादाएँ हैं। मुनियों को इन नियमों का निश्चित रूप से पालन करना चाहिए।

मर्यादा सम्बन्धी अपवाद

उपर्युक्त आठ मर्यादाओं का अपवादिक स्वरूप इस प्रकार है–

1. परिमाण – आचार्य, गुरु, तपस्वी, रोगी आदि की सेवा करनी हो तो गृहस्थ के घर कई बार जा सकते हैं।

2. काल – बीमार या तपस्वी के पारणा आदि का प्रसंग हो तो भिक्षा काल से पूर्व या भिक्षा काल व्यतीत हो जाने के पश्चात भी भिक्षाटन कर सकते हैं।

3. आवश्यक – कदाचित मुनि ने लघुनीति-बड़ीनीति की शंका से निवृत्त हुए बिना भिक्षार्थ प्रस्थान कर लिया हो और कुछ दूर पहुँचने पर शंका हो जाए तो पुन: वसति में लौटकर शंका का निवारण करके फिर जाएं। यदि अधिक दूर पहुँचने पर शंका हो जाए तो अपने हाथ में लिए हुए पात्र आदि सहवर्ती साधु को सुपुर्दकर फिर शंका का निवारण करने जाए। यदि पर्याप्त काल तक शंका को रोकने में असमर्थ हो और निकट में साम्भोगिक (समान आचार वाले) साधु की वसति हो तो वहाँ जाए। यदि वैसा स्थान न मिले तो भिन्न सामाचारी वाले साधुओं के स्थान पर जाए, उसके अभाव में शिथिलाचारी साधुओं के स्थान पर जाये, उसके अभाव में श्रद्धालु श्रावक के घर पर जाए, उसके अभाव में किसी वैद्य के घर जाकर यह समझाये कि 'शरीर के मल-मूत्र आदि तीन शल्य कहलाते हैं' और मुझे 'मल-मूत्र आदि की शंका है' ऐसा कहे। उसके बाद वह जहाँ अनुमति दे वहाँ शंका का निवारण करे। यदि ऐसा संभव न हो सके तो राजमार्ग में दो घरों के बीच में जहाँ गली हो, वहाँ या किसी गृहस्थ के मालिकी की जगह में शंका का निवारण करे। इसमें इतना विशेष है कि राजमार्ग आदि प्रसिद्ध स्थानों पर शंका का निवारण करना पड़े तो मलोत्सर्ग

करे, मूत्रोत्सर्ग नहीं, क्योंकि मल स्थान को स्वच्छ किया जा सकता है जबकि मूत्र स्थान को नहीं। चाणक्य नीति में भी कहा गया है– यदि लघुनीति न की हो तो कोई गुनाह नहीं है इसलिए मलोत्सर्ग करे, किन्तु मूत्रोत्सर्ग नहीं करे। यह नियम मुनि जीवन की सभ्यता का परिचायक है। यदि सभ्य संस्कृति का ध्यान न रखा जाये तो जन साधारण को साधु धर्म के प्रति अप्रीति हो सकती है। इससे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बंधता है और उससे संसार की वृद्धि होती है।

इस आपवादिक मर्यादा का हार्द यह है कि मुनि मल-मूत्र की शंका को दूर करके ही भिक्षा के लिए गमन करे। यदि किसी कारण वश शंका दूर करना भूल जाये और मार्ग में शंका हो जाये तो पूर्वोक्त विधिपूर्वक उसका उत्सर्ग करें।

4. संघाटक – यदि संभव हो तो दो साधु एक साथ भिक्षार्थ जाएं। यदि भिक्षा की दुर्लभता हो तो गुरु, श्रद्धालु और लब्धिवंत साधुओं को अकेले भिक्षाटन करने की अनुमति दें तथा एकाकी इच्छुक साधु को अनेक तरह से समझाया जाए।

5. उपकरण – इस द्वार की आपवादिक विधि उत्सर्ग मर्यादा के साथ कह दी गई है।

6. कायोत्सर्ग – विस्मृति वश या शीघ्रादि कारणों के उपस्थित होने पर भिक्षाचर्या हेतु बिना कायोत्सर्ग भी जा सकते हैं।

7. मात्रक – मात्रक पर रंग किया हुआ हो तो अपवादत: भिक्षाटन के समय साथ में न रखें।

8. जस्स य जोगो – गुरु के समक्ष यह वाक्य बोलना ही चाहिए, अन्यथा गुरु अदत्त का दोष लगता है। इसमें अपवाद नहीं है।[20]

भिक्षाचर्या से सम्बन्धित आवश्यक नियम

भिक्षाचर्या, श्रमण जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यह चर्या शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार प्रासुक एवं निर्दोष आहार प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती है। मुनि धर्म का सर्व सामान्य नियम यह है कि वह भिक्षा हेतु न स्वयं किसी तरह की हिंसा करे, न दूसरों से हिंसा करवाये और हिंसा करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करे। आचारांग, दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थों में भिक्षाचर्या सम्बन्धी अनेक नियमोपनियम उल्लिखित हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं–

भिक्षागमन सम्बन्धी नियम – दशवैकालिक सूत्र के अनुसार जब भिक्षा काल उपस्थित हो जाये उस समय मुनि आहारादि के प्रति अनासक्ति के भाव रखते हुए उपाश्रय से प्रस्थान करें।

• मार्ग में चलते हुए जीव हिंसा न हो जाये, अत: सजगता पूर्वक चलें और ईर्यासमिति का पालन करते हुए चलें।

• भिक्षा के लिए प्रस्थित हुए मुनि मार्ग में धीमे-धीमे चलें।

• भिक्षार्थ जाते समय हिलते हुए काष्ठ, शिला, ईंट अथवा कच्चे पुल के ऊपर से गमन न करें, क्योंकि इनके हिलने से जीव हिंसा की संभावना रहती है।

• जो मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो, गड्ढे आदि से युक्त हो, कीचड़ से सना हुआ हो, ठूंठ आदि (कटे हुए सूखे पेड़) से बाधित हो तो अन्य मार्ग के होने पर वहाँ से गमन न करें, क्योंकि गड्ढे आदि में गिर जाए या पाँव फिसल जाये तो त्रस या स्थावर जीवों की हिंसा हो सकती है।

• भिक्षार्थी मुनि शील धर्म की सुरक्षा हेतु वेश्या स्थानों के निकट से होकर गमन न करें, क्योंकि वहाँ का वातावरण वासना को उद्दीप्त करने वाला होता है।

• जिस मार्ग पर बहुत से प्राणी भोजन के लिए एकत्रित होकर बैठे हों, जैसे कुक्कुट जाति, शूकर जाति, अग्रपिण्ड के लिए कौए आदि हों तो अन्य मार्ग के होने पर उस मार्ग से न जाएं।

• जिस मार्ग में नव प्रसूता गाय, उन्मत्त बैल, हाथी आदि खड़े हुए हों, बच्चों का क्रीड़ा स्थल हो, अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध हो रहा हो तो अन्य मार्ग के होने पर उस मार्ग का त्याग कर दें।

• यदि वर्षा हो रही हो, कोहरा गिर रहा हो या आंधी चल रही हो अथवा मार्ग में छोटे-बड़े संपातिम जीव उड़ रहे हों तो उस मार्ग से गमनागमन नहीं करें।

• भिक्षा के लिए प्रस्थित हुआ मुनि न तो उन्नत होकर (ऊँचा मुंह करके), न अवनत होकर (नीचा मुँह करके), न हर्षित होकर और न ही आकुल-व्याकुल होकर चले, अपितु इन्द्रियों को संयमित रखते हुए चलें।

• भिक्षा के लिए उद्यत हुआ मुनि जल्दी-जल्दी न चलें, हंसी-मजाक करते हुए न चलें और बोलते हुए भी न चलें, क्योंकि इससे संयम विराधना होती है अत: मौन पूर्वक चलें।

• भिक्षाचर्या के लिए गमन करता हुआ मुनि गृहस्थों के घर की

खिड़कियाँ, झरोखें, संधिस्थल (चोर आदि के द्वारा लगाई हुई सेंध) अथवा जलगृह को न देखें तथा शंका उत्पन्न करने वाले अन्य स्थानों को भी न देखें।

• भिक्षाचर्या करने वाला मुनि राजा, गृहपतियों और आरक्षिकों (गुप्त मंत्रणा) के निवास स्थानों का दूर से ही परित्याग करें, क्योंकि उस ओर गमन करने से संक्लेश पैदा होने की संभावना रहती है।[21]

गृह प्रवेश सम्बन्धी नियम– जैन श्रमण के लिए निंदित कुल में, मामक गृह (गृह स्वामी द्वारा जहाँ प्रवेश करना निषिद्ध हो, उस घर) में एवं अप्रीतिकर कुल में भिक्षार्थ जाने का निषेध किया गया है, इसलिए भिक्षा इच्छुक मुनि इन कुलों में प्रवेश न करें।

• जैन साधु शिष्टाचार का ज्ञाता और विवेकशील होता है अत: गृह स्वामी की आज्ञा लिये बिना किसी घर में प्रवेश न करें।

यदि घर का मुख्य द्वार सन (पटसन या अलसी) से बने हुए पर्दा अथवा वस्त्रादि से ढंका हुआ हो तो उसे स्वयं न हटाये और न ही बन्द दरवाजे को खोलकर गृह में प्रवेश करें। पर्दा हटाने का निषेध इसलिए किया गया है कि कई बार गृहस्थ लोग अपने घर के दरवाजे को सन की चादर या वस्त्र से ढंक देते हैं और निश्चिंत होकर घर में खाते-पीते, आराम करते हैं अथवा गृहणियाँ स्नानादि करती हैं। उस समय बिना अनुमति लिए यदि कोई द्वार पर से वस्त्र को हटाकर या खोलकर अन्दर चला जाये तो उन्हें बहुत अप्रिय लगता है। कई असभ्य गृहस्थ तो साधुओं को टोक देते हैं। कपाट (चूलिये वाला हो तो उसे) खोलने में जीव हिंसा की संभावना रहती है। यह लौकिक शिष्टाचार के भी विरुद्ध है अत: अनुमति लिये बिना ऐसा न करें।

• जिस घर का द्वार नीचा हो, अंधेरा छाया हुआ हो, जिस कक्ष में फूल, बीज आदि बिखरे हुए हों तथा जो कक्ष तत्काल लीपा हुआ एवं गीला हो मुनि उस घर में भिक्षार्थ प्रवेश न करें क्योंकि वहाँ जीव-जन्तु न दिखने से ईर्यासमिति का शोधन नहीं होता, अंधेरे में दाता के या स्वयं के गिर पड़ने की आशंका रहती है। तत्काल लीपे एवं गीले आंगन पर चलने से जलकाय एवं संपातिम जीवों की विराधना होती है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार तत्काल लीपे एवं गीले आंगन में प्रवेश करने से आत्म विराधना और संयम विराधना तथा बीजादि बिखरे रहने पर सचित्त संघट्टा की संभावना भी रहती है।

• भिक्षार्थ गमन करते समय मार्ग में बालक, कुत्ता या बछड़ा बीच में बैठा हुआ हो तो उन्हें लांघकर या एक तरफ हटवाकर उस घर में प्रवेश न करें।[22] दशवैकालिक चूर्णि के मतानुसार बछड़े आदि को हटाने या लांघकर जाने से वह मुनि को मार सकता है, कुत्ता काट सकता है, पाड़ा मार सकता है, बछड़ा भयभीत होकर बन्धन तोड़कर मुनि के पात्र फोड़ सकता है। बालक को हटाने से उसे पीड़ा हो सकती है, उसके अभिभावकों को साधु के प्रति अप्रीति उत्पन्न हो सकती है, अत: उन्हें हटाने से शरीर और संयम दोनों की विराधना और शासन हीलना की संभावना रहती है।[23]

भिक्षा स्थल सम्बन्धी नियम– भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि को गृहस्थ के घर किस प्रकार खड़े रहना चाहिए? तत्सम्बन्धी कुछ नियम इस प्रकार हैं–

• गृहस्थ के घर भिक्षार्थ प्रविष्ट हुआ मुनि आहार या किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ को आसक्ति पूर्वक न देखें। अपनी दृष्टि को इधर-उधर न दौड़ायें, किसी भी तरफ आखें फाड़-फाड़ कर न देखें तथा भिक्षा प्राप्त न हो तो बिना कुछ बोले वहाँ से लौट जाये। इसका कारण यह है कि गृहस्थ के यहाँ रखे हुए आहार, वस्त्र या अन्य प्रसाधन आदि सामग्री को आसक्ति पूर्वक दृष्टिपात करने से ब्रह्मचर्य की विराधना होती है। लोक अपवाद है कि टकटकी लगाकर देखने वाले को काम विकार ग्रस्त माना जाता है। अत: मुनि जहाँ खड़े रहकर आहार लें और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दें ये दोनों स्थान असंसक्त (त्रस आदि जीवों से असंकुल) होने चाहिए। इस दृष्टि से मुनि केवल असंसक्त स्थानों का ही अवलोकन करें।

इसमें दूसरा हेतु यह है कि भिक्षार्थी मुनि गृहस्थ के यहाँ वहीं तक दृष्टिपात करे, जहाँ तक भिक्षा के लिए देय वस्तुएँ रखी और उठाई जाएँ, उससे आगे दीर्घ दृष्टि न डालें। घर के आंगन में दूर-दूर तक रखी गई वस्तुओं को देखने से साधु के प्रति शंका हो सकती है, इसलिए अति दूरावलोकन का निषेध किया गया है।

गृहस्थ के घर में जहाँ-तहाँ रखी गई भोग्य सामग्री, आभूषण आदि को आँखें फाड़-फाड़ कर देखने से साधु के मन में भोग वासना का भाव उत्पन्न हो सकता है। एक महत्वपूर्ण हेतु यह है कि भिक्षाचरी मुनि किसी के यहाँ आहार के लिए जाए और घर में भी यदि दाता कुछ भी न दे, थोड़ा दे, नीरस वस्तु

दे या कठोर वचन कहे तो भी साधु बिना कुछ कहे चुपचाप निकल जाये। इससे समिति, गुप्ति संयम का परिपूर्ण पालन होता है और धर्म की प्रशंसा होती है।

• भिक्षाटक मुनि किसी के घर में अति भूमि तक न जायें। गृहस्थ के द्वारा जहाँ तक की भूमि भिक्षाचरों के प्रवेश के लिए निषिद्ध मानी गई है उस भूमि का अतिक्रमण करना अतिभूमि कहलाता है।

सभी गृहस्थों की मर्यादा एक समान नहीं होती, इसलिए साधु-साध्वी को स्वयं यह विवेक रखना चाहिए कि किस गृहस्थ की पाकशाला में कितनी दूर तक जाया जा सकता है? यह निर्णय साधु-साध्वी को प्रसिद्ध देशाचार, शिष्टाचार, कुलाचार, जाति संस्कार आदि गृहस्थों की अपेक्षा से करना चाहिए। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं वहाँ तक अथवा जहाँ तक जाने में गृहस्थ को अप्रीति न हो वहाँ तक ही जायें।

• आहार हेतु प्रविष्ट हुआ मुनि गृहस्थ के यहाँ मित भूमि में खड़ा रहे। मित भूमि में भी जहाँ-तहाँ खड़ा न रहे। आचार्य शय्यंभवसूरि ने चार स्थानों पर खड़े रहने का निषेध किया है– 1. स्नानगृह– जहाँ खड़े होने पर स्नान करती हुई महिलाएँ दिखाई दें उस स्नानगृह के समक्ष खड़ा न रहे। 2. शौचालय – जहाँ खड़े होने से मल-मूत्र आदि दिखाई दें उस जगह पर खड़ा न रहे। 3. सचित्त मार्ग– जंगल या खान से निकली हुई सचित्त मिट्टी और सचित्त पानी जिस मार्ग से लाया जाता हो, उस मार्ग पर खड़ा न रहे। 4. सचित्त स्थान – जहाँ चारो ओर बीज या हरी वनस्पति बिखरी हुई हो या पैरों के नीचे रौंदी जाने की संभावना हो, ऐसी जगह भी मुनि खड़ा न रहे, क्योंकि अन्तिम दो स्थानों पर खड़े रहने से अहिंसाव्रत की विराधना होती है।[24]

आहार ग्रहण सम्बन्धी नियम– आहार ग्रहण करते समय शुद्ध-अशुद्ध, कल्प्य-अकल्प्य वस्तु का शोधन करना ग्रहणैषणा कहलाता है।

प्रसंगानुसार कुछ नियम इस प्रकार हैं–

• कदाचित दाता या दात्री आहार लाते हुए या देते हुए भोज्य पदार्थ को नीचे गिरा रहे हों तो मुनि वह भिक्षा ग्रहण न करें। साधु सामाचारी के अनुसार भिक्षा देते समय कोई रस युक्त पदार्थ नीचे गिर जाये तो फिर उस घर से कुछ भी वस्तु लेना कल्प्य नहीं होता है क्योंकि इसमें जीव हिंसा की संभावना रहती है।

• भिक्षादात्री बेइन्द्रिय आदि जीवों, बीजों और हरी वनस्पतियों का मर्दन करती हुई भिक्षा ला रही हो तो वह ग्रहण न करें।

• भिक्षादात्री आहार देने हेतु अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु मिलाकर अथवा अचित्त वस्तु पर सचित्त वस्तु रखकर अथवा सचित्त वस्तु का स्पर्श करके अथवा सचित्त जल को एक तरफ करके आहार-पानी लाए तो मुनि ग्रहण न करें।

• इसी प्रकार सचित्त जल, सचित्त रज, सचित्त मिट्टी, खार, हरताल, हिंगुल, मैनसिल, अंजन, नमक, पीली मिट्टी, सफेद खड़िया मिट्टी, फिटकरी तत्काल पीसा हुआ आटा, तत्काल कूटे हुए धान के तुष आदि पदार्थों से हाथ सने हुए हों तो उस भिक्षादात्री से आहारादि कुछ भी न लें।

• दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों उनमें से एक व्यक्ति निमंत्रित करें तो भी मुनि उस आहार को ग्रहण न करें क्योंकि उस आहार में अनिमंत्रित व्यक्ति का भी हिस्सा है।

• जो भोजन-पानी शुद्ध या अशुद्ध की शंका से युक्त हो, मुनि उसे ग्रहण न करें।

• गेहूँ आदि चार प्रकार का आहार यदि अग्नि के ऊपर रखा हुआ हो अथवा अग्नि के साथ संस्पर्शित हो रहा हो, अग्नि को बुझाकर, अग्नि पर पकते हुए आहार में से कुछ बाहर निकालकर, उफनते हुए दूध आदि में पानी का छिड़का देकर, अग्नि पर रहे हुए बर्तन को नीचे उतारकर आहार पानी दिया जाए तो वह मुनि के लिए अग्राह्य है अत: उसे ग्रहण न करें।

• भिक्षार्थ मुनि अपक्व कन्द, छिला हुआ पत्ती का शाक, लौकी और अदरख आदि सभी प्रकार की सचित्त वनस्पति जो अग्नि के शस्त्र से परिणत न हुई हो उसे ग्रहण न करें।

• जिस प्रकार सचित्त वनस्पति आदि अग्राह्य है उसी प्रकार दुकान पर बेचने के लिए अनेक दिनों से खुले रूप में रखा हुआ सचित्त रजयुक्त सत्तू का चूर्ण, तिलपपड़ी, गीला गुड़ इसी तरह की अन्य वस्तुएँ भी मुनि ग्रहण न करें।

इन्हें लेने का निषेध इसलिए किया गया है कि ऐसी वस्तुओं पर मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, कीड़े और चीटियाँ चारों ओर चढ़ी रहती हैं, वे भी मर जाती हैं। कई बार बहुत दिनों से पड़ी हुई गीली खाद्य वस्तुओं में लीलण-फूलण

जम जाती है। वे अन्दर से सड़ जाती हैं तो उनमें लट, घनेरियाँ आदि कीड़े पड़ जाते हैं। ऐसी गंदी और सड़ी-गली चीजों का सेवन करने से हिंसा के अतिरिक्त साधु-साध्वियों को अनेक बीमारियाँ होने की संभावना भी रहती है।

• जिनमें खाने का अंश कम और फेंकने का भाग अधिक हो इस तरह के फल एवं वनस्पतियाँ जैसे-अनानास, सेहजन फली, तेन्दु, बिल्ब फल, गन्ने के टुकड़े और सेमल की फली आदि मुनि ग्रहण न करें।

इनके निषेध का कारण यह है कि जैन मुनि त्रिकरण-त्रियोग पूर्वक हिंसा के त्यागी होने से जो वस्तुएँ त्रस जीवों के वध से निष्पन्न हो इस तरह की वस्तुओं का उपयोग कभी भी नहीं करते।

जैन मुनि उस तरह के पदार्थों का भी सेवन नहीं करते जिसमें पहले, तत्काल, पीछे या लेते समय किसी भी एकेन्द्रिय जीव की विराधना हो, अनानास आदि फल के सेवन में एकेन्द्रिय जीवों की साक्षात हिंसा होती है।

• जैन श्रमण प्यास बुझाने के लिए अचित्त जल का ही उपयोग करते हैं। आचारांगसूत्र में इक्कीस प्रकार का प्रासुक और एषणीय पानी साधु-साध्वियों के लिए ग्राह्य बताया है किन्तु तत्सम्बन्धी चावल, आटा या गुड़ आदि के घड़े का तत्काल धोया हुआ पानी हो तो साधु उसे ग्रहण न करें।

जब तक किसी भी तरह के धोवन पानी का वर्ण, गन्ध, रस आदि परिवर्तित नहीं होता, तब तक वह सचित्त कहलाता है। स्वभावत: यह परिवर्तन अन्तर्मुहूर्त काल में होता है।[25]

आहार गवेषणा सम्बन्धी नियम– सामान्यता श्रमण के लिए एक बार आहार करने का विधान है किन्तु दशवैकालिक रचयिता के अनुसार पर्याप्त आहार न मिलने और क्षुधा निवारण न होने पर अधिक बार भी भिक्षाटन कर सकते हैं।

• जिस गाँव में भिक्षा का जो समय हो उसी काल में भिक्षा के लिए प्रस्थान करें। अकाल में भिक्षाटन करने से मानसिक असन्तोष होता है।

• आगम परम्परा के अनुसार भिक्षाटन करने के बाद भी शुद्ध आहार की प्राप्ति न हो तो मुनि खेद नहीं करे अपितु यह सोचकर सन्तुष्ट होना चाहिए कि मुझे अनायास ही तपश्चर्या का लाभ मिल गया है।

• भिक्षार्थ गमन करने वाला साधु कहीं भी न बैठें और न खड़े रहकर धर्म

चर्चा करें। ऐसा करने पर गुरु अदत्त का दोष लगता है, क्योंकि भिक्षार्थी मुनि ने गुरु से आहार आदि ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त की है धर्मकथा आदि की नहीं। भिक्षाचर्या काल में गृहस्थ के घर बैठना ब्रह्मचर्य एवं अनासक्ति की दृष्टि से भी उचित नहीं है। बैठना तो दूर रहा, खड़े रहकर भी धर्म कथा करना उपर्युक्त कारणों से अनुचित है। लम्बी अवधि तक कथा करने से संयम का उपघात और एषणा समिति की विराधना होती है। इससे अति परिचय भी बढ़ता है जो संयम जीवन के लिए हानिकारक है।

• भिक्षाटन करने वाला साधु गृहस्थ के गृहांगन में अर्गला (आगला), परिघ (कपाट को ढंकने वाले फलक), द्वार एवं किंवाड का सहारा लेकर खड़ा न रहें। अर्गला आदि को पकड़ कर या उसका सहारा लेकर खड़े रहने में यह दोष है कि कदाचित वे मजबूती से बंधे हुए न हों तो अचानक टूटकर या खुलकर मुनि पर गिर सकते हैं या मुनि नीचे गिर सकता है, इससे संयम विराधना और आत्म विराधना दोनों दोष संभव है।

• किसी गृहस्थ के द्वार पर बौद्ध श्रमण, कृपण, ब्राह्मण या वनीपक आदि भिक्षाचर आहार के लिए खड़े हों तो जैन साधु उन्हें हटाकर घर में प्रवेश न करें और न ही उस समय गृह स्वामी एवं श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा रहे, किन्तु एक ओर जाकर खड़ा रहे।

गृहस्थ के द्वार पर भिक्षाचर खड़े हों तो उन्हें हटाकर या लांघकर जाने में मुख्यतया तीन दोष हैं– 1. गृहस्थ को या याचक को उस साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष हो सकता है, 2. कदाचित गृहस्थ भक्त साधु को देखकर उन याचकों को दान न दे तो इससे साधु को अंतराय का दोष लगता है, 3. सामान्य जनों में धर्म संघ की निन्दा भी हो सकती है।

• भिक्षार्थ गमन करते समय जिस मार्ग पर कहीं चुग्गा-पानी या चारा-दाना पाने के लिए पशु या पक्षी एकत्रित हों या चुग्गा-पानी करने में प्रवृत्त हों तो भिक्षाचारी साधु उस मार्ग से न जाएं क्योंकि उस पथ पर जाने से साधु या साध्वी को देखकर वे भयाक्रान्त हो सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप भोजन करना बंद कर सकते हैं, उड़ सकते हैं या भाग दौड़ कर सकते हैं। इससे उनके खाने में अन्तराय, वायुकाय की अयतना आदि दोषों की संभावना रहती है। अतएव उक्त स्थितियों में अन्य मार्ग से गमन करना चाहिए।

• गृहस्थ दाता दालचीनी, उबले केर, ओदन पिस्ट (आटा), तिल पिस्ट आदि बहराएं तो उसे विवेक पूर्वक ग्रहण करें। कतिपय खाद्य-पेय वस्तुएँ इस तरह की होती है जिनका छेदन-भेदन, पिष्टन-दलन आदि करने के पश्चात भी वे अचित्त एवं शस्त्र परिणत नहीं हो पाती हैं अत: इस विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के बाद उसे ग्रहण करें।[26]

भिक्षाचर्या सम्बन्धी सामान्य नियम– दशवैकालिक सूत्र के अनुसार भिक्षाग्राही मुनि गृहस्थ के सामने अपनी दीनता - हीनता प्रदर्शित करके या गिड़गिड़ाकर या लाचारी बताकर भिक्षा ग्रहण न करें। क्योंकि दीनता प्रकट करने से आत्मा का अध:पतन और जिनशासन की लघुता होती है। भावों में दीनता आने से शुद्ध आहार की गवेषणा नहीं हो सकती और किसी तरह आहार के पात्र भरने की वृत्ति जग जाती है। दीनता त्याग मूलक श्रमण धर्म को भी खण्डित कर देती है।

• भिक्षाकाल में कदाचित शुद्ध गवेषणा करने के उपरान्त भी भोजन-पानी न मिले तो मन में किसी प्रकार का खेद न करें। खिन्न होने से आर्त्त ध्यान होता है एवं शान्ति गुण का ह्रास हो जाता है।

• भिक्षाग्राही मुनि सरस-स्वादिष्ट आहार में आसक्त न बने। इससे निर्लोभता का गुण समाप्त होता है, फलत: एषणा शुद्धि भी नहीं रह जाती है।

• भिक्षार्थी मुनि आहार परिमाण का ज्ञाता होना चाहिए, अन्यथा प्रमाण से अधिक आहार ले आये तो उसका परिष्ठापन करने से असंयम होता है।[27]

• आचारचूला के निर्देशानुसार जैन मुनि अन्य तीर्थिक भिक्षुओं एवं गृहस्थों के साथ भिक्षाचर्या के लिए गमन न करें। एकाकी भी गमन न करें। संघाटक (दो साधुओं का समूह) के रूप में गमन करें।[28]

अन्य तीर्थिकों एवं गृहस्थों के साथ भिक्षा गमन का निषेध संयम आराधना की दृष्टि से किया गया है। जैन श्रमण के लिए एषणीय- अनेषणीय का विवेक रखना जरूरी है जबकि अन्य तीर्थिकों के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। इस तरह दोनों के आचार-गोचर में पर्याप्त भिन्नता होने से उन अन्य संन्यासियों के मन में कई प्रकार के संकल्प-विकल्प उठ सकते हैं जैसे कि जैन साधु गवेषणा का ढोंग करते हैं, हमें नीचा दिखाने के लिए दिखावा करते हैं। गृहस्थ के मन में भी अनेक तरह के विचार पनप सकते हैं।

टीकाकार के मतानुसार यदि मुनि उनके पीछे चलता है तो उनके द्वारा ईर्या समिति पालन नहीं करने का दोष साधु को लगता है, जिनशासन की लघुता होती है और उन शाक्यादि भिक्षुकों में अभिमान जागृत हो सकता है कि ऐसे त्यागी संत भी हमारे पीछे चलते हैं। यदि वह उनके आगे चले तो उन संन्यासियों को द्वेष उत्पन्न हो सकता है और यदि साथ चलने वाला अन्य परम्परा का गृहस्थ सरल प्रकृति का न हो तो अपनी परम्परा के श्रमणों को पीछे चलते हुए देखकर उसे भी प्रद्वेष हो सकता है। एक साथ कई साधुओं को आया देखकर गृहस्थ को आहार आदि देने में भी मुश्किल हो सकती है अत: अहिंसक साधु को उत्सर्गत: अन्य संन्यासियों एवं गृहस्थों के साथ भिक्षा हेतु गमन नहीं करना चाहिए।

गृहस्थ के यहाँ भिक्षा हेतु प्रविष्ट हुए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि मुझे दिया जाने वाला आहार अग्रपिण्ड से सम्बन्धित है तो वह उसे ग्रहण न करें।[29]

पूर्वकाल में आहारादि निर्मित हो जाने के बाद उसमें से अमुक भाग देवी-देवताओं के निमित्त या दानादि के निमित्त अलग निकालकर पहले से रख दिया जाता था, उसके पश्चात भोजन का उपभोग किया जाता था। निर्मित भोजन में से पहले ही निकाल दिया गया अग्रपिण्ड साधु-साध्वियों के लिए ग्राह्य नहीं होता है, क्योंकि वह भोजन पिण्ड देवी-देवताओं के निमित्त, संन्यासियों के दान निमित्त, प्रसाद रूप में बांटने के निमित्त, भिखारियों में वितरित करने निमित्त अलग से निकाला जाता है, उसमें से कुछ भी लेने पर उनसे तत्सम्बन्धित व्यक्तियों के आहार में बाधा या कमी आ जाती है इससे अन्तराय का दोष लगता है।

• भिक्षार्थ गया हुआ साधु सचित्त संसृष्ट हाथों से भिक्षा ग्रहण न करें, क्योंकि संसृष्ट हाथों से दी गई भिक्षा चारित्र धर्म का हनन करती है। निशीथभाष्य की चूर्णि में संसृष्ट के 18 प्रकार बताये गये हैं–

1. **पूर्व कर्म** – साधु को आहार देने हेतु हाथ अथवा पात्र आदि धोना।

2. **पश्चात्कर्म** – साधु को आहार देने के पश्चात हाथ अथवा पात्र आदि धोना।

3. **उदकार्द्र** – बूंदे टपकती हो ऐसे गीले हाथ से भिक्षा देना।

4. **सस्निग्ध** – अच्छी तरह से न सूखे हुए थोड़े गीले हाथों से भिक्षा देना।

5. सरजस्क मिट्टी – सचित्त मिट्टी युक्त हाथ से भिक्षा देना।

6. ऊष - खारी मिट्टी युक्त हाथ से भिक्षा देना।

7. हरिताल – हड़ताल (एक जाति की मिट्टी) युक्त हाथ से भिक्षा देना।

8. हिंगुल – हिंगुल (लाल रंग का पदार्थ) युक्त हाथ से भिक्षा देना।

9. मेनसिल – मेनसिल (विष वर्धक पदार्थ) युक्त हाथ से भिक्षा देना।

10. अंजन – अंजन युक्त हाथ से भिक्षा देना।

11. गेरू – लाल मिट्टी युक्त हाथ से भिक्षा देना।

12. वर्णिका – पीली मिट्टी युक्त हाथ से भिक्षा देना।

13. सेटिका – खड़िया मिट्टी युक्त हाथ से भिक्षा देना।

14. सौराष्ट्रिका – सौराष्ट्र में पायी जाने वाली मिट्टी से लिप्त हाथ द्वारा भिक्षा देना।

15. तत्काल पीसे हुए अनछाने आटे युक्त हाथ से भिक्षा देना

16. चावलों के छिलके युक्त हाथ से भिक्षा देना।

17. गीली वनस्पति का चूर्ण या फलों के बारीक टुकड़ों युक्त हाथ से भिक्षा देना।

इनमें पुर:कर्म, पश्चात्कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध ये चार अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उक्कुट्ठ ये तीन वनस्पतिकाय सम्बन्धी हैं और शेष ग्यारह पृथ्वीकाय से सम्बन्धित हैं। यदि दाता के हाथ इन 18 प्रकार की वस्तुओं से लिप्त या संस्पर्शित हो तो मुनि उस व्यक्ति से भिक्षा ग्रहण नहीं करें। इससे षट्काय जीवों की विराधना होती है।[30]

• गृहस्थ के घर भिक्षार्थ प्रविष्ट हुए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि देय पदार्थ (भोजन-पानी) अग्नि पर रखा हुआ है और ज्वाला से सम्बद्ध है तो उसे ग्रहण नहीं करें।

केवली पुरुषों ने अग्निकायादि संपृक्त आहार ग्रहण करने को कर्मास्रव माना है क्योंकि साधु-साध्वी के निमित्त अग्नि पर रखे बर्तन से आहार निकालने पर, आंगन में अन्न आदि को डाल कर हाथ आदि से हिलाने पर एवं अग्नि पर से बर्तन को उतारने पर अग्निकाय जीवों की हिंसा होती है। अत: अग्नि पर रखे हुए, अग्नि से तुरन्त उतारे हुए या अग्नि पात्र से अन्य पात्र में डाले हुए पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए।

• गृहस्थ ने साधु के लिए सचित्त शिला पर, दीमक लगे जीव युक्त काष्ठ पर तथा मकड़ी के जालों से युक्त स्थान पर अचित्त नमक का भेदन (टुकड़े) किया हो, लवण को सूक्ष्म करने के लिए पीसा हो तो मुनि उसे अप्रासुक जानकर ग्रहण न करें।

• गृहस्थ साधु के निमित्त हाथ या चम्मच आदि धोकर आहार बहराये तो मुनि उसे ग्रहण न करें, इससे अप्काय आदि जीव विराधना का दोष लगता है।

• गृहस्थ अत्यन्त उष्ण भोजन आदि को पंखे आदि की हवा से ठंडा करके देवें तो मुनि उसे ग्रहण न करें। इससे वायुकायिक जीव हिंसा का प्रत्यक्ष दोष लगता है।

• कोई गृहस्थ सचित्त पुष्प आदि का छेदन कर अथवा किसी वनस्पतिकाय की विराधना कर आहार दें तो वह मुनि के लिए अकल्पनीय होता है इसलिए उसे ग्रहण न करें।

• गृहस्थ के द्वारा एक बर्तन में से आहार को दूसरे बर्तन में निकालकर, उसे सचित्त वस्तु पर रखकर अथवा सचित्त वस्तु का स्पर्श करते हुए, सचित्त जल में चलकर या उसे हिलाकर, इसी तरह षट्काय जीवों की विराधना करते हुए आहार पानी दिया जाए तो मुनि उसे ग्रहण न करें।

• किसी गृहस्थ ने खाद्य पदार्थ का एक पिण्ड भिक्षार्थी मुनि के लिए और दूसरा एक पिण्ड स्थविर मुनि के लिए दिया हो और यदि गवेषणा करने पर भी स्थविर मुनि की प्राप्ति न हो तो उसे एकान्त, अचित्त और प्रासुक स्थण्डिल भूमि पर परिष्ठापित कर दें।

• मुनि द्वारा गवेषणा पूर्वक लाया गया आहार-पानी उपभोग के बाद बच जाये और उसके पुनर्सेवन की कोई संभावना न हो तो निकटवर्ती सांभोगिक, साधर्मिक या समनोज्ञ साधु-साध्वी को उसके लिए निवेदन करें। यदि कोई खा सके तो उन्हें दें, नहीं तो अचित्त भूमि पर परिष्ठापित कर दें।

• भिक्षाटन करने वाला मुनि गर्भवती की दोहद पूर्ति के लिए बना हुआ आहार ग्रहण न करें, भिक्षाचर्या के समय इस विषयका पूर्ण विवेक रखें।

• भिक्षाचरी मुनि जहाँ अंधकार हो वहाँ से आहार ग्रहण न करें।

• भिक्षार्थी मुनि जहाँ पुष्पादि बिखरे हुए हों वहाँ से आहार आदि ग्रहण न करें।

• भिक्षार्थी मुनि ऐसे खाद्य पदार्थ ग्रहण न करें जिसमें से काँटे, गुठली आदि फेंकना पड़े।

• भिक्षाचरों को देने के लिए बनाया हुआ आहार ग्रहण न करें।

• जिस गृहस्थ के यहाँ प्रतिदिन आहारादि का निश्चित भाग दिया जाता हो उस घर से भी आहार न लें।

• अटवी पार करने वाले यात्रियों से आहारादि ग्रहण न करें।

• राजा, राज परिवार या राज कर्मचारियों के निमित्त बना हुआ आहारादि ग्रहण न करें।[31]

मूलाचार के अनुसार पंक्तिबद्ध तीन या सात घरों से आया हुआ आहार ही मुनि के लिए ग्राह्य है। इसके सिवाय इधर-उधर के घरों से आया हुआ आहार ईर्यापथिक शुद्धि न होने के कारण अग्राह्य है।[32]

आचार्य वट्टकेर के अनुसार आहारार्थ गमन करने वाले मुनि को निम्न पाँच नियमों का संरक्षण करना अनिवार्य है– 1. जिनाज्ञा का पालन 2. स्वेच्छावृत्ति का त्याग 3. सम्यकत्वानुकूल आचरण 4. रत्नत्रय का परिपालन और 5. संयम रक्षा। इन नियमों में से कोई भी दोष संभावित हो तो मुनि को तत्काल आहार का त्याग कर देना चाहिए। भिक्षाचर्या हेतु उद्यत हुआ मुनि मूलगुण, उत्तरगुण, शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए तथा शरीर, परिग्रह एवं संसार के प्रति वैराग्य का चिन्तन करते हुए आहारार्थ गमन करें।[33]

विजयोदया टीका के मतानुसार मुनि को दरिद्र कुलों में और आचारहीन धन सम्पन्न कुलों में भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए, क्योंकि दरिद्र कुलीन व्यक्तियों को अपने पेट भरने की ही समस्या रहती है तब वे मुनि को नवधा भक्ति पूर्वक आहार कैसे दे सकते हैं?

इसी टीका के अनुसार जिस घर में नृत्य संगीत होता हो, झण्डियाँ लगी हों, उन्मत्त लोग रहते हों वहाँ पर भी भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। इसके सिवाय शराबी, वेश्या, लोक निन्दित कुल, यज्ञ शाला, दान शाला आदि में भी भिक्षार्थ गमन का निषेध किया गया है।[34]

विजयोदया टीका में यह भी उल्लिखित है कि मुनि आहारार्थ जाते समय अपने आगे की चार हाथ परिमाण भूमि देखते हुए चलें। गमन करते वक्त हाथ लटकते हुए हों, चरण निक्षेप अधिक अन्तराल से न हो, शरीर विकार रहित

हो, मस्तक थोड़ा झुका हो, मार्ग में कीचड़ और जल न हों। भिक्षाटन इस प्रकार करें कि खाते-पीते पक्षी भयभीत न हो जाएं और वे अपना आहार छोड़कर भाग न जाएं। तुष, गोबर, राख, भूसा, घास के ढेर, फल पत्ते आदि से बचते हुए चलें।[35]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में भिक्षाचर्या के नियम लगभग समान हैं। यहाँ भिक्षाचर्या सम्बन्धी नियमों का अभिप्राय शुद्ध एषणा पूर्वक आहार प्राप्ति है अत: भिक्षाचर्या के समय मुनि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपना ध्यान हटाकर केवल एषणा में ही रत रहें, नहीं तो अहिंसादि धर्म खण्डित होता है।

भिक्षाचर्या के निषिद्ध-अनिषिद्ध स्थान

जैन मुनि चारित्र धर्म का सम्यक् निर्वाह करने के लिए निर्दोष एवं प्रासुक आहार ग्रहण करता है। अत: विशुद्ध आहार की प्राप्ति हेतु निम्नोक्त कुल आदि के स्थान वर्जित कहे गये हैं जहाँ मुनि को भिक्षाटन नहीं करना चाहिए। आचारांग सूत्र के अनुसार वे निषिद्ध स्थान इस प्रकार हैं–

कुल स्थानों में जाने का निषेध– जिन कुलों में पुण्योपार्जन हेतु श्रमण, ब्राह्मण आदि सभी प्रकार के संन्यासियों एवं अन्य भिक्षाचरों को नित्य पिण्ड (प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार) नित्य अग्र पिण्ड (जो आहार पक रहा हो, उसमें से कुछ भाग पहले निकाल कर रखा हुआ आहार), नित्य पक्व आहार का आधा भाग और नित्य पक्व आहार का चौथा भाग दान में दिया जाता हो तथा जिन कुलों में प्रतिदिन शाक्यादि भिक्षाचरों का प्रवेश होता हो, ऐसे स्थानों पर साधु-साध्वी को आहार पानी के लिए नहीं जाना चाहिए।

दोष– उक्त कुलों में भिक्षार्थ गमन का निषेध इसलिए किया गया है कि यदि साधु उन घरों में प्रवेश करे या उन भवनों के समीप से होकर निकले तो गृहस्वामी उस साधु को भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना कर सकता है। कदाच साधु उस प्रार्थना को ठुकरा दे या उसके द्वारा निर्मित आहार की निन्दा करे तो उस गृहस्थ के मन में दु:ख या क्षोभ उत्पन्न हो सकता है। उसकी दान देने की भावना को ठेस पहुँच सकती है। अत: ऐसे घरों में या उनके समीपवर्ती घरों में भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।

यहाँ नित्य पिण्ड और अग्र पिण्ड लेने का निषेध इसलिए किया गया है

कि यदि जैन मुनि उक्त कुलों में नित्य गमन करने लगेंगे तो उन्हें विशेष सामग्री तैयार करनी पड़ेगी अथवा जो वहाँ से नित्य आहार प्राप्त करते हैं उन भिक्षुकों को कम आहार मिलने से उन्हें पीड़ा पहुँच सकती है। उक्त दोनों स्थितियों में आरम्भ की संभावना है। यदि दानी गृहस्थ अधिक आहार बनवाता है तो नया आरंभ होता है, षट्काय जीवों की विराधना होती है और पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं। कदाचित गृहस्थ नया भोजन न भी बनाएं किन्तु प्रतिदिन आहार प्राप्त करने वाले भिक्षाचरों के हिस्से में कटौती करनी पड़ेगी, जिससे अंतराय कर्म बंधेगा तथा उन भिक्षुकों के मन को भी पीड़ा पहुँच सकती है इसलिए नित्य पिण्ड एवं अग्र पिण्ड वाले कुलों में जैन मुनियों को भिक्षार्थ जाने का निषेध किया गया है।[36]

पर्व स्थानों में जाने का निषेध – जैन मुनि भिक्षा सम्बन्धी नियमों के अनुसार हर प्रकार का आहार ग्रहण नहीं कर सकते हैं। मुख्यतया जहाँ अष्टमी आदि पर्वों पर पौषधोपवास का महोत्सव हो अथवा इसी तरह एक पक्ष, दो, तीन, चार, पाँच अथवा छह महीनों के पौषधोपवास का उत्सव हो अथवा ऋतु, ऋतु सन्धि (दो ऋतुओं का सन्धि काल) और ऋतु परिवर्तन (एक ऋतु के अनन्तर दूसरी ऋतु का आरम्भ होना) का महोत्सव हो और उस समय शाक्यादि भिक्षु, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, याचक आदि को भोजन करवाया जा रहा हो तो उन गृहस्थों के घरों में मुनि को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।

दोष– यद्यपि उक्त प्रकार का भोजन आधाकर्म दोष से युक्त नहीं होता, फिर भी मुनियों के लिए इस प्रकार का आहार तब तक वर्जित है जब तक वह दूसरे के हिस्से का दिया नहीं जा चुका हो। यदि यह आहार एकान्त रूप से शाक्यादि भिक्षुओं को देने के लिए ही बनाया गया हो और उसमें से परिवार के सदस्य एवं परिजन आदि अपने उपभोग में नहीं लेते हों तब तो वह आहार किसी भी स्थिति में साधु के लिए ग्राह्य नहीं होता है इससे उन शाक्यादि संन्यासियों को अन्तराय लगती है। दूसरा कारण यह है कि किसी धार्मिक या लौकिक पर्वों के प्रसंग पर पुण्यार्थ या दानार्थ बनाया गया आहार लेने से साधु को आरंभ आदि दोष लगते हैं क्योंकि दानी गृहस्थ दान के निमित्त आरम्भ समारम्भ करता है अत: किसी भी उत्सव के होने पर जैन मुनि इन गृहों में भिक्षार्थ न जाएं। महोत्सवों में आहारार्थ गमन न करने से मुनि की संतोषवृत्ति एवं त्यागवृत्ति प्रकट होती है।[37]

उत्सव स्थानों में भिक्षार्थ जाने का निषेध – सामान्यतया जहाँ महोत्सव के लिए एकत्रित हो रहे हों अथवा पितृ पिण्ड या मृतक के निमित्त भोजन बन रहा हो अथवा इन्द्र महोत्सव, स्कन्द महोत्सव, रूद्र महोत्सव, भूत महोत्सव, यक्ष महोत्सव इसी प्रकार नाग, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, तालाब और सरोवर सम्बन्धी महोत्सव हो रहा हो तथा इन महोत्सवों पर जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और याचकों को आहार दिया जा रहा हो ऐसे स्थानों पर जैन मुनि को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए, किन्तु महोत्सव सम्बन्धी वह भोजन शाक्यादि अन्य भिक्षुकों को दिया जा चुका हो तो उसे ग्रहण किया जा सकता है।[38]

महाभोज में आहारार्थ जाने का निषेध – संखडी शब्द का सामान्य अर्थ है सामूहिक-भोज। ''संखड्यन्ते विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा संखडि:'' जहाँ भोजन तैयार करने में जीवों की हिंसा की जाती है वह जीमन संखडी कहलाता है। महाभोज या जीमनवार आदि में अन्न को विविध प्रकार से संस्कारित किया जाता है इसलिए भी इसे संस्कृति (संखडी) कहते हैं। वर्तमान में इसे महाभोज कहते हैं। राजस्थान में इसे जीमनवार भी कहते हैं।

सामान्यतया जहाँ बड़े जीमनवार हों, अनेक लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हों, पंक्ति में बैठकर खाते हों, कई लोगों का आवागमन होता हो ऐसे स्थानों पर जैन साधु-साध्वियों को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए क्योंकि इससे अन्तराय, अप्रीति, अपमान, हिंसा आदि दोष लगते हैं।

दोष– आचारांगसूत्र में संखडी गमन के निम्न दोष बतलाये गये हैं-

- सामान्यता मुनि का भोजन सादा, सात्विक और निर्दोष होना चाहिए, जबकि विशिष्ट भोजों में बनाये जाने वाले पदार्थ गरिष्ठ, स्वादिष्ट और मादक होते हैं। गरिष्ठ और स्वादिष्ट आहार करने से रस गृद्धि बढ़ती है। रस गृद्धि से आसक्ति बढ़ती है और आसक्ति से विषाद (दु:ख) बढ़ता है। संखडी में भिक्षाटन निषेध का एक कारण यह भी है कि रस गृद्धि वश अत्यधिक आहार लाने का लोभ बढ़ता है, अतिमात्रा में स्वादिष्ट भोजन करने से स्वास्थ्य हानि, आलस्य वृद्धि और स्वाध्याय का क्रम खण्डित होता है। फलत: ध्यान, स्वाध्याय, प्रतिलेखना आदि आवश्यक क्रियाओं का परिपालन भी अच्छी तरह से नहीं हो पाता है।

• संखडी निषेध का दूसरा कारण यह है कि बृहद भोजों में नर-नारियों की भीड़-भाड़ बहुत होती है जिससे साधु-साध्वियों को स्त्री-पुरुषों के संघट्टे (स्पर्श) का दोष, सचित्त पदार्थों के संघट्टे का दोष एवं आहार सम्बन्धी शुद्धि-अशुद्धि की गवेषणा न कर सकने सम्बन्धी दोषों की भी संभावनाएँ रहती हैं।

• ऐसे स्थानों पर साधु-साध्वी को देखकर लोगों को इस विषयक अश्रद्धा हो सकती है कि ये स्वाद या आहार की लोलुपता के कारण ही इस भोज में आये हैं।

• यदि श्रद्धालु गृहस्थ को यह ज्ञात हो जाये कि अमुक साधु-साध्वी इस आयोजन के अवसर पर पधार रहे हैं और उन्हें किसी भी स्थिति में आहार देना ही है तो यह सोचकर वह उनके उद्देश्य से अन्य खाद्य सामग्री तैयार करवा सकता है, खरीदकर ला सकता है, किसी से छीनकर ला सकता है इस प्रकार आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीत, अभिहृत, प्रामित्य सम्बन्धी दोष लगने की संभावना रहती है। इसीलिए केवलज्ञानियों ने इसे कर्मबन्ध का कारण कहा है।

• कई बड़े भोज पूरे दिन-रात या दो-तीन दिन तक चलते रहते हैं। यदि गृहस्थ को ज्ञात हो जाये कि यहाँ मुनि भगवन्त पधारने वाले हैं तो वह उनके ठहरने के लिए अलग से प्रबन्ध कर सकता है, अपने मकान में तोड़-फोड़ कर रंग-रोगन करवाकर, फर्श पर उगी हुई हरी घास को उखड़वाकर सुसज्जित कर सकता है, इससे आरंभ आदि अनेक दोष लगते हैं। इसके अतिरिक्त आहार आदि के लिए संखडी में जाने पर अपमान अथवा चोट आदि की भी संभावना रहती है।

• संखडी में जाने से पारस्परिक संघर्ष और साधु के गौरव की हानि भी हो सकती है। संखडी दो तरह की होती है– 1. आकीर्ण और 2. अवम। जिस प्रीतिभोज में भिखारियों की अत्यधिक भीड़ हो वह आकीर्ण संखडी कहलाती है और जहाँ आहार थोड़ा बनाया हो किन्तु याचक अधिक आ गए हों, वह अवम संखडी कहलाती है। इन दोनों संखड़ियों में आहार लेने से बाह्य-आभ्यन्तर दोनों तरह का संघर्ष होता है। एक-दूसरे के अंगों से टकराना या पैर से पैर कुचल जाना या मुठभेड़ होना बाह्य संघर्ष है। पहले भिक्षा प्राप्त करने के लिए धक्का मुक्की भी हो सकती है तथा मांगने वाले अधिक हो जाए और आहार कम हो

जाए तो उसे पाने के लिए परस्पर वाक् युद्ध एवं मुष्टि-दण्डादि का प्रहार भी हो सकता है यह भी बाह्य संघर्ष है। एक-दूसरे के प्रति द्वेष, मनमुटाव या घृणा होना आभ्यन्तर संघर्ष है।

कहने का आशय यह है कि संखडी का आहार अशुद्ध एवं आधा कर्मादि दोष से युक्त होता है। इसी के साथ अपरिमित मात्रा में स्वादिष्ट भोजन का सेवन करने से संक्रामक रोग, स्वास्थ्य हानि, मान हानि, कलह आदि की पूर्ण संभावनाएँ रहती है अतएव संखडी स्थानों पर भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।[39]

राज भवन में आहारार्थ जाने का निषेध – तीर्थंकरों ने जैन मुनि के लिए राजपिण्ड लेने का निषेध किया है। इसलिए इन कुलों में भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। यहाँ राज पिण्ड शब्द चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माण्डलिक राजा, जागीरदार एवं कोतवाल आदि तथा राजवंशस्थ (राजा के मामा, काका आदि) के निमित्त बने हुए भोजन के सम्बन्ध में है।[40]

दोष– राजपिण्ड निषेध का मुख्य कारण यह है कि राजभवन एवं राजमहल आदि में लोगों का आवागमन, हाथी-घोड़े आदि सवारियों का आना जाना बहुतायत से होता रहता है जिससे साधु-साध्वी को आने-जाने में कठिनाई हो सकती है, किसी तरह का खतरा पैदा हो सकता है। ऐसे स्थानों पर ईर्यासमिति का पालन भी भलीभाँति नहीं होता है। इसके अतिरिक्त राजघरानों में कई प्रकार के गृह कलह एवं कुटनीति चलती रहती है। गुप्तचरों का छद्मवेश में आना-जाना होता रहता है इसलिए संभव है कि वहाँ जाने पर मुनि को भी गुप्तचर मानकर संताप दिया जाए। राजघरानों में लगभग गरिष्ठ और पौष्टिक आहार तैयार किया जाता है जो मुमुक्षु आत्माओं के लिए संयम विराधना का कारण बनता है, अतएव इन कुलों में आहारार्थ नहीं जाना चाहिए।[41]

यहाँ यह जानना भी आवश्यक है कि राजकुल से समस्त राजपिण्डों का निषेध नहीं है। आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में उग्रकुल, भोगकुल, इक्ष्वाकुकुल आदि बारह कुलों से आहार लेने का स्पष्ट उल्लेख है। वस्तुत: जहाँ किसी भी प्रकार के अनिष्ट की संभावना हो, संयम और आत्म विराधना का संकट खड़ा हो, उन राजकुलों में आहारार्थ नहीं जाना चाहिए। जैन शास्त्रों में यह उल्लेख आता है कि गणधर गौतम अतिमुक्त राजकुमार के यहाँ भिक्षार्थ गये थे। इससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि यह निषेध सापेक्ष है सार्वत्रिक नहीं।

इस निषेध का एक अर्थ यह भी है कि राजा के लिए बनाया गया आहार नहीं लेना चाहिए, अन्य सदस्यों के लिए बनाया गया आहार मुनि ले सकता है।

गोदोहन सम्बन्धी काल का निषेध– जैन श्रमण-श्रमणी अहिंसा व्रत का बहुत ही सूक्ष्मता से पालन करते हैं। अतएव वे अपने निमित्त से किसी भी जीव को जरा भी पीड़ा न हो, इस बात की पूरी सावधानी रखते हैं। इसी उद्देश्य से यह विधान बनाया गया कि जब दुधारु गायें दुही जा रही हों, आहारादि तैयार किया जा रहा हो और अभी तक उस आहार में से पहले किसी को न दिया गया हो तो ऐसे समय में मुनि आहार के लिए गृहस्थ के घरों में प्रवेश न करें और वसति स्थान से भी बाहर न निकलें।[42]

दोष– गोदोहन काल में भिक्षार्थ निषेध का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि यदि साधु-साध्वी गोदोहन वेला में गृहस्थ के घरों में प्रवेश करें तो यह संभव है कि उन्हें देखकर गाय भड़क जाये जिससे संयम और आत्मा दोनों की विराधना हो सकती है अथवा दुहने वाले व्यक्ति को भी चोट लग सकती है। मुनि को आते हुए देखकर गाय को शीघ्रता से दुही जाये तो उसे भी पीड़ा हो सकती है अथवा भावनाशील गृहस्थ मुनि को लक्ष्य में रखते हुए गाय के स्तनों में से अधिक दूध निकाल ले तो बछड़े को अन्तराय हो सकती है।

वर्तमान युग में इस नियम की प्रासंगिकता ग्रामीण इलाकों में रह गई है। शहरी परिवेश में देरी से उठने, Bed Tea पीने आदि की अपेक्षा भी इस नियम की सार्थकता सिद्ध होती है। क्योंकि देरी से उठने के कारण प्राय: दरवाजे बन्द मिलते हैं अथवा उठते साथ ही अप्रीति के भाव उत्पन्न हो सकते हैं कि इन साधुओं को स्वयं को तो कुछ काम है नहीं लेकिन हमें तो संसार के सभी काम धन्धे हैं। सब कुछ समय पर हो जाये यह मुश्किल है। Bed Tea पीने वालों को विक्षेप हो जाये तो जैन धर्म की हीलना का प्रसंग भी आ सकता है।

इसी तरह जब आहार तैयार हो रहा हो उस समय कोई साधु गृहस्थ के घर पहुँच जाए तो गृहस्थ अर्धपक्व आहार को शीघ्र पकाने की दृष्टि से चूल्हे में अधिक ईंधन डाल सकता है इससे अग्निकाय जीवों की विराधना होती है और संयम भी दूषित होता है। इसी तरह निर्मित आहार में से यदि पहले किसी को न दिया गया हो तो संभव है कि श्रद्धालु गृहस्थ साधु को अधिक भोजन भी दे दें तो इससे दूसरों को अन्तराय लग सकती है। भोजन बन ही रहा है ऐसा

मानकर वह नया आहार तैयार करवा सकता है। परिणामत: इस आरंभ-समारंभ के दोष का अधिकारी मुनि बनता है। अतएव गोदोहिक वेला में अथवा जब भोजन बन रहा हो तब साधु-साध्वी को आहारार्थ नहीं जाना चाहिए।[43]

बंद द्वार वाले गृहों में आहारार्थ प्रवेश का निषेध– जैनाचार्यों ने गृह स्वामी की आज्ञा लिये बिना बन्द द्वार वाले गृहों में भी मुनि को आहारार्थ जाने का निषेध किया है। यदि अनुज्ञा प्राप्त हो जाये तो उन द्वारों को प्रतिलेखित किये बिना न तो खोलें और न उसमें से होकर प्रवेश करें एवं निकलें।[44]

दोष– बन्द द्वार को खोलकर अकस्मात घर में प्रवेश करने से अनेक प्रकार के दोषों की संभावना होती है। गृहस्थ के घर की महिलाएँ अस्त-व्यस्त स्थिति में हो तो गृह मालिक को और उसके परिवार जनों को नाराजगी हो सकती है, आक्रोश आ सकता है। साधु को अचानक गृह में प्रवेश करते हुए देखकर उन्हें चोर आदि की शंका हो सकती है और साधु के प्रति अविश्वास पैदा हो सकता है। किसी वस्तु के गुम होने पर साधु पर दोषारोपण भी किया जा सकता है। यदि दरवाजा खोलते समय कोई कुत्ता आदि घुस जाये और नुकसान कर बैठे तो साधु पर आरोप आ सकता है, उन्हें उपालम्भ भी दिया जा सकता है। अतएव उत्सर्गत: जैन मुनि को बन्द द्वार खोलकर घरों में प्रवेश नहीं करना चाहिए किन्तु जिस घर में रोगी, नव दीक्षित या आचार्य आदि के योग्य पथ्य मिलना संभव हो या अन्य कोई विशेष कारण हो तो वहाँ मुनि को बन्द द्वार पर खड़े होकर आवाज लगानी चाहिए। उसके पश्चात दरवाजा खुलने पर गृह में प्रवेश करना चाहिए।[45]

भिक्षा के योग्य-अयोग्य स्थान – जैन धर्म जातिवाद में विश्वास नहीं करता है। जन्मना कोई भी व्यक्ति उच्च या नीच नहीं होता है। उसकी उच्चता या निम्नता का परिमाप उसके आचार-विचार की श्रेष्ठता से होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है "साक्षात तप की विशिष्टता देखी जाती है जाति की विशेषता नहीं होती जैसे कि चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशी मुनि कितने ऋद्धि सम्पन्न थे।"[46]

इस सिद्धान्त के अनुसार जिन कुलों का आचार-विचार सात्विक, नैतिक और शिष्टजन सम्मत है तथा जिनकी वृत्ति अजुगुप्सित और अगर्हित है उन

कुलों में चाहे जन्मत: वे किसी भी जाति के हों, जैन साधु उन घरों में आहारादि के लिए प्रवेश कर सकता है।

दशवैकालिक सूत्र में उच्च-नीच और मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या करने का जो उल्लेख है, वह जाति को लक्ष्य में रखकर नहीं है अपितु सम्पन्न-विपन्न को ध्यान में रखकर किया गया है। अहिंसा की साधना करने वाला श्रमण संकुचित दायरे से ऊपर उठा हुआ होता है। इसलिए आहारादि के लिए सम्पन्न-विपन्न सब घरों में प्रवेश करता है। उसके लिए उन्हीं कुलों या घरों का वर्जन किया गया है जिनका आचार-विचार और वृत्ति जुगुप्सित या गर्हित हो।

यदि आहार ग्रहण करने के विषय में उच्च-नीच का भेद भाव होता तो आचारांगसूत्र के मूल पाठ में नापित, बढ़ई, तन्तुवाय आदि के घरों से भिक्षा लेने का उल्लेख कैसे हो सकता है? जिन कुलों का उल्लेख किया गया है उनमें से बहुत से वंश तो आज लुप्त हो चुके हैं। क्षत्रियों में भी हूण, शक, यवन आदि वंश के लोग परस्पर मिल चुके हैं। इसलिए किसी भी जाति या वंश के घर हों, वहाँ से मुनि भिक्षा ग्रहण कर सकता है बशर्ते कि वह घर निन्दित और घृणित न हो।[47]

आचारांगसूत्र के अनुसार जैन मुनि निम्न कुलों (घरों) में भिक्षार्थ जा सकता है।[48]

1. उग्रकुल – रक्षक कुल, जो जनता की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहता हो।

2. भोगकुल – जो जन समुदाय राजा आदि के लिए भी पूजनीय हो, जैसे पुरोहित, ब्राह्मण आदि।

3. राजन्यकुल – जो जन-जातियाँ राजा के लिए मित्रवत मानी जाती हों।

4. क्षत्रिय कुल – राठौड़ आदि वीर योद्धाओं का जन समुदाय, जो राष्ट्र की सुरक्षा करने वाला हो।

5. इक्ष्वाकु कुल – भगवान ऋषभदेव के वंशज।

6. हरिवंश कुल – भगवान अरिष्टनेमि के वंशज।

7. एसिय कुल – गोपालक गोष्ठों (अहीरों) का कुल।

8. वैश्य कुल - वणिक (चूर्णिकार के मतानुसार रंग का काम करने वालों का) कुल।

9. गंडाक कुल – (नापिक कुल) जो गाँव में उद्घोषणा का काम करते हैं।

10. कोट्टाग कुल – लकड़ी आदि को घड़ने का काम करने वाले सुथार आदि।

11. ग्राम रक्षक कुल – गाँव के रक्षकों का कुल (जैसे चौकीदार, पंच, सरपंच आदि)।

12. बुक्क शालीय कुल – तन्तुवाय, वस्त्र निर्माता का कुल।

इसी तरह के अन्य अजुगुप्सित एवं अगर्हित कुलों में भी निर्ग्रन्थ मुनि आहार आदि के लिए प्रवेश कर सकता है और वहाँ प्रासुक एवं शुद्ध आहार मिले तो ग्रहण कर सकता है। उक्त कुलों के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का भी भलीभाँति परिचय हो जाता है और इसके आधार पर कहा जा सकता है कि पूर्वकालीन समाज व्यवस्था में विद्या, कला, शिल्प आदि को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

यहाँ जुगुप्सित एवं घृणित कुलों तथा घरों का अर्थ भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जहाँ खुले आम मांस-मछली आदि पकाये जाते हों, वध किया जाता हो, हड्डियाँ या चमड़ी आदि इधर-उधर पड़े हों, जिनके यहाँ बर्तनों में मांस पकता हो अथवा जिनके बर्तन, आंगन, वस्त्र आदि अस्वच्छ हों ऐसे घर किसी भी जाति के होने पर भी जुगुप्सित और घृणित कहलाते हैं। जहाँ खुले आम व्यभिचार होता हो, वेश्यालय हो, मदिरालय हो, कसाई खाना हो, जो हिंसादि पाप कार्यों में रत हों वे गर्हित निन्द्य गृह कहलाते हैं और उन्हें भिक्षा के लिए त्याज्य कहा गया है।

अतिरिक्त आहार-ग्रहण सम्बन्धी निर्देश

शास्त्र वर्णित विधि के अनुसार मुनि उतना ही आहार ग्रहण करे, जितना उसे स्वयं के लिए उपयोगी या अपेक्षित हो। बिना कारण प्रमाण से अधिक आहार लेने पर उसका परिष्ठापन, आज्ञा भंग आदि दोष लगते हैं। इसके उपरान्त भी अतिरिक्त आहार ग्रहण के कुछ निम्न कारण बतलाये गये हैं। जिन स्थितियों में अतिरिक्त आहार का ग्रहण हो जाता है–

- जहाँ स्थापना कुल नहीं हो, वहाँ प्रत्येक संघाटक, आचार्य, ग्लान और अतिथि साधुओं के लिए आहार लाया गया हो।

• किसी दाता के द्वारा अचानक भिक्षा पात्र को दुर्लभ द्रव्यों से भर दिया गया हो।

• भिक्षा ग्रहण के बाद उपवास की इच्छा हो जाने पर।

इन कारणों में अतिरिक्त आहार की पूर्ण संभावना रहती है, किन्तु वह आहार परिष्ठापनीय नहीं होता। ऐसी स्थिति में अतिरिक्त आहार अन्य समनोज्ञ साम्भोगिक अपरिहारिक साधुओं को निमंत्रित कर उन्हें देने का विधान है। यदि वहाँ समनोज्ञ आदि समान सामाचारी वाले साधुओं का अभाव हों तो परिष्ठापन करना पड़ सकता है।

मुनि अतिरिक्त आहार के होने पर समीपवर्ती समनोज्ञ आदि मुनियों को आमंत्रित किये बिना उसका परिष्ठान करता है तो वह माया स्थान का संस्पर्श करता है और दोषों का भागी होता है। कदाचित निकटवर्ती स्थान में समनोज्ञ मुनियों का संयोग न हो तो जिन्हें बार-बार क्षुधा का अहसास होता हो, ऐसे बाल, वृद्ध या नवदीक्षित उस आहार का परिभोग कर सकते हैं। रुग्ण मुनि उसके अनुकूल द्रव्यों का उपयोग दुबारा कर सकता है, अतिथि साधु विहार की थकान दूर होने पर पुन: आहार कर सकता है। संभवत: किसी साधु द्वारा अतिरिक्त आहार का सेवन न भी किया जाए तब भी जो साधु आत्म शुद्धि की भावना से अतिरिक्त आहार लाता है, वह विपुल निर्जरा का भागी होता है अत: छद्मस्थ मुनियों को तो दूसरे साधुओं के अनुग्रह के लिए भी अतिरिक्त आहार लाना चाहिए। अतिशय ज्ञानी के लिए यह विधि वैकल्पिक है जैसे कोई खाने वाला हो तो अतिरिक्त लाये, अन्यथा नहीं। जिनकल्पी मुनि करपात्री और पात्रधारी दोनों तरह के होते हैं। वे स्वयं के परिमाण जितना आहार ही ग्रहण करते हैं।[49]

दिगम्बर मुनि किन स्थितियों में आहार नहीं ले सकते?

दिगम्बराचार्य वट्टकेर ने भिक्षु के आहार सम्बन्धी बत्तीस अन्तराय बतलाये हैं। यहाँ अन्तराय से तात्पर्य है कि मुनि उन स्थितियों में आहार नहीं कर सकते। वे अन्तराय निम्न हैं–

1. काक – भिक्षार्थ गमन करते हुए या स्थिर खड़े हुए मुनि के ऊपर काक, बक आदि पक्षी बींट कर दें तो उस दिन आहार नहीं ले सकते हैं।

2. अमेध्य – भिक्षार्थ गमन करते हुए मुनि के पाँव विष्टा आदि से लिप्त हो जाए तो उस दिन आहार नहीं ले सकते हैं।

3. वमन – आहार करने वाले मुनि को उल्टी हो जाए तो दुबारा आहार नहीं लिया जा सकता है।

4. रोधन – इसी तरह भिक्षा के लिए जाते हुए मुनि को कोई रोक दें या पकड़ लें तो भी आहार करना नहीं कल्पता है।

5. रुधिर – भिक्षार्थ जाते समय मुनि को स्वयं के या अन्य किसी के शरीर से रूधिर निकलता हुआ दिख जाए।

6. अश्रुपात – आहार के लिए उपस्थित हुए मुनि के द्वारा अथवा किसी अन्य के दु:ख जनित आँसू निकल आये।

7. जान्वधः परामर्श – आहार के लिए उपस्थित हो जाने के पश्चात घुटनों के नीचे का भाग स्वयं के हाथ से स्पर्शित हो जाये।

8. जानूपरिव्यतिक्रम – आहार के लिए स्थिर हो जाने के पश्चात घुटनों से ऊपर के अवयवों का हाथ के अग्रभागों से स्पर्श हो जाए।

9. नाभ्यधो निर्गमन – भिक्षाचर्या करते समय नाभि के नीचे के भाग से निकलना पड़ जाए।

10. प्रत्याख्यात सेवना – त्याग की हुई वस्तु अचानक खाने में आ जाये तो उसके पश्चात आहार नहीं ले सकते हैं।

11. जन्तुवध – भिक्षार्थ जाते हुए मुनि के द्वारा अथवा अन्य के द्वारा उनके समक्ष किसी जीव की हिंसा हो जाए।

12. काकादिपिण्ड हरण - आहार करते हुए मुनि के हाथ से यदि कौवे आदि पक्षी ग्रास ले जाए तो उसके बाद अन्य आहार नहीं ले सकते हैं।

13. पिण्ड पतन – आहार करते हुए मुनि के हाथ से ग्रास नीचे गिर जाये तो उसके पश्चात अन्य आहार नहीं ले सकते हैं।

14. पाणौ जन्तु वध – आहार करते हुए मुनि के पाणिपुट में कोई जन्तु स्वयं आकर मृत हो जाये तो उसके बाद अन्य आहार नहीं ले सकते हैं।

15. मांसादि दर्शन – आहार करते हुए या आहार करने से पूर्व पंचेन्द्रिय जीव के शरीर का मांस आदि दिख जाए।

16. उपसर्ग – आहार करते हुए देवकृत उपसर्ग हो जाए।

17. पादांतरे जीव – आहार करते हुए मुनि के पैरों के बीच से पंचेन्द्रिय जीव निकल जाए।

18. भाजन संपात – आहार दाता के हाथ से भोजन पात्र गिर जाए।

19. उच्चार – आहार करते हुए मुनि के उदर से अचानक मल च्युत हो जाए।

20. प्रस्रवण – आहार के लिए उपस्थित हुए मुनि के द्वारा लघुनीति प्रवाहित होने लगे।

21. अभोज्य गृह प्रवेश – आहार की गवेषणा करते हुए मुनि का चाण्डाल आदि निषिद्ध कुलों में प्रवेश हो जाए।

22. पतन – मूर्च्छा या चक्कर आने से मुनि स्वयं गिर जाए।

23. उपवेशन – आहार करते हुए किसी कारणवश बैठना पड़ जाए तो उसके पश्चात आहार नहीं ले सकते हैं।

24. संदेश – भिक्षार्थ जाते समय मार्ग में कुत्ते द्वारा काट लिया जाए।

25. भूमि स्पर्श – आहार की प्रारम्भिक विधि करने के पश्चात यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए।

26. निष्ठीवन – आहार करते हुए मुनि के मुख से थूंक, कफ आदि निकल जाए।

27. उदर कृमि निर्गमन – आहार करते हुए मुनि के उदर से कृमि निकल जाए।

28. अदत्त ग्रहण – आहार लेते समय बिना दी गई वस्तु ग्रहण कर ली जाए।

29. प्रहार – आहारार्थ जाते समय यदि मुनि के ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि से प्रहार हो जाए।

30. ग्रामदाह – गाँव या नगर में अग्नि आदि का उपद्रव हो जाए।

31. पादेनकिंचित ग्रहण – आहार करते समय यदि पैर से कुछ ग्रहण कर लिया जाए।

32. करेण किंचित ग्रहण – आहार करते समय मुनि के द्वारा कोई वस्तु भूमि से उठा ली जाए।

उक्त स्थितियों में मुनि के लिए आहार करना वर्जित माना गया है।[50]

इन अन्तरायों के अतिरिक्त चाण्डाल का स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक संन्यास पतन, प्रधान व्यक्ति का मरण इन स्थितियों में भी मुनि को

आहार लेने का निषेध किया गया है। कदाचित राजा आदि का भय उत्पन्न हो जाये अथवा लोक निंदा हो जाये तब भी आहार करने का प्रतिषेध है।

'निर्दोष आहार की प्राप्ति संभव है' इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष

कुछ मतानुयायियों का कहना है कि इस आर्य देश में स्मृति ग्रन्थों का अनुसरण करने वाले गृहस्थ आहार बनाने सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य के लिए ही करते हैं अर्थात अधिकांश लोग श्रमण को भिक्षा देने से होने वाले पुण्य के लिए भोजन तैयार करते हैं। इसकी सिद्धि स्मृति वचन 'गुरुदत्तशेषं भुञ्जीत'– गुरु को देने के बाद बचा हुआ भोजन करना चाहिए। इस शास्त्र नीति से होती है। इसलिए गृहस्थ के घरों में श्रमण को देने के संकल्प विशेष से ही आहार तैयार किया जाता है जबकि जैन मुनि संकल्प से निर्मित भिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि मुनि दान के संकल्प से बनाया भोजन दोष वाला होता है। यह युक्तियुक्त है किन्तु असंकल्पित गुण वाली भिक्षा युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वैसा आहार होता ही नहीं है।

आचार्य हरिभद्रसूरि इस मत का समाधान करते हुए कहते हैं कि गृहस्थ ने अपने आहार के अतिरिक्त श्रमण के लिए अलग आहार बनाया हो तो ऐसे औद्देशिक, मिश्रजात आदि आहार का साधु को त्याग करना चाहिए, किन्तु श्रमण को देने के संकल्प पूर्वक अपने लिए आहार बनाया हो तो ऐसे औद्देशिक आहार का निषेध नहीं है। सुस्पष्ट है कि गृहस्थ ने अपने ही आहार में से श्रमण को देने का संकल्प किया हो तो ऐसे आहार में औद्देशिक आदि दोष नहीं लगते हैं, इसलिए असंकल्पित गुण वाली भिक्षा संभव है।

दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि सभी गृहस्थ केवल पुण्य के लिए आहार बनाते हैं ऐसा नहीं हैं। कुछ अपने कुटुम्बियों के लिए आहार बनाते हैं, कुछ घरों में सूतक (जन्म-मृत्यु) के समय भी अन्य दिनों की तरह ही आहार बनता है, जबकि सूतकादि के समय दान नहीं दिया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कुछ घरों में अपने परिवार के प्रमाणानुसार ही आहार बनता है और उसी में से दान भी दिया जाता है।

तीसरा तथ्य यह है कि जिनके घरों में प्रतिदिन एक ही परिमाण में रसोई बनती है ऐसे गृहस्थ के घरों में श्रमणों को आहार देकर पुण्य अर्जित करने का

ध्येय ही नहीं होता है अपितु ऐसे लोग साधु को जो आहार दिया जाये वही हमारा है– ऐसे भाव वाले होते हैं। वे साधु के उद्देश्य से अधिक आहार नहीं बनाते इसीलिए दान के प्रयोजन से तैयार किया गया भोजन साधु के लिए दूषित नहीं होता है। अत: निर्दोष आहार की प्राप्ति संभव है।[51]

यदि यह माना जाए कि निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना मुश्किल है तो यह कहना सत्य है। क्योंकि साधु के लिए निर्दोष आहार ही नहीं, अपितु उसकी समस्त आचार चर्या दुष्कर है– यह लोक विश्रुत भी है।

यदि यह कहा जाए कि 'निर्दोष भिक्षा दुष्कर है' तो फिर साधु को इसके लिए इतना प्रयत्न क्यों करना चाहिए? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि साध्वाचार का फल मोक्ष है। यह मोक्ष कठिन प्रयत्न किए बिना नहीं मिलता है इसलिए निर्दोष भिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

आधुनिक युग में भिक्षाचर्या के औचित्य एवं अनौचित्य का प्रश्न

जैन मुनि अपने जीवन का निर्वाह भिक्षाचर्या के द्वारा करते हैं। जैन आगमों में मुनि के लिए अपनी आजीविका के निर्वाह हेतु व्यापार आदि करने का निषेध किया गया है और स्थान-स्थान पर उसे भिक्षाचर्या के द्वारा अपनी आजीविका चलाने के लिए कहा गया है। किन्तु वर्तमान युग में भिक्षाचर्या को एक अपराध माना जाने लगा है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार ने भिक्षावृत्ति उन्मूलन नामक एक कानून भी बनाया था, यद्यपि वह कानून पूरी तरह से लागू नहीं हो पाया, फिर भी यह तो एक सुनिश्चित सत्य है कि आधुनिक युग में भिक्षावृत्ति के माध्यम से आजीविका अर्जन को अच्छा नहीं माना जाता है।

सामान्यतया यह कहा जाता है कि जो शारीरिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का कार्य करने में समर्थ हैं उन्हें अपनी आजीविका का अर्जन श्रम पूर्वक ही करना चाहिए, क्योंकि यदि समर्थ व्यक्ति भी अपनी आजीविका चलाने के लिए भिक्षावृत्ति का सहारा लेगा तो देश में अकर्मण्यता बढ़ेगी और उसके परिणाम स्वरूप देश का विकास भी अवरुद्ध होगा। अत: शासन समर्थ व्यक्तियों के लिए भिक्षावृत्ति को उचित नहीं माना जा सकता। जो किसी भी प्रकार के कार्य करने में पूर्णत: असमर्थ हैं, उन लोगों के लिए ऐसे अपंग आश्रम आदि बनाने की व्यवस्था की गई है, जहाँ वे लोग अपनी आजीविका पाकर जीवन जी सकते हैं।

जहाँ तक जैन मुनियों और साधुओं का प्रश्न है उनमें सामान्यतया विकलांग व्यक्ति को दीक्षा देने का निषेध किया गया है। जैन साधु-साध्वी शारीरिक दृष्टि से आजीविका अर्जन करने के योग्य ही होते हैं, अत: उनके द्वारा भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करने का समर्थन नहीं किया जा सकता है। यहाँ यह समस्या उत्पन्न होती है कि जैन मुनियों को भिक्षावृत्ति के द्वारा आजीविका प्राप्त करना चाहिए अथवा नहीं? यदि वे भिक्षावृत्ति का परित्याग करते हैं और अपनी आजीविका अर्जन के लिए अन्य किन्हीं साधनों का उपयोग करते हैं तो वे जिनाज्ञा का भंग करते हैं और इस प्रकार उनकी धर्म और आध्यात्मिक साधना भी बाधित होती है किन्तु दूसरी ओर यदि वे भिक्षावृत्ति का त्याग करते हैं तो उनकी आजीविका की पूर्ति कैसे हो, यह प्रश्न उपस्थित होता है? पुन: यदि भिक्षावृत्ति का समर्थन किया जाता है तो एक वर्ग के लिए इसकी छूट देने पर दूसरा वर्ग भी उसके लिए छूट की अपेक्षा करेगा और इस प्रकार भिक्षावृत्ति निरोध संभव नहीं होगा। इस समस्या का समाधान कैसे हो, यह आज का एक विचारणीय प्रश्न है?

सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में भिक्षावृत्ति का अर्थ स्पष्ट करना होगा। सड़क पर अपनी दीनता को बताकर भिक्षावृत्ति प्राप्त करना एक अलग बात है और गृहस्थों के घर से उनके लिए तैयार भोजन में से एक या आधी रोटी लाना दूसरी बात है। जैन साधु के लिए दीनता पूर्वक भिक्षावृत्ति का पूर्णतया निषेध है। न तो वह अपनी दीनता को प्रकाशित करता है और न दाता को किसी प्रकार का भय या प्रलोभन दिखाता है। एक सत्य यह भी है कि जैन मुनि अपनी भिक्षावृत्ति के माध्यम से मात्र पका हुआ भोजन ही लेता है। वह किसी प्रकार के धन आदि की याचना नहीं करता है और न दाता को देने के लिए विवश करता है। अत: जैन मुनि की भिक्षावृत्ति अन्य परम्पराओं की भिक्षावृत्ति से बिल्कुल भिन्न है। वह सड़क पर खड़े होकर भी भिक्षा की याचना नहीं करता है, मात्र लोगों के घरों पर जाकर यदि उनके द्वार खुले हों और भोजन निष्पन्न हो तो ही अपनी याचना करता है।

वस्तुत: जैन मुनि भिक्षा की याचना नहीं करता बल्कि गृहस्थ वर्ग उन्हें भिक्षा देने के लिए भावोल्लास पूर्वक खड़े रहते हैं। इसलिए सामान्यतया जिसे भिक्षा समझा जाता है जैन मुनि की भिक्षाचर्या उससे भिन्न है।

भिक्षावृत्ति के कारण अकर्मण्यता या श्रम नहीं करने की प्रवृत्ति पनपती है। कुछ व्यक्ति तो शारीरिक दृष्टि से समर्थ होकर भी श्रम न करना पड़े इस उद्देश्य से भिक्षावृत्ति के द्वारा अपना जीवन यापन करते हैं। इस प्रकार भिक्षावृत्ति अकर्मण्यता और श्रम के प्रति उदासीनता का भाव जागृत करती है। यह वाक्य एक दृष्टि से उचित है कि भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन देने पर समाज में अकर्मण्यता की वृद्धि होती है। लोग श्रम करने से जी चुराने लगते हैं किन्तु जहाँ तक जैन मुनि का प्रश्न है वह पराश्रित जीवन नहीं जीता है। भोजन को छोड़कर शेष सभी कार्य उसे स्वयं करने पड़ते है। यहाँ तक कि वह न तो किसी वाहन का प्रयोग कर सकता है और न ही दूसरों से अपने शरीर की सेवा करवा सकता है। हमेशा अप्रमत्त रहते हुए अपने सभी कार्य उसे स्वयं करने के लिए कहा गया है, इसी के साथ गाँव-गाँव में जाकर नैतिक चेतना जागृत करने का दायित्व भी उसे दिया गया है। अत: उसके लिए अकर्मण्यता का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैन मुनि भिक्षावृत्ति इसलिए नहीं करता कि उसे श्रम नहीं करना पड़े अपितु वह भिक्षावृत्ति इसलिए करता है कि भोजन के निर्माण आदि में जो षट्जीवनिकाय के जीवों की हिंसा होती है, उससे बच सकें। मुनि को यह भी कहा गया है कि वह भिक्षा में रूखा, सूखा जैसा भी भोजन मिले उसे पाकर संतुष्ट रहे। यदि उसे स्वयं को भोजन बनाने की अनुमति दी जाए तो वह सदैव अपना मनोवांछित भोजन बनाने का प्रयत्न करेगा। इससे न केवल वह जीव हिंसा का भागी होगा अपितु अपने रसनेन्द्रिय पर संयम भी नहीं रख सकेगा। भोजन तैयार करने के लिए उसे अनेक प्रकार के साधन जुटाने पड़ेंगे। इससे उसमें परिग्रह वृत्ति का विकास होगा और साधना निर्बल बनेगी। भोजन सामग्री की प्राप्ति के लिए उसे धन की आवश्यकता भी होगी। यहाँ भी एक ओर गृहस्थों पर भार बनेगा तो दूसरी ओर उसमें भविष्य के लिए संचय वृत्ति का भी विकास होगा जो उसकी साधना के लिए उचित नहीं है।

इस प्रकार जैन मुनि के लिए भिक्षावृत्ति का निषेध अनेक कठिनाइयों का जनक होगा। भोजन सामग्री के लिए अर्थ जुटाने, उपलब्ध अर्थ से भोजन सामग्री खरीदने और उसके निर्माण आदि क्रियाओं में ही उसका समय चला जायेगा फिर वह कब और कैसे साधना कर पायेगा? अत: हमारी दृष्टि में भिक्षावृत्ति का निषेध उन्हीं संदर्भों में उचित होगा, जिनसे अकर्मण्यता और कमजोरी की प्रवृत्ति का विकास हो।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का श्रम करने में पूर्णतया असमर्थ हैं तथा जो लोग आत्म साधना और धर्म साधना में लगे हुए हैं तथा समाज से थोड़ा लेकर बहुत अधिक देते हैं उनके लिए भिक्षावृत्ति को खुली रखना आवश्यक है।

आहार की शुद्धता और औद्देशिकता का प्रश्न

सामान्यतया जैन परम्परा में औद्देशिक अर्थात मुनि के निमित्त बनाये गये आहार का ग्रहण निषिद्ध माना गया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह परम्परा जीवित है। आज भी जैन संघ के अनेक सम्प्रदायों में औद्देशिक आहार का ग्रहण वर्जित ही माना जाता है। किन्तु कालान्तर में यह विचार प्रमुख हुआ कि आहार अनौद्देशिक हो यह तो ठीक है, किन्तु उसे शुद्ध भी होना चाहिए। मदिरा, मांस आदि महाविकृतियों एवं बाईस अभक्ष्यों से रहित आहार शुद्ध कहलाता है। सामान्यता तो जैन मुनि के लिए यही कहा गया है कि उसका आहार अनौद्देशिक और शुद्ध ही है किन्तु आपवादिक स्थिति में क्या किया जाये? अनौद्देशिकता और परिशुद्धता में किसे प्राथमिकता दी जाये? यह विवाद का विषय बना हुआ है। प्रश्न हो सकता है कि यदि भूखे रहना असंभव हो और अनौद्देशिक आहार अशुद्ध हो तथा औद्देशिक आहार शुद्ध हो तो कौनसा आहार ग्रहण किया जाए? कुछ आचार्यों का कहना है कि ऐसी आपवादिक स्थिति में अशुद्ध आहार ले सकते हैं किन्तु औद्देशिक आहार नहीं लेना चाहिए। दूसरी परम्परा यह मानती है कि यदि औद्देशिक आहार शुद्ध हो तो उसे ले लेना चाहिए लेकिन अशुद्ध आहार नहीं लेना चाहिए।

इस सम्बन्ध में जहाँ तक आगमों का प्रश्न है वहाँ अनौद्देशिकता को ही प्रधानता दी गई है।[52] इसका एक कारण यह भी है कि आगमों में सामान्यतया आपवादिक परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसका सुस्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। उनमें सामान्य नियमों की ही चर्चा है। यद्यपि आचारांग में कुछ स्थलों पर कुछ आपवादिक परिस्थितियों का संकेत हुआ है, किन्तु मुख्यत: आगम सामान्य स्थिति की ही चर्चा करते हैं। आपवादिक परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसकी विस्तृत चर्चा आगमिक व्याख्या साहित्य में और उसमें भी विशेष रूप से छेद सूत्रों की व्याख्याओं में मिलती है।[53]

प्रस्तुत समस्या के संदर्भ में चूर्णि साहित्य में ऐसा उल्लेख है कि ऐसी विकट परिस्थिति में जब जीवन रक्षण के लिए अनौद्देशिक और परिशुद्ध में से किसी एक विकल्प का ही चयन संभव हो तो परिशुद्धता पर बल दिया जाना चाहिए। व्याख्याकारों का यह कहना है कि यदि उस नगर में जैन परम्परा के श्रद्धावान श्रावकों के घर हों तो चाहे मुनि को औद्देशिक आहार लेना पड़े तो लेना चाहिए, किन्तु किसी भी स्थिति में अपरिशुद्ध सचित्त आहार नहीं लेना चाहिए। यदि उस नगर में जैन श्रद्धावान श्रावकों के घर न हों तो उस स्थिति में अनौद्देशिक आहार को ही प्रमुखता देनी चाहिए। चाहे वह अशुद्ध क्यों न हो।

यद्यपि यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वह अनौद्देशिक अशुद्ध आहार भी सचित्त न हो। प्रस्तुत विकल्प से यह प्रतीत होता है कि यदि मुनि जैन श्रावकों की उपस्थिति में अशुद्ध आहार ग्रहण करेगा तो श्रावक वर्ग पर उसका विपरीत प्रभाव होगा। इसलिए श्रावक वर्ग की उपस्थिति में यदि आहार ग्रहण करना आवश्यक ही हो तो परिशुद्ध आहार ही लेना चाहिए। चाहे वह औद्देशिक क्यों न हो।

जहाँ तक वर्तमान परम्परा का प्रश्न है जैन मुनि मदिरा, मांस आदि महाविगयों का सेवन तो प्राणान्तक कष्ट आने पर भी नहीं करते हैं, किन्तु जमीकन्द, प्याज, लहसुन आदि से युक्त अशुद्ध आहार लेने के विषय में दो परम्पराएँ देखी जाती है। दिगम्बर परम्परा में आहार शुद्धि पर विशेष ध्यान रखा जाता है और इसीलिए इस परम्परा में औद्देशिकता का अधिक विचार नहीं किया गया है। जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें भी अधिकांश मुनिजन अब परिशुद्धता का ही विशेष ध्यान रखते हैं। किन्तु कुछ परम्पराएँ आज भी ऐसी हैं जो अनौद्देशिकता पर ही अधिक बल देती हैं, आहार की शुद्धता पर नहीं और इसीलिए गाँव आदि में प्याज, लहसुन आदि से युक्त अनौद्देशिक आहार को प्रमुखता दी जाती है। फिर भी यह कह सकते हैं कि आज अधिकांश मुनिजनों के द्वारा आहार की परिशुद्धता का ही विशेष ध्यान रखा जाता है और औद्देशिकता को गौण माना जाता है। उनका कहना है कि अशुद्ध आहार के ग्रहण करने पर श्रावक वर्ग पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और वे भी जमीकंद आदि अभक्ष्य भोजन की ओर प्रवृत्त होते हैं। अत: आहार की परिशुद्धता को विशेष महत्त्व देना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. आचारांगसूत्र, 1/8/3/210
2. पंचाशक प्रकरण, 13/30-31
3. सुरुदयत्थमणादो, णालीतिय वज्जिदे असणकाले।
   तिग-दुग-एग-मुहुत्ते, जहण्ण मज्झिममुक्कस्से ॥
   मूलाचार, 6/492 की टीका
4. मूलाचार, 1/35
5. वही, 5/318 की टीका
6. भगवती आराधना, 1200 की टीका
7. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 1/35
   (ख) दशवैकालिकसूत्र, 5/1/83
8. पिण्डनिर्युक्ति, 642, 650, 652
9. ओघनिर्युक्ति, 587-588
10. पिण्डनिर्युक्ति, 649
11. दशवैकालिकसूत्र, 5/2/38
12. वही, 5/2/33
13. जिनभाषित, पृ. 33
14. वही, पृ. 33-35
15. वही, पृ. 23-25
16. ठाणे अ दायए चेव, गमणे गहणाऽऽगमे।
    पत्ते परिअत्ते पहिए, अ गुरुअं तिहा भावे॥
    ओघनिर्युक्ति, 462
17. पमाणे[1] काले[2] आवस्सए[3] अ, संघाडए[4] अ उवगरणे[5]।
    मत्तय[6] काउसग्गो[7] जस्स[8], च जोगो सपडिवक्खो॥
    ओघनिर्युक्ति, 411
18. बृहत्कल्पभाष्य, 1703
19. ओघनिर्युक्ति, 426

20. धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 108
21. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/1-16
22. वही, 5/1/17-22
23. दशवैकालिक चूर्णि, पृ. 164
24. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/23-26
25. वही, 5/1/27-53, 104-112 पृ. 195
26. वही, 5/2/1-24
27. वही, 5/2/26
28. आचारचूला, 1/1/4
29. वही, 1/5/25
30. निशीथ भाष्य, 148 की चूर्णि
31. (क) आचारांगसूत्र, 2/1/6-8 के आधार पर
    (ख) दशवैकालिकसूत्र, 5वाँ अध्ययन
32. मूलाचार, 6/239
33. वही, 6/493-94
34. भगवती आराधना, 1200 की टीका
35. वही, 1200 की टीका
36. आचारांगसूत्र, मुनि सौभाग्यमल, 2/1/1/9
37. वही, 1/1/10
38. वही, 1/1/12
39. आचारांगसूत्र, 1/1/13-18
40. वही, 1/3/21
41. वही, पृ. 62
42. वही, 1/4/23
43. वही, पृ. 69
44. वही, 1/5/28

45. वही, पृ 82
46. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो।
उत्तराध्ययनसूत्र, 12/37
47. आचारांगसूत्र, भा. 2/पृ. 40-41
48. वही, 2/1/2/11
49. निशीथ भाष्य, 1123,26-28 की चूर्णि
50. मूलाचार, 6/495-500
51. पंचाशक प्रकरण, 12/34-40,43
52. (क) आचारांगसूत्र, 2/1/331-32
(ख) दशवैकालिकसूत्र, 5/70
53. आचारांग टीका, पृ. 325

●

अध्याय-4

आहार से सम्बन्धित बयालीस दोषों के कारण एवं उनके परिणाम

आहार का सामान्य अर्थ 'भोजन' है। जो भूख-प्यास को शांत रखते हैं और शरीर को पुष्टता प्रदान करते हैं, उन पदार्थों को ग्रहण करना आहार है। आचार्य पूज्यपाद ने आहार का अर्थ विश्लेषित करते हुए कहा है कि तीन शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) और छह पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा एवं मन) के योग्य पुदगल वर्गणाओं को ग्रहण करना आहार है।[1]

जैन आचार में मुनि संबंधी आहार के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे कि पिण्डनिर्युक्ति आदि में 'पिंड', पंचवस्तुक में 'भक्तपान', विंशतिविंशिका में 'भिक्षा' आदि शब्द व्यवहृत हैं।

'पिंडि संघाते' धातु से पिंड शब्द निष्पन्न है। अन्वर्थक दृष्टि से सजातीय या विजातीय वस्तुओं का एकत्रित होना पिंड कहलाता है। जैनाचार्यों ने अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चतुर्विध आहार को 'पिण्ड' नाम की संज्ञा दी है।

मूलाचार में पिण्ड शुद्धि का अर्थ आहार शुद्धि है। 'पिण्ड' यह शास्त्रीय नाम है इसी कारण मुनि भिक्षा से सन्दर्भित कई रचनाएँ पिण्डनिर्युक्ति, पिण्डविशुद्धि, पिण्डविधान आदि नामों से देखी जाती है। इनमें मुनि आहार से संभावित 42 दोषों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है जो संक्षेप में इस प्रकार है–

इन बयालीस दोषों में सोलह दोष उद्गम सम्बन्धी, सोलह दोष उत्पादना सम्बन्धी एवं दस दोष एषणा सम्बन्धी माने जाते हैं।

उद्गम के सोलह दोष

उत् उपसर्ग पूर्वक गम धातु से उद्गम शब्द बना है जिसका अर्थ है उत्पन्न होना। तदनुसार जिन दोषों से आहार उद्गच्छति अर्थात उत्पन्न होता है वे उद्गम दोष हैं अथवा आहार पकाते समय या देते समय दाता के द्वारा जो दोष

एवं स्खलनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे उद्गम दोष कहलाते हैं।

पिण्डनिर्युक्ति में उद्गम के तीन समानार्थी शब्दों का उल्लेख है– उद्गम, उद्गोपन और मार्गणा।[2]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक प्रकरण एवं पंचवस्तुक में उद्गम, प्रसूति और प्रभव इन तीन शब्दों को उद्गम का एकार्थक माना है। ये उद्गम दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं।[3]

पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार उद्गम सम्बन्धी सोलह दोषों के नाम एवं स्वरूप निम्न है–

1. आधाकर्म 2. औद्देशिक 4. पूतिकर्म 4. मिश्रजात 5. स्थापना 6. प्राभृतिका 7. प्रादुष्करण 8. क्रीत 9. प्रामित्य 10. परावर्तित 11. अभिहृत 12. उद्भिन्न 13. मालापहृत 14. आच्छेद्य 15. अनिसृष्ट और 16. अध्यवपूरक।[4]

विशोधिकोटि - अविशोधिकोटि

उद्गम के सोलह दोषों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है– अविशोधिकोटि और विशोधिकोटि। जिसके द्वारा गच्छ में अनेक दोष उत्पन्न होते हों, वह कोटि है।[5] कोटि नौ प्रकार की होती है– स्वयं हिंसा करना, दूसरे से हिंसा करवाना और हिंसा का अनुमोदन करना, भोजन पकाना, दूसरों से पकवाना और पकाने वाले का अनुमोदन करना– ये छह कोटियाँ अविशोधिकोटि रूप कहलाती हैं और स्वयं खरीदना, दूसरों से खरीदवाना और खरीदने वालों का अनुमोदन करना– ये तीन विशोधिकोटि के अन्तर्गत हैं।

अविशोधिकोटि को उद्गम कोटि भी कहा जा सकता है।[6] जो आहार दोष से युक्त हो किन्तु उसमें से दोष युक्त आहार की मात्रा अलग की जा सके अथवा निकाल दी जाए तो अवशिष्ट शुद्ध आहार विशोधिकोटि का कहलाता है और वह मुनि के लिए ग्राह्य होता है तथा जिस आहार में से दोष युक्त आहार को पृथक करना संभव नहीं हो वह अविशोधिकोटि का कहलाता है।[7]

उद्गम के सोलह दोषों में आधाकर्म, औद्देशिक, पूतिकर्म, मिश्रजात, बादर प्राभृतिका और अध्यवतर के अंतिम दो भेद अविशोधिकोटि के अन्तर्गत आते हैं। इसमें भी औद्देशिक, मिश्रजात और अध्यवतर के कुछ भेद अविशोधिकोटि में तथा कुछ भेद विशोधिकोटि के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं।[8]

शेष ओघ औद्देशिक, मिश्रजात का प्रथम भेद (यावदर्थिक मिश्र), उपकरण पूति, स्थापना, सूक्ष्म प्राभृतिका, प्रादुष्करण, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, अभ्याहृत, उद्भिन्न, मालापहृत, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, अध्यवपूरक का प्रथम भेद (स्वगृह यावदर्थिक) ये सभी अविशोधिकोटि के अन्तर्गत आते हैं।[9]

यहाँ ध्यातव्य है कि अविशोधिकोटि के अवयव से युक्त पदार्थ यदि विशुद्ध आहार के साथ मिल जाए तो उस अशुद्ध आहार का विसर्जन करने के पश्चात भी पात्र को तीन बार साफ करना आवश्यक है अन्यथा पूतिदोष लगता है किन्तु विशोधिकोटि आहार के संयुक्त होने पर तीन बार धोने की आवश्यकता नहीं रहती। अब उद्गम दोषों का स्वरूप कहते हैं-

1. आधाकर्म दोष

आधाकर्म का शाब्दिक अर्थ होता है जिस आहार का आधा भाग साधु के उद्देश्य से निर्मित किया गया हो, वह आधाकर्म दोष वाला आहार कहलाता है। निर्युक्तिकार के अनुसार जो आहार आदि साधु को आधार मानकर निष्पन्न किया जाता है, वह आधाकर्म है।[10]

नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने आधाकर्म को स्पष्ट करते हुए कहा है कि साधु के उद्देश्य से सचित्त वस्तु को अचित्त करना, गृह आदि बनाना और वस्त्र आदि बुनना आधाकर्म है।[11] आधाकर्म की अन्य परिभाषाएँ भी की गई हैं।

पिण्डनिर्युक्ति में आधाकर्म के तीन एकार्थक कहे गये हैं-1. अध:कर्म 2. आत्मघ्न और 3. आत्मकर्म। सूयगडो में इसके लिए आहाकड-आधाकृत शब्द का प्रयोग भी है।[12]

अध:कर्म – आधाकर्म आहार का ग्रहण करने से शुभ अध्यवसाय हीन से हीनतर होते हैं। अत: कारण में कार्य का उपचार करके आधाकर्म का एक नाम अध:कर्म रखा गया है।

आत्मघ्न– आधाकर्मी आहार का सेवन करने वाला जीवों के हनन के साथ-साथ ज्ञान, दर्शन और चारित्र का घात भी कर देता है, इसलिए आधाकर्म का एक नाम आत्मघ्न है।[13]

आत्मकर्म– आधाकर्म आहार ग्रहण करने वाला मुनि अशुभ भाव में परिणत होकर गृहस्थ के पचन-पाचन आदि कर्म से स्वयं को जोड़ लेता है तथा संक्लिष्ट परिणामों से कर्मों का बंध करता है। अत: आधाकर्म का एक नाम आत्मकर्म भी है।[14]

निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने आधाकर्म की विशद व्याख्या हेतु नौ द्वार भी बतलाये हैं–1. आधाकर्म के नाम 2. उसके एकार्थक 3. किसके लिए बनाया आधाकर्म? 4. आधाकर्म का स्वरूप 5. परपक्ष 6. स्वपक्ष 7. अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि चार दोष 8. आधाकर्म का ग्रहण 9. आज्ञा भंग आदि दोष।

पिण्डविशुद्धि प्रकरण में भी नौ द्वारों का उल्लेख किया गया है लेकिन उनमें कुछ भिन्नता है। पिण्डनिर्युक्ति में प्रश्नवाचक के रूप में द्वारों का संकेत है, जबकि पिण्डविशुद्धिप्रकरण में सर्वनाम के रूप में। वहाँ 1. यत्-जो (स्वरूप) 2. यस्य-जिसका 3. यथा- जिस रूप में आधाकर्म दोष लगता है 4.यादृश–वान्त आदि की उपमा द्वारा आधाकर्म की स्पष्टता 5. दोष 6. आधाकर्म आहार देने वाले श्रावक के दोष 7. यथापृच्छा विधि-परिहार 8. छलना 9. शुद्धि- इस तरह नौ द्वारों का वर्णन है।

इन द्वारों की विस्तृत जानकारी हेतु पिण्डनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीका, जीतकल्पभाष्य, पिण्डविशुद्धिप्रकरण आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

परिणाम– आचार्य मलयगिरि ने आधाकर्म आहार को हेय बताते हुए कहा है कि जैसे सहस्रानुपाती विष के प्रभाव से हजारवाँ व्यक्ति भी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आधाकर्म आहार के कण मात्र से संस्पृष्ट हजारवें व्यक्ति के पास जाने पर भी वह आहार मुनि के संयमी जीवन का नाश करने वाला होता है।[15]

निर्युक्तिकार के अनुसार आधाकर्म आहार ग्रहण करने से निम्न चार दोष लगते हैं-1. जिनेश्वर की आज्ञा का भंग 2. अनवस्था अर्थात दोष की परम्परा का चलते रहना 3. मिथ्यात्व की प्राप्ति और 4. विराधना।[16]

पिण्डविशुद्धिप्रकरण में यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि जब मुनि आधाकर्म आहार न निष्पन्न करते हैं, न करवाते हैं और न ही उसका अनुमोदन करते हैं तो फिर तीन योगों से शुद्ध मुनि के लिए गृहस्थ द्वारा कृत आधाकर्म आहार ग्रहण करने में क्या दोष है?[17]

इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि यदि मुनि जानते हुए आधाकर्म आहार को ग्रहण करता है तो इसका तात्पर्य है कि वह आधाकर्म भोजन बनाने

के प्रसंग को बढ़ावा देता है। जब एक मुनि किसी को आधाकर्म आहार ग्रहण करते हुए देखता है तो उसके आलम्बन से दूसरा मुनि भी आधाकर्म आहार ग्रहण करने लगता है। उसे देखकर अन्य मुनि भी आधाकर्मी आहार ग्रहण में प्रवृत्त हो सकते हैं। इस प्रकार दोष बहुल मुनियों की परम्परा बढ़ने से संयम और तप का विच्छेद होता है इससे तीर्थ का विच्छेद हो जाता है। तीर्थ का लोप करने वाला महान आशातना का भागी होता है।[18]

आधाकर्म ग्रहण का तीसरा दोष है मिथ्यात्व की प्राप्ति। देश, काल और संहनन के अनुरूप अपनी शक्ति का गोपन नहीं करते हुए आगमोक्त विधि का पालन नहीं करने वाला साधु दूसरों में शंका उत्पन्न करने के कारण महामिथ्यादृष्टि वाला होता है। उसे देखकर अन्य साधु सोचते हैं कि यह तत्त्व को जानते हुए भी आधाकर्म आहार ग्रहण करता है, तब जिनवाणी में कही गई बात मिथ्या होनी चाहिए। इस प्रकार शंका उत्पन्न होने पर वह मिथ्यात्व की परम्परा को आगे बढ़ाता है।[19]

इसके अतिरिक्त आधाकर्मी आहार करने वाला मुनि स्वयं में और दूसरों में आसक्ति को बढ़ावा देता हुआ सजीव पदार्थों को खाने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता।

आधाकर्मी आहार लेने का चौथा दोष है विराधना। अत्यधिक मात्रा में स्निग्ध आहार करने से मुनि रुग्ण हो जाता है। रोग होने से उसकी एवं प्रतिचारकों की सूत्र और अर्थ की हानि होती है। रोग चिकित्सा में षट्काय की हिंसा होती है। प्रतिचारकों द्वारा अच्छी तरह सेवा न होने पर वह स्वयं क्लेश का अनुभव करता है तथा परिचारकों पर क्रोधित होने के कारण उनके मन में भी संक्लेश उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह आत्म विराधना और संयम विराधना को प्राप्त करता है।[20]

पिण्डनिर्युक्ति में यह भी वर्णित है कि जैसे सुसंस्कृत भोजन का वमन हो जाने पर वह भोजन अभोज्य बन जाता है वैसे ही आधाकर्मी भोजन मुनि के लिए अनेषणीय और अभोज्य हो जाता है।[21] इसमें प्रकारान्तर से लौकिक उदाहरण देते हुए यह कहा गया है कि जैसे वेद आदि धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार भेड़ी-ऊँटनी का दूध, लहसुन, प्याज, सुरा और गोमांस आदि वस्तुएँ अखाद्य हैं वैसे ही जिनशासन में आधाकर्मी आहार अग्राह्य है।[22]

भगवतीसूत्र के अनुसार आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म प्रकृतियों को बांधता है, शिथिल बन्ध वाली कर्म प्रकृतियों को दृढ़ बन्धन के समान कर लेता है, अल्पकालिक स्थिति वाली कर्म प्रकृतियों को दीर्घकालिक स्थिति वाली कर लेता है, मन्द फल वाली कर्म प्रकृतियों को तीव्र फल वाली कर लेता है, अल्पप्रदेश वाली कर्म प्रकृतियों को बहुप्रदेश वाली कर लेता है तथा दीर्घकाल पर्यन्त चतुर्गति संसार रूप अटवी में परिभ्रमण करता है।[23]

इस आगम में यह भी कहा गया है कि श्रद्धालु गृहस्थ ने आगन्तुक भिक्षुओं के लिए जो आहार बनाया है, उससे भिन्न शुद्ध आहार हजार घर के अन्तर से भी मिश्रित हो जाये और उसका उपभोग कर लिया जाये तो गृहस्थ और साधु दोनों ही वैशालिक जाति के मत्स्य की भाँति दुःखी होते हैं जैसे-बाढ़ के जल के प्रभाव से सूखे स्थान में पहुँचे हुए वैशालिक मत्स्य मांसार्थी ढंक और कंक पक्षियों द्वारा सताये जाते हैं। इसी प्रकार वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्त बार विनाश को प्राप्त होते हैं।[24]

भगवतीसूत्र के पाँचवें शतक में उल्लेख आता है कि आधाकर्म आहार को अनवद्य मानकर स्वयं उसका भोग करने वाला, दूसरों को खिलाने वाला और लोगों के बीच आधाकर्म को अनवद्य प्ररूपित करने वाला मुनि यदि इस तरह के अपराधों का प्रायश्चित्त किए बिना कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो वह विराधक है।[25]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरों तथा महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों ने आधाकर्म पिण्ड में इतनी छूट दी है कि जिस साधु के लिए आधाकर्म बनाया गया है, उसके लिए वह आहार ग्राह्य नहीं होता लेकिन शेष साधु उसे ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा क्यों?[26] इसका कारण बताते हुए भाष्यकार ने कहा है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु जड़ होने के कारण स्वकृत अपराधों की आलोचना तो करते हैं लेकिन उसके समान अन्य दोषों का परिहार नहीं कर पाते तथा अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्र जड़ होते हैं। वक्र होने के कारण स्वकृत दोषों को सहजतया स्वीकार नहीं करते और जड़ होने के कारण बार-बार आधाकर्म आदि का सेवन करते रहते हैं। जबकि मध्यम बाईस तीर्थंकरों के साधु-साध्वी ऋजु प्राज्ञ होते हैं। ऋजु होने से कृत दोषों की

आलोचना निश्छल हृदय से करते हैं तथा प्राज्ञ होने से तज्जातीय भिक्षा सम्बन्धी दोषों का निवारण भी स्वयं कर देते हैं।[27]

जैन धर्म अनेकांतवादी है, अत: बृहत्कल्पभाष्य में आधाकर्मी आहार ग्रहण के अपवाद भी बताए गए हैं। दुर्भिक्ष की स्थिति में अथवा आचार्य, उपाध्याय या कोई भिक्षु ग्लान हो तो आधाकर्म आहार ग्रहण की भजना होती है। भयंकर अटवी में प्रवेश करने से पूर्व तीन बार शुद्ध आहार की गवेषणा करने पर भी वैसा आहार प्राप्त न हो तो चौथी बार में आधाकर्मी आहार ग्रहण किया जा सकता है।[28]

आधाकर्म की शुद्धि तीन कल्प से ही संभव

आधाकर्मी आहार से युक्त पात्र को खाली करने के पश्चात भी उसका तीन बार शोधन नहीं किया जाता, तब तक वह पूति दोष युक्त कहलाता है। निर्युक्तिकार ने कल्पत्रय की व्याख्या दो प्रकार से की है। बर्तन में आधाकर्म भोजन पकाया, उसको किसी दूसरे बर्तन में निकालकर अंगुली से पूरा साफ कर दिया, यह प्रथम लेप है। इसी प्रकार तीन बार साफ करने तक वह पात्र पूति दोष युक्त कहा गया है। उस बर्तन में चौथी बार पकाया गया आहार निर्दोष होता है अथवा ऐसे बर्तन को तीन बार अच्छी तरह धोकर एवं कपड़े से पोंछकर फिर उसमें आहार पकाया जाए तो वह शुद्ध होता है। इसी प्रकार साधु के पात्र में यदि आधाकर्मी आहार आ जाए तो उसे तीन बार प्रक्षालित करना चाहिए अन्यथा शुद्ध आहार भी पूति दोष युक्त हो जाता है।[29]

2. औद्देशिक दोष

औद्देशिक का शब्दानुसारी अर्थ है जो आहार साधु के उद्देश्य से निर्मित हो, वह औद्देशिक कहलाता है। जैन व्याख्याकारों ने औद्देशिक के निम्न दो अर्थ किये हैं–

1. जैन साधु को दान देने हेतु आरंभ-समारंभ पूर्वक बनाया गया आहार आदि औद्देशिक कहा जाता है।

2. श्रमण, माहण, अतिथि, कृपण आदि भिक्षाचरों के निमित्त से समुच्चय रूप में बनाया गया आहार औद्देशिक है।[30]

मूलाचार के अनुसार देवता, पाखंडी, अन्यदर्शनी या कृपण आदि के निमित्त बनाया गया आहार औद्देशिक कहलाता है।[31] पिण्डनिर्युक्ति आदि में औद्देशिक दोष के दो भेद किये गये हैं- ओघ और विभाग।[32]

(i) ओघ औद्देशिक– 'यहाँ कुछ नहीं दूंगा तो अगले जन्म में कुछ नहीं मिलेगा' यह सोचकर गृहस्थ द्वारा पकाए जा रहे आहार में अन्य दर्शनी साधुओं के लिए विभाग किये बिना ही अधिक चावल आदि डालकर बनाया गया आहार ओघ औद्देशिक है।[33]

(ii) विभाग औद्देशिक – श्रमण, ब्राह्मण आदि का विभाग करके जो भोजन पकाया जाता है वह विभाग औद्देशिक है। पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार विवाह आदि उत्सव समाप्त होने के पश्चात का शेष बचे हुए पक्वान्न का कुछ हिस्सा दान हेतु अलग रखना विभाग औद्देशिक है।[34] इसके तीन प्रकार हैं– उद्दिष्ट, कृत और कर्म।

(i) उद्दिष्ट औद्देशिक – अपने लिए बनाये हुए भोजन में से साधु के लिए अलग हिस्सा निकाल कर रखना अथवा मुनियों को देने के उद्देश्य से अधिक भोजन बनाना उद्दिष्ट औद्देशिक है। इसमें साधु को भिक्षा देने का उद्देश्य होने से इसे उद्दिष्ट औद्देशिक दोष कहा गया है।[35]

(ii) कृत औद्देशिक – विवाहादि के अवसर पर भोजनोपरान्त बचे हुए भोजन को दान हेतु संस्कारित करना, जैसे चावल का करबा आदि बनाना कृत औद्देशिक है। इसमें निर्मित आहार को पुनः संस्कारित किए जाने से इसे कृत औद्देशिक कहा गया है।[36]

(iii) कर्म औद्देशिक – विवाह में बचे हुए मोदक के चूरे को भिक्षाचरों में वितरित करने हेतु गुड़पाक आदि से पुनः मोदक रूप बनाना कर्म औद्देशिक कहा जाता है।

आधाकर्म और कर्म औद्देशिक में यह अंतर है कि आधाकर्मी आहार प्रारंभ से ही साधु के निमित्त बनाया जाता है जबकि कर्म औद्देशिक में गृहस्थ अपने बनाए हुए आहार में कुछ वृद्धि करता है अथवा संस्कारित करता है।[37]

उद्दिष्ट, कृत और कर्म-इन तीनों के चार-चार अवान्तर भेद होते हैं– उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश।

(i) उद्देश – जो कोई भिक्षा के लिए आयेगा उन सभी को अमुक प्रकार की भिक्षा देने का संकल्प किया गया आहार उद्देश है।

(ii) समुद्देश– 'यह भिक्षा अन्य दर्शनी साधुओं को दूंगा' इस प्रकार का संकल्पित आहार जैन मुनि को बहराना समुद्देश है।

(iii) आदेश– यह भिक्षा निर्ग्रन्थ (जैन), शाक्य (बौद्ध साधु), तापस (वनवासी साधु), गैरूक (गैरूए वस्त्र पहनने वाले त्रिदंडी) और आजीवक (गौशालक मतानुयायी) इन पाँच प्रकार के श्रमणों को दूंगा– इस तरह संकल्प पूर्वक बनाई गई भिक्षा आदेश है।

(iv) समादेश – 'यह भिक्षा जैन श्रमण को ही दूंगा' ऐसी संकल्पित भिक्षा समादेश है।

सार रूप में कहा जाए तो भिक्षाचरों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार उद्देश, विभिन्न धर्मावलम्बियों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार समुद्देश, श्रमणों के उद्देश्य से निष्पन्न आहार आदेश और जैन साधुओं के उद्देश्य से निष्पन्न आहार समादेश कहलाता है।

उद्दिष्ट, कृत और कर्म को उपर्युक्त चार भेदों से गुणा करने पर विभाग औद्देशिक के 12 भेद हो जाते हैं। निर्युक्तिकार ने इन 12 भेदों के अवान्तर भेद भी किए हैं। उद्दिष्ट औद्देशिक आदि प्रत्येक छिन्न और अच्छिन्न भेद से दो प्रकार के होते हैं। छिन्न का अर्थ है नियमित और अच्छिन्न का अर्थ है अनियमित। इनके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार भेद होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक के आठ भेद हो जाते हैं। 12 भेदों को 8 से गुणा करने पर औद्देशिक दोष के 96 भेद होते हैं।[38]

परिणाम – दशवैकालिक सूत्र के अनुसार औद्देशिक आहार करने वाला मुनि षट्कायिक जीवों की हिंसा का भागी बनता है क्योंकि भोजन पकाने में पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवों का भी वध होता है। इससे संयम विराधना और आत्म विराधना दोनों होती है।[39]

3. पूतिकर्म दोष

पूति का अर्थ है– दुर्गन्ध युक्त या अपवित्र। पूतिकर्म दोष दो प्रकार का कहा गया है– द्रव्यपूति और भावपूति। सुगंधित या शुद्ध पदार्थ का अशुचि पदार्थ से युक्त होना द्रव्यपूति है[40] तथा शुद्ध आहार में आधाकर्म आदि उद्गम दोष के विभागों के अवयव मात्र का मिश्रण भी भावपूति है।[41]

जिस प्रकार अशुचि पदार्थ का एक कण भी पवित्र भोजन को अपवित्र एवं अग्राह्य बना देता है उसी प्रकार दोष युक्त आहार का लेश मात्र भी निर्दोष आहार

को अपवित्र एवं अग्राह्य बना देता है। जिनशासन में आधाकर्मी को भी अग्राह्य होने से पूति कहा गया है और आधाकर्म से संसृष्ट आहार को भी पूति कहा गया है। आधाकर्मादि दोषों से दूषित आहार के अवयवों से संयुक्त थाली, कटोरी, चम्मच आदि से आहार लेना भी पूतिकर्म दोष वाला कहलाता है।

मूलाचार में पूति दोष के पाँच भेद निर्दिष्ट हैं– 1. चुल्ली 2. उक्खा (ऊखल) 3. दर्वी 4. भाजन और 5. गंध। अनगार धर्मामृत में पूतिदोष के दो भेदों का उल्लेख है– अप्रासुक मिश्र और कल्पित। अप्रासुक द्रव्य से युक्त प्रासुक द्रव्य अप्रासुक मिश्र पूतिकर्म कहलाता है तथा जब तक यह भोजन साधु को न दिया जाए, तब तक इसका कोई उपयोग न करे, यह कल्पित नाम का दूसरा पूति दोष है।[42] भावपूति दोष दो प्रकार का कहा गया है– बादर और सूक्ष्म।

(i) सूक्ष्मपूति– आधाकर्मी आहार पकाते समय ईंधन द्वारा उठने वाले धुएँ से जो वस्तु स्पृष्ट होती है, वह सूक्ष्म पूति है। उस वस्तु को ग्रहण करने पर सूक्ष्म पूति दोष लगता है। इसी प्रकार आधाकर्मी आहार आदि के गंध पुद्गलों अथवा अन्य सूक्ष्म अवयवों से स्पृष्ट वस्तु भी पूति दोष युक्त कहलाती है।

(ii) बादरपूति – निशीथभाष्य में इसके तीन प्रकार वर्णित हैं– आहार, उपधि और वसति।[43]

1. आहार पूतिकर्म – यह दोष दो प्रकार से होता है–

उपकरण पूति– वस्तु को पकाने आदि में चूल्हा तथा परोसने में चम्मच आदि उपकारी होने से उपकरण कहे जाते हैं। आधाकर्मिक से मिश्रित चूल्हा तथा आधाकर्म आहार से स्पृष्ट थाली और चम्मच उपकरण पूति है। ऐसे साधनों से निर्मित आहार ग्रहण करना उपकरण पूतिकर्म दोष है।[44]

आहार पूति– जिस पात्र में आधाकर्मी आहार पकाया गया हो उसी पात्र में गृहस्थ ने स्वयं के लिए निर्मित आहार डालकर मुनि को दिया हो तो वह आहार पूतिदोष युक्त कहलाता है। इसी प्रकार यदि चम्मच आधाकर्मी नहीं है, किन्तु उससे आधाकर्म आहार को हिलाकर फिर शुद्ध आहार दिया जाए तो वह शुद्ध आहार भी आहार पूति कहलाता है।[45]

यहाँ विमर्शनीय यह है कि केवल आधाकर्म से मिश्रित शुद्ध आहार ही पूति दोष से युक्त नहीं होता, अपितु पूतिदोष युक्त आहार से संस्पर्शित शुद्ध आहार भी पूतिदोष से युक्त बन जाता है।

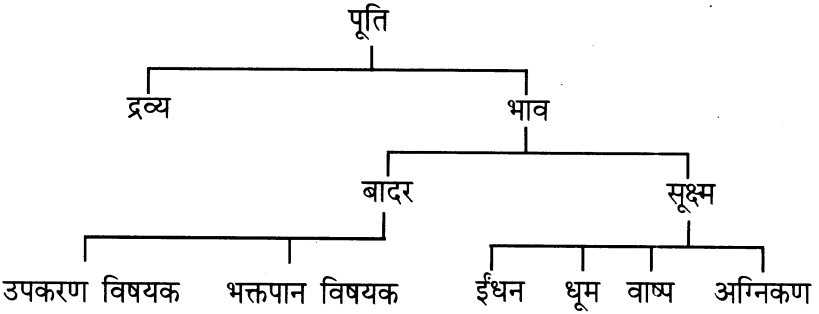
2. उपधि पूतिकर्म– आधाकर्मिक धागे से शुद्ध वस्त्र और पात्र की सिलाई करना, उपधि पूतिकर्म दोष है।

3. वसति पूतिकर्म– शुद्ध वसति में मूलगुण- उत्तरगुण सम्बन्धी आधाकर्मिक बांस, काष्ठ आदि का उपयोग करना, शय्या पूतिकर्म दोष है।

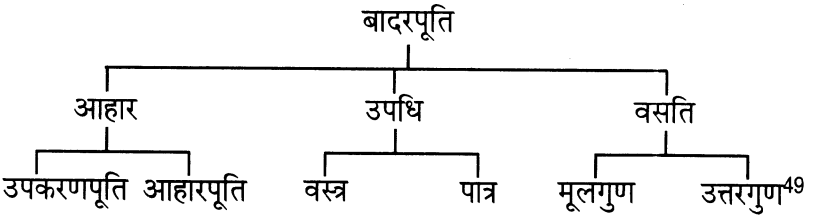
पिण्डनिर्युक्ति में बादर पूतिकर्म के उपकरण और भक्तपान ऐसे दो भेद किये गये हैं। उपकरण विषयक बादरपूति का स्वरूप पूर्ववत जानना चाहिए। भक्तपान बादर पूतिकर्म का अर्थ है शुद्ध छाछ आदि में आधाकर्मिक, लवण, हींग, राई, जीरा आदि का मिश्रण करना अथवा बघार देना।[46]

स्पष्ट है कि श्रमण के उद्देश्य से निर्मित किया गया आहार आधाकर्मी कहलाता है तथा आधाकर्म से सम्मिश्रित आहार पूतिकर्म दोष युक्त कहलाता है। पिण्डनिर्युक्ति में यह भी उल्लेख है कि जिस घर में आधाकर्मी आहार बना हो वह घर उस दिन से तीन दिन तक पूति दोष युक्त रहता है। अत: मुनि को तीन दिन वहाँ भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए।[47]

पूति दोष के भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट से भलीभाँति समझा जा सकता है।



निशीथ भाष्य के अनुसार बादरपूति के भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं–[48]



परिणाम – पूतिकर्म सम्बन्धी आहार की हानियों का चित्रण करते हुए सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि पूतिकर्म आहार को यदि मुनि हजार घरों के अंतरित हो जाने पर भी लेता है तो वह दीक्षित होकर भी गृहस्थ जैसा आचरण करता है। जिस प्रकार समुद्र के ज्वार के साथ किनारे पर आने वाले मत्स्य यदि बालू में फंस जाते हैं तो मांसार्थी ढंक और कंक आदि पक्षियों द्वारा उनका मांस नोचे जाने पर वे अत्यन्त दु:ख का अनुभव करते हैं उसी प्रकार वर्तमान सुख की एषणा में निमग्न एवं पूतिकर्म युक्त आहार लेने वाले साधु उन मत्स्यों की भाँति अनंत दु:खों को प्राप्त करते हैं।[50]

निशीथ चूर्णिकार के अनुसार यदि साधु पूतिदोष युक्त आहार, उपधि या वसति ग्रहण करता है तो संयम विराधना होती है। अशुद्ध पदार्थों के ग्रहण से देवता प्रमत्त साधु को छल सकते हैं तथा आत्म विराधना के रूप में अजीर्ण या किसी अन्य प्रकार का रोग भी उत्पन्न कर सकते हैं।[51]

4. मिश्रजात दोष

जो आहार गृहस्थ के साथ पाखंडी, अन्य दर्शनी भिक्षाचर एवं साधु के निमित्त से पकाया गया हो वह मिश्रजात दोष युक्त होता है।[52] यह दोष तीन प्रकार का कहा गया है–

(i) यावदर्थिक मिश्र – जो आहार गृहस्थ एवं सभी भिक्षाचरों के निमित्त एक साथ बनाया जाता है, वह यावदर्थिक मिश्र कहलाता है।[53]

(ii) पाखंडी मिश्र– जो आहार गृहस्थ के साथ अन्यदर्शनी साधु के निमित्त पकाया जाता है, वह पाखंडी मिश्र कहलाता है।[54]

(iii) साधु मिश्र – जो भोजन अपने परिवार एवं साधुओं के लिए एक साथ पकाया जाता है, वह साधुमिश्र कहलाता है।[55]

मिश्रजात सम्बन्धी तीनों प्रकार के आहार जैन श्रमण के लिए वर्जित हैं।

परिणाम– पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार मिश्रजात आहार हजार व्यक्तियों से अंतरित होने पर भी ग्राह्य नहीं है। कदाच विस्मृति वश मिश्रजात आहार का ग्रहण कर लिया जाए तो उसे विसर्जित कर पात्र को तीन बार प्रक्षालित कर लेना चाहिए तभी पात्र की शुद्धि होती है। तीन बार पात्र धोने का रहस्य यह है कि जैसे एक व्यक्ति वेधक विष खाकर मरता है तो उस मृत व्यक्ति के मांस को खाने वाला दूसरा व्यक्ति भी मर जाता है। दूसरे मृत व्यक्ति के मांस को खाने वाला

तीसरा व्यक्ति भी मर जाता है। यह क्रम हजार व्यक्तियों तक चलता रहता है। जैसे वेधक विष का प्रभाव हजारवें व्यक्ति को भी मार देता है वैसे ही मिश्रजात आहार सहस्र पुरुषान्तर होने पर भी शुद्ध नहीं होता और उसका सेवन करने वाला मुनि चारित्र का हनन कर देता है। इसलिए मिश्रजात दोष युक्त आहार किसी भी स्थिति में ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि प्रमाद वश पात्र में आ जाये तो कम से कम तीन बार पात्र को धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए, अन्यथा विष की भाँति चारित्र का हनन होता है।[56]

5. स्थापना दोष

साधु को देने की भावना से कुछ आहार अलग निकाल कर रख देना, स्थापना दोष है।[57] आवश्यक टीका के अनुसार भिक्षाचरों के लिए रखी गई भिक्षा लेना स्थापना दोष है।[58] प्रवचनसारोद्धार की टीकानुसार साधु के निमित्त अलग से रखा गया आहार स्थापना दोष वाला कहलाता है।[59] मूलाचार के अनुसार जिस पात्र में भोजन पकाया गया है उससे अन्य बर्तन में निकालकर अपने घर में या दूसरे घर में रखना स्थापना दोष है।[60] इन परिभाषाओं का मूलार्थ यही है कि साधु के उद्देश्य से पृथक रखी गई भिक्षा स्थापना दोष से युक्त होती है।

यह स्थापना दोष दो प्रकार से होता है– 1. स्वस्थान स्थापना और 2. परस्थान स्थापना। आहार संबंधी वस्तुओं को भोजन बनाने के स्थान पर रखना स्वस्थान स्थापना दोष है तथा छींके, टोकरी आदि पर रखना परस्थान स्थापना दोष है। इन दोनों के दो-दो भेद होते हैं–

- स्वस्थान अनंतर स्थापना तथा स्वस्थान परम्पर स्थापना।
- परस्थान अनंतर स्थापना तथा परस्थान परम्पर स्थापना।

अनंतर और परम्पर स्थापना भी इत्वरिक और चिरकालिक दो प्रकार की होती है। इस तरह स्थापना दोष छह प्रकार का होता है।

घी तथा गुड़ आदि पदार्थ जिनमें कोई विकार संभव नहीं है उन द्रव्यों को अलग से रखना अनंतर स्थापना है। दूध, इक्षुरस आदि पदार्थ जिनका दही, मक्खन, घी तथा गुड़ आदि से विकार संभव है उन्हें पृथक रखना परम्पर स्थापना है।[61]

पिण्डनिर्युक्ति में स्थापना दोष को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि किसी साधु ने एक गृहिणी से दूध की याचना की। उस समय उसने कहा–

'मैं कुछ समय बाद भिक्षा दूंगी।' साधु को किसी दूसरे स्थान से दूध मिल गया। उधर गृहिणी ने जब साधु से दूध लेने का आग्रह किया तो मुनि बोला–'मुझे अभी दूध प्राप्त हो गया फिर कभी प्रयोजन होने पर लूंगा।' साधु के ऋण से भयभीत उस महिला ने दूध का उपयोग नहीं किया। उसने सोचा कल इसी दूध को मैं दही जमाकर दूंगी। यह सोचकर उसने दूध को मुनि के लिए स्थापित कर दिया। दूसरे दिन भी मुनि ने दही नहीं लिया। महिला ने उस दही से मक्खन और मक्खन को घी रूप में परिवर्तित कर दिया। यदि गृहिणी उस घी को कुटुम्ब के लिए उपयोग में नहीं लेती है तो वह रखा गया घी देशोनपूर्वकोटि[62] तक स्थापना दोष से युक्त रह सकता है।[63] जीतकल्प भाष्य में इसे चिरस्थापित दोष माना गया है।[64]

स्थापना दोष को प्रकारान्तर से व्याख्यायित करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि पंक्तिबद्ध तीन घरों से कोई भी साधु को भिक्षा देने के लिए आए उस समय एक साधु भिक्षा को सम्यक उपयोग पूर्वक ग्रहण करता है तथा दूसरा साधु दो घरों के बीच में खड़े होकर भिक्षा की अनेषणीयता आदि का उपयोग रखता है। इस प्रकार तीन घर के पश्चात वह आहार स्थापना दोष युक्त होता है।[65] जीतकल्प भाष्य में इसे इत्वरिक स्थापना दोष के अन्तर्गत रखा गया है।[66] पिण्डविशुद्धि प्रकरण में इसको अभ्याहृत दोष के अन्तर्गत व्याख्यायित किया है।[67]

6. प्राभृतिका दोष

अपने इष्ट अथवा पूज्य को बहुमान पूर्वक उपहार स्वरूप अभीष्ट वस्तु देना प्राभृत कहलाता है। साधु को ऐसे आहार का दान देना प्राभृतिका दोष है। साधु को कुछ भेंट स्वरूप देने के भाव से स्वादिष्ट आहार तैयार कर प्रदान करना प्राभृतिका दोष है।[68]

यह दोष दो प्रकार का कहा गया है– 1. सूक्ष्म प्राभृतिका और 2. बादर प्राभृतिका।

(i) बादर प्राभृतिका– अधिक आरम्भ युक्त इच्छित वस्तु बहराना, बादर प्राभृतिका दोष है।

(ii) सूक्ष्म प्राभृतिका– सूक्ष्म आरम्भ युक्त स्वादिष्ट वस्तु प्रदान करना अथवा भेंट रूप में कुछ देना, सूक्ष्म प्रभृतिका दोष है।[69]

इन दोनों के भी दो-दो अवान्तर भेद हैं- अवष्वष्कण (अवसर्पण) तथा उत्ष्वष्कण (उत्सर्पण)। निर्धारित समय के बाद आरंभ-समारंभ द्वारा बनाया गया भोजन मुनि को प्रदान करना उत्ष्वष्कण प्राभृतिका दोष है। निर्धारित समय से पूर्व आरम्भा-समारंभ द्वारा बनाया गया भोजन देना अवष्वष्कण प्राभृतिका दोष है।[70]

इनके भी बादर और सूक्ष्म दो-दो भेद इस प्रकार हैं–

बादर अवष्वष्कण प्राभृतिका– साधु के आने की जानकारी होने पर निर्धारित समय से पूर्व विवाह करना, जिससे साधु को भिक्षा दी जा सके, यह बादर अवष्वष्कण या बादर अवसर्पण प्राभृतिका दोष है।[71]

सूक्ष्म अवष्वष्कण प्राभृतिका- माँ ने बालक को कहा कि अभी मैं रुई आदि कातने में व्यस्त हूँ अत: बाद में भोजन दूंगी। इसी बीच किसी साधु का आगमन होने से उनके साथ बालक को भी पहले भोजन दे देना, सूक्ष्म अवष्वष्कण या सूक्ष्म अवसर्पण प्राभृतिका है।[72]

बादर उत्ष्वष्कण प्राभृतिका – साधुओं को आहार देने से सुपात्र दान का लाभ मिलेगा, इस अपेक्षा से पुत्र आदि के विवाह की तिथि निर्धारित समय से कुछ बाद में करना, बादर उत्ष्वष्कण प्राभृतिका दोष है।[73]

सूक्ष्म उत्ष्वष्कण प्राभृतिका – यदि सूत कात रही स्त्री से उसका बालक खाने की वस्तु मांग रहा हो, उस समय वह मुनि को आहारार्थ आए हुए देख लें और बालक को यह कहें कि मुनि भगवन्त पधार रहे हैं, तब उठने पर दूंगी। इस तरह मुनि को आहार देने के निमित्त बालक को कुछ विलम्ब से खाद्यान्न देना, सूक्ष्म उत्ष्वष्कण प्राभृतिका है।[74]

आचार्य वट्टकेर ने काल की वृद्धि-हानि के अनुसार दिवस, पक्ष, महीना, वर्ष आदि का परावर्तन करके आहार देना बादर प्राभृतिका तथा पूर्वाह्न, अपराह्न या मध्याह्न में दिए जाने वाले आहार को सूक्ष्म प्राभृतिका दोष माना है।[75]

परिणाम– पिण्ड निर्युक्तिकार के अनुसार जो मुनि प्राभृतिका दोष युक्त आहार का सेवन करने के पश्चात उसका प्रतिक्रमण नहीं करता, वह मुण्ड मुनि विलुप्त पंख वाले कपोत की भाँति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[76] दिगम्बर आचार्य वसुनंदी के अनुसार इस दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने से क्लेश, बहुविघ्न तथा आरंभ-हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। प्राभृतिका आहार सेवी साधु आचार से शिथिल एवं संयम से दूषित भी होता है।[77]

पिण्डनिर्युक्ति में प्राभृतिका दोष आहार से सम्बन्धित है लेकिन बृहत्कल्पभाष्य में यह दोष वसति (स्थान) से सम्बन्धित भी कहा गया है।

7. प्रादुष्करण दोष

अंधकार युक्त स्थान को प्रकाशित करके अथवा अंधकार से प्रकाश में लाकर आहार देना अथवा देने योग्य वस्तु के लिए स्थान विशेष को प्रकाशित करना, प्रादुष्करण दोष है।[78] यह दोष दो प्रकार से संभव होता है– 1. प्रकटकरण और 2. प्रकाशकरण।

(i) प्रकटकरण– गृह द्वार नीचा हो अथवा गृहांगन में अंधेरा हो तो प्रकाश वाले स्थान में आहार आदि लाकर देना अथवा खिड़की आदि खोलकर प्रकाश युक्त स्थान में आहार देना प्रकटकरण दोष है।

(ii) प्रकाशकरण– गृहांगन मे अंधेरा हो तो दीवार में छिद्र कर अथवा मणि, दीपक या अग्नि द्वारा उस स्थान को प्रकाशित कर आहार आदि का दान करना प्रकाशकरण दोष है।[79]

यदि भिक्षा देने के उद्देश्य से मुनि के आने से पूर्व प्रकाश किया जाए तो दोष का भागी गृहस्थ होता है तथा साधु के आने के बाद प्रकाश किया जाए और उस स्थिति में मुनि आहार ग्रहण करते हैं तो गृहस्थ-साधु दोनों दोषी कहलाते हैं। यदि गृहस्थ बाहर प्रकाश में लाकर यह कहे कि घर के अंदर बहुत मक्खियाँ हैं और गर्मी भी अधिक है, बाहर प्रकाश भी है और मक्खियाँ भी नहीं हैं अत: हम अपने लिए भोजन बाहर लाए हैं अथवा बाहर पकाया है। इस प्रकार आत्मार्थीकृत कहने पर वह भोजन निर्दोष होने से साधु के लिए ग्राह्य है। ज्योति या दीपक का प्रकाश गृहस्थ ने अपने लिए किया हो तो भी वह आहार साधु के लिए कल्पनीय नहीं होता। यदि किसी कारण से प्रादुष्करण दोष युक्त आहार ग्रहण कर लिया जाए तो साधु पात्र को धोए बिना भी उसमें शुद्ध आहार ग्रहण कर सकता है। आचार्य वसुनंदी के अनुसार ईर्यापथ की शुद्धि न होने के कारण प्रादुष्करण दोष युक्त आहार वर्जित है।[80]

परिणाम– प्रादुष्करण सम्बन्धी आहार लेने पर खिड़की आदि अयतना पूर्वक खोली जाये, दीपक आदि द्वारा प्रकाश किया जाये तो षट्कायिक जीवों की विराधना होती है, सूक्ष्म त्रस जीवों को पीड़ा पहुँचती है इससे अहिंसा महाव्रत दूषित होता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जिस स्थान को चक्षु

से न देखा जा सके वैसे नीचे द्वार वाले या अंधकार युक्त स्थान से मुनि भिक्षा ग्रहण न करें।[81]

8. क्रीतकृत दोष

साधु के लिए खरीदकर भिक्षा देना क्रीत दोष है।[82] आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो साधु के लिए खरीदा जाए, वह क्रीत है तथा खरीदी हुई वस्तु से बना हुआ क्रीतकृत कहलाता है।[83] आचारचूला, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, दशवैकालिक आदि आगमों में जहाँ भी औद्देशिक का वर्णन किया गया है, वहाँ क्रीतकृत और अभिहृत आदि दोषों का भी उल्लेख मिलता है।[84]

बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार क्रीतकृत दोष दो प्रकार का होता है- निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट। जहाँ गृहस्थ इस भाव पूर्वक खरीदता है कि अमुक वस्त्र, पात्र आदि मेरे लिए होंगे तथा अमुक साधु के लिए, वहाँ निर्दिष्ट क्रीत होता है। इसके विपरीत सहज रूप से खरीदा हुआ अनिर्दिष्ट क्रीत कहलाता है। अनिर्दिष्ट क्रीत में गृहस्थ के द्वारा उपयोग कर लेने के बाद शेष वस्त्र आदि साधु के लिए कल्प्य होते हैं लेकिन निर्दिष्ट क्रीत साधु के लिए अग्राह्य होता है। निर्दिष्ट क्रीत में गृहस्थ यदि साधु को यह कहे कि आप मेरे निमित्त खरीदे गए वस्त्रों का ग्रहण करें, मैं आपके निमित्त खरीदे गए वस्त्रों का उपयोग करूंगा, ऐसा कहने पर साधु उस गृहस्थ के लिए खरीदे गए वस्त्रों को ले सकता है।[85] पिण्डनिर्युक्ति में क्रीतकृत दोष चार प्रकार का बतलाया गया है-

1. आत्मद्रव्य क्रीत 2. आत्मभाव क्रीत 3. परद्रव्य क्रीत 4. परभाव क्रीत।

(i) आत्मद्रव्य क्रीत – सौभाग्य के लिए तीर्थों का प्रसाद, गंध द्रव्य, रूपपरावर्तिनी गुटिका, चंदन अथवा वस्त्र खंड आदि देकर आहार प्राप्त करना, आत्मद्रव्य क्रीत दोष है। यहाँ कार्य में कारण का उपचार करके आत्मद्रव्य क्रीत को ग्रहण किया गया है।

दोष– आत्मद्रव्य क्रीत सम्बन्धी आहार लेने से निम्न दोष संभव है- यदि निर्माल्य (देवद्रव्य) आदि देने पर संयोगवश कोई बीमार हो जाए तो वह व्यक्ति जिनवाणी अथवा साधु की निंदा कर सकता है कि इसके योग से मुझे रोग हुआ है। यदि निर्माल्य आदि से स्वस्थ हो जाए तो वह सबके समक्ष साधु की चाटुकारिता कर सकता है कि इनके योग से मैं स्वस्थ हो गया। उसकी प्रशंसा

सुनकर अन्य व्यक्तियों द्वारा निर्माल्य गंध आदि की याचना करने पर यदि उन सभी को न दिया जाए तो कलह की संभावना रहती है।[86]

(ii) आत्मभाव क्रीत – धर्मकथा, तपस्या, वाद-विवाद, ज्योतिष विद्या, आतापना, जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्पादि के द्वारा आकर्षित कर भिक्षा प्राप्त करना, आत्मभाव क्रीत दोष है।[87]

दोष- आत्मभाव क्रीत सम्बन्धी आहार लेने पर कर्म निर्जरा में हेतुभूत चारित्रिक आराधना निष्फल हो जाती है।[88]

(iii) परद्रव्य क्रीत– गृहस्थ के द्वारा साधु के निमित्त खरीदा गया आहार आदि ग्रहण करना परद्रव्य क्रीत दोष है।

दोष– इस दोष सम्बन्धी वस्तु के ग्रहण करने पर छह काय जीवों की विराधना होती है।

(iv) परभाव क्रीत– मंखादि साधुओं की तरह पट आदि दिखाकर अथवा धर्मकथा आदि के द्वारा लोगों को प्रभावित कर आहार आदि प्राप्त करना, परभाव क्रीत दोष है।

दोष- परभाव क्रीत दोष युक्त वस्तु ग्रहण करने पर निम्न तीन दोष लगते हैं– क्रीत, अभिहृत और स्थापित। इससे जैन धर्म की निन्दा भी होती है।[89]

परिणाम – भगवतीसूत्र के अनुसार क्रीतकृत आहार को अनवद्य मानने वाला, अनवद्य मानकर उसका परिभोग करने वाला तथा उसे पर्षदा में अनवद्य प्ररूपित करने वाला मुनि यदि उसकी आलोचना नहीं करता है तो वह विराधक है।[90]

9. प्रामित्य दोष

उद्गम का नौवां दोष प्रामित्य है। प्रामित्य का अर्थ है– उधार लेना। किसी से उधार लेकर आहार आदि देना प्रामित्य दोष है। टीकाकार मलयगिरि ने 'पामिच्च' की संस्कृत छाया अपमित्य की है।[91] दिगम्बर साहित्य में प्रामित्य दोष के स्थान पर ऋण दोष का उल्लेख है।[92] यह दो प्रकार का होता है– वृद्धि सहित (ब्याज सहित) और वृद्धि रहित। इसका तात्पर्य यह है कि जब दाता यह कहकर ओदन आदि लाए कि पुनः इससे अधिक तुमको वापस दे दूंगा तो वह वृद्धि सहित दोष है तथा जब वह यह निश्चित कर लेता है कि इतना ही भोजन मैं तुमको बाद में दे दूंगा, तो यह वृद्धि रहित दोष कहलाता है।[93]

पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार प्रामित्य दोष दो प्रकार का होता है- लौकिक और लोकोत्तर।[94]

(i) **लौकिक प्रामित्य-** बहिन आदि पारिवारिक व्यक्तियों से साधु के लिए घी आदि लौकिक वस्तुएँ उधार लेकर देना, लौकिक प्रामित्य दोष है।

हानि- लौकिक प्रामित्य दोष का सेवन करने पर यदि उधार व्यक्ति का माल या पैसा समय पर न लौटा सकें तो कोई निष्ठुर व्यक्ति उधार लेने वाले को दण्ड आदि से परेशान कर सकता है, कैद करवा सकता है जिसके कारण वह आहार दाता भी धर्म विहीन हो सकता है।

(ii) **लोकोत्तर प्रामित्य-** परस्पर साधुओं में एक-दूसरे को उधार देना लोकोत्तर प्रामित्य दोष है। यह दोष भी दो प्रकार से होता है।

- किसी मुनि के द्वारा अन्य मुनि से यह कहकर वस्त्र आदि ग्रहण करना कि कुछ दिन उपयोग करके तुम्हारा वस्त्र वापस लौटा दूंगा।
- किसी मुनि से यह कहकर वस्त्रादि ग्रहण करना कि इतने दिनों के बाद इसके जैसा ही दूसरा वस्त्र आपको दे दूंगा, यह लोकोत्तर प्रामित्य है। मूलत: इस प्रकार से वस्त्रादि का लेन-देन करना साधु के लिए अनाचरणीय है।

परिणाम- प्रथम भेद में यदि वस्त्र मैला हो जाए, खो जाए, चुरा लिया जाए अथवा वस्त्र लौटा न पाये तो कलह की संभावना रहती है।

दूसरी प्रकार से उधार लेने पर उससे अच्छा या विशिष्ट वस्त्र देने पर भी कोई दीर्घाकांक्षी मुनि कलह कर सकता है।

10. परिवर्तित दोष

साधु को देने के निमित्त पड़ोसी या किसी अन्य से वस्तु का विनिमय (अदला-बदली) कर भिक्षा आदि देना, परिवर्तित दोष है।[95] यह दोष भी दो प्रकार का कहा गया है- लौकिक और लोकोत्तर। दोनों के दो-दो भेद होते हैं- 1. तद्द्रव्य विषयक और 2. अन्यद्रव्य विषयक।[96]

(i) **लौकिक तद्द्रव्य अन्यद्रव्य विषयक-** कुछ दिन पूर्व तपाये हुए घी के बदले सुगन्ध युक्त घी लेकर साधु को देना तद्द्रव्यविषयक लौकिक परावर्त है तथा कोद्रव धान्य देकर शाली युक्त चावल आदि लेना लौकिक अन्यद्रव्य परावर्त दोष है।[97]

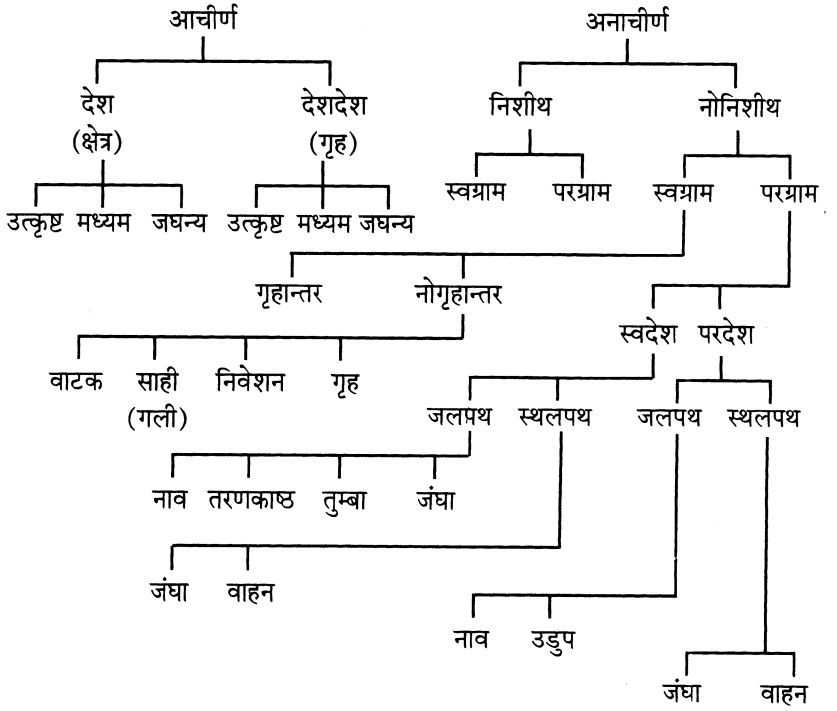
(ii) लोकोत्तर तद्द्रव्य अन्यद्रव्य विषयक– एक साधु दूसरे साधु के साथ वस्त्र आदि का परिवर्तन करता है, वह लोकोत्तर परावर्त है। साधु के द्वारा एक वस्त्र देकर दूसरा वस्त्र लेना तद्द्रव्यविषयक लोकोत्तर परिवर्तित दोष है तथा वस्त्र देकर पुस्तक लेना अन्यद्रव्यविषयक लोकोत्तर परावर्त है।

परिणाम– लोकोत्तर परावर्त दोष का सेवन करने पर वस्त्र आदि का परिवर्तन करते समय ग्रहणकर्ता साधु कह सकता है कि यह न्यून वस्त्र है, मेरा वस्त्र बड़ा था, यह वस्त्र जीर्ण प्रायः है, कर्कश स्पर्श वाला, मोटे धागे से निष्पन्न, छिन्न, मलिन शीत से रक्षा करने में असमर्थ और बदरंग है, मेरा वस्त्र ऐसा नहीं था। इसी प्रकार किसी कुटिल साधु के द्वारा गलत सिखाने पर भी वह विपरीत बुद्धि वाला हो सकता है अतः यदि किसी साधु के पास प्रमाणोपेत वस्त्र है और दूसरे के पास नहीं है तो गुरु के सामने परिवर्तन किया जाए, जिससे बाद में कलह की संभावना न रहे।[98]

11. अभ्याहृत दोष

साधु के लिए अपने या अन्य गाँव से आहार आदि लाकर देना, अभ्याहृत दोष है।[99] इसे आहृत[100] और अभिहृत दोष भी कहा जाता है। अभिहृत दोष दो प्रकार का होता है– आचीर्ण और अनाचीर्ण। इन दोनों के दो-दो भेद हैं **(i) आचीर्ण–** यह दोष गृह सम्बन्धी और क्षेत्र सम्बन्धी ऐसे दो प्रकार का होता है। **(ii) अनाचीर्ण–** यह दोष प्रच्छन्न और प्रकट के भेद से दो प्रकार का है। इसमें प्रच्छन्न और प्रकट के भी दो-दो भेद हैं– 1. स्वग्राम विषयक और 2. परग्राम विषयक।[101]

अनाचीर्ण अभ्याहृत दोष के निम्न दो भेद भी हैं– निशीथ अनाचीर्ण अभ्याहृत और नो निशीथ अनाचीर्ण अभ्याहृत। निशीथ का अर्थ है– जहाँ दायक अपने आशय को प्रकट न करे तथा नो निशीथ का तात्पर्य है– जहाँ दाता अपने आने का प्रयोजन स्पष्ट कर दे।[102] प्रवचनसारोद्धार की टीका में अभ्याहृत के भेद-प्रभेद इस प्रकार वर्णित हैं–[103]



1. स्वग्राम विषयक – जिस गाँव में साधु निवास करते हों उस गाँव से ही आहार लाकर देना, स्वग्राम विषयक अभ्याहृत दोष है।

2. परग्राम विषयक – अन्य गाँव से आहार आदि लाकर देना, परग्राम विषयक दोष है।

(i) निशीथ स्वग्राम अभ्याहृत– कोई श्राविका साधु से प्रतिलाभित होने के लिए उपाश्रय में लड्डू आदि लेकर आये, किन्तु मुनि को आशंका न हो इसलिए यह कहे कि भगवन् ! मैं अमुक स्वजन को उपहार देने गई थी, उन्होंने रोष वश उसे स्वीकार नहीं किया। मैं वापस घर ले जा रही हूँ और आपको सहज वंदन करने आई हूँ, यदि खपत हो तो लाभ दीजिए, ऐसा कहकर आहार देना, निशीथ स्वग्राम विषयक अभ्याहृत दोष है।[104]

(ii) निशीथ परग्राम अभ्याहृत – निशीथ परग्राम अभ्याहृत दोष को निर्युक्तिकार ने एक कथा के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट किया है। सेठ धनावाह के यहाँ विवाह आदि के अवसर पर अधिक मोदक बच गए तो उसने सोचा कि

यदि मुनियों को भी भिक्षा दी जाए तो लाभ होगा। अभी बहुत से साधु समीपवर्ती गाँव में हैं, बीच में नदी पड़ने से इधर आ नहीं सकते। अत: मैं ही साधुओं को देने के लिए पास के गाँव में चला जाऊं। वहाँ भी मुनियों को आधाकर्म की आशंका न हो, इसलिए दूसरे गाँव में भी मुनियों के स्थंडिल के लिए आने-जाने वाले मार्ग पर ब्राह्मण आदि को दान देना प्रारंभ करें। उस समय बड़ी नीति के लिए निकले हुए मुनियों को देखकर कहे कि हे मुनि प्रवरों! हमारे पास बहुत सारे मोदक हैं, आप कृपा कर लाभ दें। यदि मुनिजन उन्हें शुद्ध समझकर ग्रहण कर लें तो निशीथ परग्राम विषयक अभ्याहृत दोष लगता है।[105]

(iii) नोनिशीथ स्वग्राम अभ्याहृत– कोई मुनि भिक्षार्थ परिभ्रमण करते हुए किसी घर में पहुँचे, वहाँ भोज आदि का प्रसंग होने से गृह मालिक साधु को भिक्षा नहीं दे सका, परन्तु भोजन आदि से निवृत होने के पश्चात उपाश्रय में ले जाकर देना, नो निशीथ स्वग्राम विषयक अभ्याहृत दोष है। इस दोष में मुनि को आहारादि की पूर्ण जानकारी रहती है।

(iv) नोनिशीथ परग्राम अभ्याहृत– उपर्युक्त स्थिति में दूसरे गाँव जाकर आहार आदि देना, नो निशीथ परग्राम विषयक अभ्याहृत दोष है।

दोष– इसमें गमनागमन की प्रवृत्ति होने से षट्काय जीव की विराधना होती है और गृहस्थ को असत्य भाषण का दोष लगता है।

आचीर्ण क्षेत्र विषयक अभ्याहृत– जिस भोज में खाने वालों की पंक्ति इतनी लम्बी हो कि साधु भोजन सामग्री तक पहुँच न सकें, उस स्थिति में जहाँ साधु खड़े हों वहाँ लाकर आहारादि देना, आचीर्ण क्षेत्र अभ्याहृत दोष है। एक हाथ से दूसरे हाथ में सौंपते हुए आहार आदि देना जघन्य आचीर्ण है, सौ हाथ परिमित क्षेत्र से लाया हुआ आहारादि देना उत्कृष्ट आचीर्ण है तथा इसके मध्यवर्ती क्षेत्र से लाया गया आहार देना मध्यम आचीर्ण क्षेत्राभिहृत दोष है।

आचीर्ण गृह विषयक अभ्याहृत– तीन घरों के अन्तराल से उपयोग पूर्वक लाया हुआ आहार स्वग्राम गृहान्तर अभ्याहृत दोष युक्त कहलाता है। नो गृहान्तर दोष वाटक, गली आदि अनेक प्रकार का होता है। इसमें लाने वाले का उपयोग संभव नहीं होता इसलिए यह अनाचीर्ण है।

मूलाचार की टीका में 'अभिहड' की संस्कृत छाया अभिघट की है तथा इसको देश अभिघट और सर्व अभिघट – इन दो भागों में विभक्त किया है। देश

अभिघट आचीर्ण और अनाचीर्ण दो प्रकार का होता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तीन या सात घरों से लाई हुई भिक्षा आचीर्ण है तथा इससे अधिक दूरी से लाई गई भिक्षा अनाचीर्ण है। सर्व अभिघट के चार भेद हैं- 1. स्वग्राम 2. परग्राम 3. स्वदेश 4. परदेश। पूर्व दिशा के मुहल्ले से पश्चिम दिशा के मुहल्ले में ले जाना स्वग्राम अभिघट दोष है। दूसरे गाँव से लाना परग्राम अभिघट दोष है। इसी प्रकार स्वदेश और परदेश समझना चाहिए। सर्वाभिघट के सभी भेद अनाचीर्ण हैं।[106]

12. उद्भिन्न दोष

गोबर आदि से लीपकर बन्द किए हुए या लाख आदि से मुद्रित डिब्बे आदि को खोलकर अथवा कपाट आदि खोलकर घी, शक्कर आदि वस्तुएँ देना, उद्भिन्न दोष कहलाता है।[107]

उद्भिन्न दोष दो प्रकार का होता है- पिहितोद्भिन्न और कपाटोद्भिन्न।

(i) पिहितोद्भिन्न- साधु के निमित्त सील बंद डिब्बे, कोठी आदि का मुख खोलकर घी या तेल देना पिहितोद्भिन्न दोष है। यह सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है।

(ii) कपाटोद्भिन्न- साधु के निमित्त बंद कपाट को खोलकर भिक्षा देना, कपाटोद्भिन्न दोष है।

परिणाम- यदि साधु के निमित्त तेल का पात्र खोला गया है तो उसमें से पुत्र आदि को देने पर अथवा क्रय-विक्रय करने पर पापमय प्रवृत्ति होती है। यदि गृहस्थ पात्र को बंद करना भूल जाए तो उसमें चींटी, मूषक आदि जीव गिरने से उनकी हिंसा हो सकती है क्योंकि सील या लेप को खोलने और बंद करने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु काय आदि जीवों की हिंसा होती है।[108]

कपाटोद्भिन्न से निम्न दोष भी संभव है-

1. कपाट के पास मिट्टी, पानी और वनस्पति आदि रहने से उनकी विराधना हो सकती है।

2. यदि जल फैल जाता है तो उसके समीपवर्ती चूल्हे से अग्निकाय की विराधना संभव है। अग्नि के साथ वायुकाय के जीवों की विराधना भी जुड़ी हुई है।

3. कपाट की आवर्तन पीठिका ऊपर-नीचे होने से छिपकली, कुंथु, चींटी आदि त्रस जीवों की विराधना भी हो सकती है।

4. कपाट खोलने से उसके पीछे बालक बैठा हो तो उसको चोट लग सकती है।

कुंचिका रहित कपाट यदि प्रतिदिन खुलता है और दरवाजा धरती से नहीं घिसता है तो ऐसे दरवाजे खोलने पर साधु भिक्षा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मटका या पात्र का मुँह यदि प्रतिदिन खोला जाता हो अथवा उसका मुख कपड़े से बंद किया जाता हो और लाख आदि से मुद्रित नहीं किया जाता हो तो उसको खोलकर दी गई भिक्षा ग्राह्य है।[109]

13. मालापहृत दोष

यह उद्गम का तेरहवाँ दोष है। साधु के निमित्त छींके आदि से, ऊपरी मंजिल से अथवा भूमिगत कमरे से आहार लाकर देना, मालापहृत दोष है।[110] दिगम्बर साहित्य में मालापहृत के स्थान पर मालारोहण[111] तथा आरोह शब्द का प्रयोग हुआ है।[112]

मालापहृत दोष मुख्यत: दो प्रकार का होता है– जघन्य मालापहृत और उत्कृष्ट मालापहृत। पैर के अग्र भाग के बल पर खड़े होकर अथवा मंचक, आसंदी आदि के ऊपर खड़े होकर भिक्षा देना जघन्य मालापहृत दोष है। निसरणी आदि पर चढ़कर अथवा प्रासाद के ऊपरी हिस्से से उतारकर भिक्षा देना उत्कृष्ट मालापहृत दोष है।[113]

प्रकारान्तर से मालापहृत दोष के तीन भेद भी मिलते हैं– 1. ऊर्ध्व 2. अध: 3. तिर्यक। ऊपर छींके आदि से उतारकर वस्तु देना ऊर्ध्व मालापहृत है, नीचे भूमिगृह से लाकर देना अध: मालापहृत है तथा बहुत ऊँचे कुंभ आदि से अथवा गहरे गोखलों में से हाथ डालकर निकाली गई वस्तु देना तिर्यक मालापहृत दोष है।[114] भाष्यकार के अनुसार बीच की मंजिल में रखा हुआ आहार देना तिर्यक् मालापहृत है।[115]

पिण्डविशुद्धि प्रकरण में मालापहृत दोष के चार भेद किए गए हैं। उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त चौथा उभय मालापहृत का उल्लेख भी किया गया है। उभय मालापहृत दोष की व्याख्या करते हुए टीकाकार यशोदेवसूरि ने कहा है कि कुम्भी, उष्ट्रिका अथवा बड़े कोठे में से आहार देने के लिए एड़ी को ऊँचा करते हुए हाथों को नीचे की ओर फैलाना उभय मालापहृत दोष है। इसमें शरीर का व्यापार ऊपर और नीचे दोनों दिशाओं में हुआ है, अत: इसका नाम उभय मालापहृत है।[116]

यदि गृहस्वामी साधु के आगमन से पूर्व ही निसरणी आदि पर चढ़ा हुआ हो तो हाथ लम्बा करके सुपात्र दान दे सकता है क्योंकि यह अनुच्चोत्क्षिप्त है।[117]

पिण्डविशुद्धि प्रकरण में एक तर्क उपस्थित किया गया है कि ऊपर से उतारकर देना तो मालापहृत दोष है लेकिन नीचे भूमिगृह से लाकर देना मालापहृत कैसे हुआ? इसके उत्तर में बताया गया है कि प्रयत्नपूर्वक भूगृह से लाए हुए आहार को भी मालापहृत कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा आगम में रूढ़ हो गया है अत: नीचे से लायी गई वस्तु के लिए मालापहृत शब्द का प्रयोग गलत नहीं है।[118]

परिणाम– पिण्ड निर्युक्तिकार मालापहृत के दोष बताते हुए कहते हैं कि निसरणी, फलक आदि पर चढ़कर भोजन-पानी दिया जाए और दाता के पैर का संतुलन बिगड़ जाए तो वह नीचे गिर सकता है, जिससे उसके हाथ-पैर में चोट लग सकती है। यदि वहाँ ब्रीहिदलनक यंत्र आदि पड़े हों तो उसकी मृत्यु हो सकती है। यदि गर्भिणी स्त्री हो तो गर्भस्थ जीव हिंसा की संभावना भी रहती है तथा नीचे गिरने से उसके शरीर के नीचे आए पृथ्वीकाय आदि जीव तथा उसके आश्रित अन्य जीवों की हिंसा भी हो सकती है। मुनि के प्रति द्वेष भाव होने से द्रव्य प्राप्ति में व्यवधान हो सकता है। इसी के साथ जिन वाणी की अवहेलना तथा लोगों में यह भ्रांति फैलती है कि ये मुनि भविष्य में होने वाले अनर्थों को नहीं जानते।[119]

14. आच्छेद्य दोष

किसी बालक या भृत्यादि की वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना बलात छीनकर साधु को देना, आच्छेद्य दोष है।[120] मूलाचार के अनुसार मुनि के भिक्षा-श्रम को देखकर राजा और चोर आदि के भय से साधु को आहार देना आच्छेद्य दोष है।[121] आच्छेद्य दोष तीन प्रकार का होता है–

(i) प्रभु विषयक– गृहस्वामी अपने पुत्र, पुत्री, कर्मचारी आदि की वस्तु को बलात छीनकर साधु को देता है तो वह प्रभु विषयक आच्छेद्य दोष है।

(ii) स्वामी विषयक – ग्रामनायक के द्वारा अपने किसी कौटुम्बिक आदि की वस्तु को बलात छीनकर साधु को दी जाए तो वह स्वामी विषयक आच्छेद्य दोष है।[122]

(iii) स्तेन विषयक – साधुओं के प्रति श्रद्धा रखने वाले चोर के द्वारा किसी से छीनकर कोई वस्तु दी जाए तो वह स्तेन विषयक आच्छेद्य दोष है।[123] उक्त तीनों प्रकार का आच्छेद्य संबंधी आहार साधु के लिए वर्जित हैं।

परिणाम – आच्छेद्य आहार ग्रहण करने से अप्रीति और कलह की संभावना रहती है। जिससे छीनकर आहार आदि दिया जाता है, उसके अंतराय में भी मुनि निमित्तभूत बनते हैं तथा मुनि को अदत्तादान दोष भी लगता है। द्वेष के कारण एक या अनेक साधुओं के लिए भक्तपान का विच्छेद होता है। इसके अतिरिक्त उपाश्रय से निष्कासन तथा अन्य अनेक कष्ट भी प्राप्त हो सकते हैं।[124] अपवादत: यदि दरिद्र पुरुष या गृह मालिक के द्वारा भोजन पानी देने की अनुमति दे दी जाए तो मुनि आच्छेद्य आहार ले सकता है।[125]

स्तेन विषयक आच्छेद्य का प्रसंग प्राय: सार्थवाह के साथ जाने वाले मुनियों के समक्ष उपस्थित होता है। सामान्यतया साधु को स्तेनाच्छेद्य ग्रहण नहीं करना चाहिए।

15. अनिसृष्ट दोष

मालिक के द्वारा स्वेच्छा पूर्वक दिया गया दान निसृष्ट कहलाता है।[126] अनेक स्वामियों की अधिकृत वस्तु को उनकी अनुमति के बिना किसी एक से ग्रहण करना अनिसृष्ट दोष है।[127] अनिसृष्ट दोष दो तरह से लगता है– 1. साधारण अनिसृष्ट और 2. चोल्लक अनिसृष्ट (भोजन विषयक)। जीतकल्पभाष्य एवं पिण्डविशुद्धिप्रकरण में इसके तीन भेद किए गए हैं–1. साधारण अनिसृष्ट 2. चोल्लक अनिसृष्ट 3. जड्डु-हस्ती अनिसृष्ट।[128] पिण्डनिर्युक्ति में चोल्लक अनिसृष्ट के अन्तर्गत ही जड्डु-हस्ती अनिसृष्ट का समावेश कर दिया गया है।[129]

(i) साधारण अनिसृष्ट– साधारण अनिसृष्ट में अनेक स्वामी के आश्रित मोदक, क्षीर, कोल्हू, विवाह, दुकान तथा गृह आदि वस्तुओं का समावेश होता है अर्थात कोल्हू आदि स्थानों पर होने वाले पदार्थ के अनेक स्वामी हो सकते हैं। उन सभी स्वामियों की अनुमति के बिना किसी एक स्वामी के द्वारा दिया गया आहार आदि लेना, साधारण अनिसृष्ट दोष है।[130]

परिणाम– साधारण अनिसृष्ट सम्बन्धी आहार लेने पर गृहस्थ साधु को 'पच्छाकड'-पुन: गृहस्थ वेश पहनाकर देश से निष्कासित भी कर सकता है।[131]

(ii) चोल्लक अनिसृष्ट– खेत में काम करने वाले कर्मचारियों या सैनिकों

को दिया गया भोजन चोल्लक कहलाता है। भोजन से सम्बन्धित चोल्लक अनिसृष्ट दो प्रकार का है–1. स्वामी विषयक और 2. हस्ती विषयक।[132]

स्वामी विषयक– स्वामी विषयक चोल्लक दोष दो प्रकार का होता है– छिन्न और अछिन्न। कोई कौटुम्बिक अपने खेत में काम करने वाले प्रत्येक हालिकों के लिए अलग-अलग भोजन बनवाकर भेजें तो वह छिन्न कहलाता है।[133] सभी हालिकों के लिए एक साथ एक ही बर्तन में भोजन भेजा जाए तो वह अच्छिन्न कहलाता है।[134] यदि कौटुम्बिक हालिकों के लिए भेजे गए सामूहिक भोजन में साधु के लिए भी भेजा गया हो तो वह निसृष्ट (अनुज्ञात) कहलाता है किन्तु कौटुम्बिक की अनुमति के बिना यह अनिसृष्ट कहलाता है। छिन्न चुल्लक में मूल स्वामी की अनुज्ञा अपेक्षित नहीं है। प्रत्येक हालिक यदि अपना व्यक्तिगत आहार देना चाहे तो वह साधु के लिए कल्प्य है। अच्छिन्न में यदि सभी स्वामी की अनुज्ञा के बिना कुछ हालिकों के द्वारा आहार दिया जाए तो चोल्लक अनिसृष्ट दोष लगता है।

(iii) हस्ती-जड्ड अनिसृष्ट– हाथी के लिए निर्मित भोजन में से यदि महावत के द्वारा थोड़ा साधु को दे दिया जाये तो वह जड्ड अनिसृष्ट दोष है।

परिणाम– साधारण एवं चोल्लक अनिसृष्ट सम्बन्धी आहार लेने पर प्रद्वेष, अंतराय, पारस्परिक कलह आदि दोषों की संभावना रहती है। हस्ती विषयक आहार राजपिण्ड होने से राजा की आज्ञा आवश्यक है, अन्यथा राजा महावत आदि को नौकरी से मुक्त कर सकता है, उसकी आजीविका का विच्छेद हो जाए तो साधु को अंतराय का दोष लगता है। राजाज्ञा के बिना आहार लेने पर अदत्तादान महाव्रत भी खंडित होता है। हाथी के लिए बनाया भोजन न लेने का कारण यह है कि महावत को प्रतिदिन दान देते देखकर हाथी रुष्ट होकर यह सोच सकता है कि साधु प्रतिदिन मेरे आहार को ग्रहण करता है। वह उस साधु को उपाश्रय में देखकर उससे क्रुद्ध हो सकता है तथा रोष में आकर साधु का प्राण घात भी कर सकता है अत: हाथी के समक्ष महावत के द्वारा दिया जाने वाला आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।[135] यह खोज का विषय है कि तिर्यंच में गाय, भैंस, कुत्ता आदि का उल्लेख न करके केवल हाथी का ही निर्देश क्यों दिया गया? समणी कुसुमप्रज्ञा जी ने इससे संभावित निम्न कारण बतलाए हैं–

- हाथी को जो आहार दिया जाता है, उसमें मनुष्य द्वारा भोग्य पदार्थ अधिक दिए जाते होंगे।

• पिण्डनिर्युक्ति की रचना के आसपास कोई ऐसी घटना घट गई होगी, जब निरन्तर भिक्षा ग्रहण करने वाले किसी साधु को हाथी ने चोट पहुँचाई हो।

• अन्य प्राणियों की तुलना में हाथी की समझ अधिक परिपक्व होती है।

मूलाचार के टीकाकार ने 'अणिसट्ठ' की संस्कृत छाया अनीशार्थ की है। अनगारधर्मामृत में यह निषिद्ध दोष के नाम से उल्लेखित है।[136] चारित्रसार, मूलाचार आदि दिगम्बर ग्रंथों में इस दोष की व्याख्या कुछ अंतर के साथ मिलती है।

16. अध्यवपूरक दोष

स्वयं के लिए खाना आदि पकाने की शुरुआत कर दी जाए फिर ध्यान आने पर साधु के लिए अधिक सामग्री डालकर पकाना अध्यवपूरक दोष है। इसे अध्यवतर दोष भी कहा जाता है। दिगम्बर परम्परा में अध्यवपूरक के स्थान पर 'अध्यधि' नामक दोष मिलता है। इसका दूसरा नाम साधिक भी है।[137]

यह दोष तीन प्रकार का कहा गया है–

(i) स्वगृह-यावदर्थिक मिश्र– अपने लिए पक रहे भोजन में बहुत से भिखारियों का आगमन सुनकर उन्हें देने के निमित्त पीछे से अधिक डालकर पकाना, स्वगृह यावदर्थिक (भिखारी) मिश्र दोष है।

(ii) स्वगृह-पाखंडी मिश्र– अपने लिए बनाये जा रहे भोजन में पाखण्डियों का आगमन सुनकर पीछे से उनके लिए अधिक बनाना, स्वगृह पाखंडी मिश्र दोष है।

(iii) स्वगृह-साधु मिश्र– अपने लिए पक रहे भोजन में साधु के निमित्त अधिक डालकर पकाया गया आहार देना, स्वगृह साधु मिश्र दोष है।[138]

परिणाम– अध्यवपूरक सम्बन्धी आहार लेने पर छ:काय की विराधना होती है।

• अध्यवपूरक और मिश्रजात में मुख्य अन्तर यह है कि मिश्रजात में साधु के निमित्त चावल, फल, सब्जी आदि का परिमाण प्रारंभ में अधिक कर दिया जाता है जबकि अध्यवपूरक में इनका परिमाण मध्य में बढ़ाया जाता है।[139]

• यावदर्थिक मिश्र आहार में पीछे से जितना बढ़ाया हो, उतना भोजन अलग निकाल देने पर या भिक्षाचरों को बांट देने पर शेष भोजन साधुओं के लिए ग्राह्य हो सकता है।

मूलाचार की जिन गाथाओं में उद्गम के 16 दोषों का उल्लेख है, वहाँ सर्वप्रथम आधाकर्म का नाम है लेकिन आधाकर्म को जोड़ने से उद्गम के 17 दोष हो जाते हैं। अत: दिगम्बर परम्परा में आधाकर्म को 16 दोषों के साथ नहीं जोड़ा गया है। मूलाचार के टीकाकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि अध:कर्म (आधाकर्म) महादोष वाला है। अत: इसको अलग से रखा गया है।[140] अनगारधर्मामृत में भी आधाकृत को उद्गम दोषों के साथ नहीं जोड़ा गया है।[141]

उपर्युक्त सभी दोष गृहस्थ के अविवेक से लगते हैं किन्तु जैन मुनि को चाहिए कि वह आहार लेते समय विवेक पूर्वक प्रश्नादि पूछकर उद्गम दोषों से रहित शुद्ध आहार आदि ग्रहण करें।

इनमें से कुछ दोष भोजन बनाने से पूर्व, कुछ भोजन बनाते समय, कुछ भोजन बनाने के पश्चात और कुछ साधु-साध्वी को आहार देते समय लगते हैं।

उत्पादना के सोलह दोष

उत्पादना का सामान्य अर्थ है– उत्पन्न करना। उत् उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से णिजन्त में उत्पादन शब्द बना है उसका अर्थ होता है उत्पन्न करवाया जाना। दूसरे शब्दों में जिन दोषों से आहार उत्पाद्यते– उत्पन्न करवाया जाता है वे उत्पादन दोष कहलाते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने उत्पादन, संपादन और निर्वर्तन इन तीनों को एकार्थवाची माना है।[142] पिण्डनिर्युक्ति में नाम, स्थापना और द्रव्य के आधार पर उत्पादना शब्द की विस्तृत व्याख्या की गई है।[143] भाव उत्पादना के दो प्रकार बतलाए हैं–प्रशस्त और अप्रशस्त। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि की उत्पत्ति होना प्रशस्त भाव उत्पादना है[144] तथा क्रोध आदि से युक्त धात्री के द्वारा हिंसाजनित आहार उत्पन्न करवाना अप्रशस्त भाव उत्पादना है।[145]

उत्पादना के सोलह दोष साधु के द्वारा लगते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– 1. धात्री 2. दूती 3. निमित्त 4. आजीवक 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोध 8. मान 9. माया 10. लोभ 11. पूर्व-पश्चात्संस्तव 12. विद्या 13. मन्त्र 14. चूर्ण 15. योग और 16. मूलकर्म।[146]

1. धात्री दोष

पाँच प्रकार की धायमाता के समान बालक को खिलाकर आहार प्राप्त करना, धात्री दोष है।[147] शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जो बालक को धारण करती है, बालक का पोषण करती है वह धात्री कहलाती है।[148]

पूर्व काल में धाय पाँच प्रकार की होती थी और नाम के अनुरूप ही उनके कार्य होते थे। जैसे 1. क्षीर धात्री– स्तनपान कराने वाली 2. मज्जन धात्री- स्नान कराने वाली 3. मंडन धात्री– आभूषण पहनाने वाली 4. क्रीड़न धात्री–क्रीड़ा कराने वाली 5. अंक धात्री– बालक को गोद में रखने वाली।[149]

दिगम्बर के मूलाचार में मार्जन, मण्डन, क्रीडन, क्षीर और अम्ब तथा अनगार धर्मामृत में मार्जन, क्रीड़न, स्तन्यपान, स्वापन और मण्डन– इन पाँच नामों का उल्लेख है।[150]

उक्त पाँच में से किसी भी प्रकार के कार्य द्वारा गृहस्थ से आहार आदि की याचना करना अथवा किसी वस्तु की लालसा से बालक को प्रसन्न रखने का कार्य करना धात्री दोष है।

जैसे कि कोई गृहस्थ प्रभु दर्शन या पूजन के हेतु से आया हो और उनके साथ आया बच्चा रोने लगे तो उनसे यह कहना कि आप पूजा आदि धर्म क्रियाएँ अच्छे से कर लो, बच्चे को हम संभाल लेंगे। इस तरह माता-पिता को खुश करके भिक्षा लेना धात्री दोष है। आजकल कई साधु-साध्वी बच्चों को घंटो तक खिलाते हैं, पुचकारते हैं, गोद में बिठाते हैं। यदि इसके पीछे किसी वस्तु प्राप्ति की कामना हो तो धात्री दोष लगता है अन्यथा राग भाव की वृद्धि होती है।

परिणाम– बालक का ध्यान रखने पर उसके अभिभावक साधु के प्रति आकर्षित होकर आधाकर्मी आदि दूषित आहार दे सकते हैं।

- कुछ लोग गलत सोच सकते हैं कि इस साधु का स्त्री के साथ कुछ सम्बन्ध होना चाहिए।
- यदि माता धर्माभिमुखी नहीं हो तो उसके मन में द्वेष हो सकता है तथा विचार कर सकती है कि इन साधुओं को दूसरों की चिन्ता करने की कहाँ जरूरत है?
- किसी कारणवश बालक बीमार हो जाये तो साधु पर सन्देह हो सकता है कि मेरे बच्चे को रुग्ण कर दिया। इस स्थिति में गृह स्वामिनी साधु के साथ कलह कर सकती है जिससे धर्म की निन्दा होती है।

2. दूती दोष

दौत्य कर्म अर्थात संदेश वाहक की भाँति एक व्यक्ति के संदेश को दूसरे स्थान तक पहुँचाकर भिक्षा प्राप्त करना, दूती दोष है। यह दोष दो प्रकार से लगता है–

(i) स्वग्राम विषयक – जिस गाँव में साधु रहता है उसी गाँव में परस्पर एक दूसरे के संदेश पहुँचाना, स्वग्राम विषयक दूती दोष है।

(ii) परग्राम विषयक – समीपवर्ती दूसरे गाँव में जाकर संदेश पहुँचाना, परग्राम दूती दोष है।

इन दोनों के भी प्रकट और प्रच्छन्न (गुप्त) की अपेक्षा दो-दो भेद हैं। लोकोत्तर में प्रच्छन्न दूती दोष होता है। लौकिक में प्रकट और प्रच्छन्न द्विविध दौत्य कर्म होता है।[151]

परिणाम – इस नियम से सूचित होता है कि साधु को गृहस्थ सम्बन्धी किसी प्रकार के सामाचारों का आदान-प्रदान नहीं करना चाहिए। बिना किसी कामना के भी दूती का काम करना अकल्प्य है। इससे गृहस्थ परिचय, स्वाध्याय हानि होती ही है।

दौत्य कर्म द्वारा आहार आदि प्राप्त करने पर पाप की प्रेरणा अथवा निरर्थक बोलने से जीव विराधना, संयम हानि, वचन समिति का भंग आदि दोष भी लगते हैं।

3. निमित्त दोष

तीन काल विषयक षड्विध निमित्त लाभ-अलाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरण बताकर भिक्षा प्राप्त करना, निमित्त दोष है।[152] अनगारधर्मामृत के अनुसार अष्टांग निमित्त बताकर दाता को प्रसन्न करते हुए आहार ग्रहण करना निमित्त दोष है।[153] मनुस्मृति में भी निमित्त कथन के द्वारा भिक्षा लेने का निषेध है।[154]

परिणाम– निमित्त दोष से युक्त भिक्षा ग्रहण करने पर स्व-पर की हिंसा का भय रहता है।[155] निशीथभाष्य में निमित्त कथन से होने वाले दोषों की विस्तार से चर्चा की गई है।[156]

4. आजीविका दोष

अपनी जाति, कुल, गण आदि का परिचय देकर भिक्षा लेना, आजीविका दोष है। आजीविका दोष पाँच प्रकार का कहा गया है– जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प।[157] मूलाचार में जाति, कुल, शिल्प, तप और ऐश्वर्य– इन पाँच को आजीवक माना है।[158]

आजीविका के पाँचों दोष दो प्रकार से लगते हैं (i) सूचना-संकेत से और (ii) असूचना- स्पष्ट कहकर।

(i) सूचना– ब्राह्मण आदि जाति वाले घरों में जाकर अस्पष्ट रूप से स्वयं को उस जाति का बताकर आहार प्राप्त करना, सूचना आजीविका दोष है।

(ii) असूचना– किसी के द्वारा पूछे या नहीं पूछे जाने पर भी स्वयं को उस जाति का बताकर आहार लेना, असूचना आजीविका दोष है।

आजीविका के पाँचों भेंदों का सामान्य अर्थ इस प्रकार है– 1. जाति– मातृपक्ष का परिचय देकर आहार प्राप्त करना 2. कुल– अपना या दूसरों के पितृपक्ष का परिचय देकर भिक्षादि प्राप्त करना। 3. कर्म-कृषि विषयक 4. शिल्प-सिलाई-बुनाई आदि 5. गण-मल्ल आदि के समूह की जानकारी बताकर भिक्षादि प्राप्त करना, उस-उस सम्बन्धी आजीविका दोष है।

परिणाम– यदि गृहस्थ सरल हो तो जाति और प्रेम के कारण साधु को आधाकर्मी आहार दे सकता है। अन्य तरह की या गौत्र सेवाएँ भी कर सकता है। जिससे संयम हानि और आत्म विराधना दोनों होती है। इस तरह के दोष कुल आदि के सम्बन्ध में भी समझने चाहिए।

5. वनीपक दोष

वनीपक शब्द वनु–याचने धातु से निष्पन्न है। स्वयं को श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, अतिथि और श्वान आदि का भक्त बताकर या उनकी प्रशंसा करके आहार की याचना करना, वनीपक दोष है।

पिण्डनिर्युक्तिकार ने उपमा के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस बछड़े की माँ मर जाती है, उसके लिए ग्वाला अन्य गाय की खोज करता है, वैसे ही आहार आदि के लोभ से माहण, कृपण, अतिथि और श्वान के भक्तों के सम्मुख स्वयं को उनका भक्त बताकर दीनता से याचना करना वनीपक दोष है।[159]

जैसे बौद्ध, तापस, परिव्राजक, ब्राह्मण, आजीवक आदि उपासकों के घर पर उनके द्वारा मान्य बुद्ध आदि की प्रशंसा करना जिससे वे भक्ति भाव पूर्वक भोजन बहरायें, इसमें वनीपक दोष लगता है।

परिणाम– जैन दर्शन के अनुसार 'सुपात्र या कुपात्र किसी को भी दिया गया दान निष्फल नहीं जाता' ऐसा कथन भी सम्यक्त्व को दूषित करता है तब शिथिलाचारियों की प्रशंसा का तो कहना ही क्या? वह तो महान दोषकारी है। इससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है। वे सोचते हैं कि यदि साधु भी इनकी मान्यताओं की प्रशंसा करते हैं तो निश्चित रूप से इनका धर्म सत्य है।

• शाक्यादि भिक्षुओं के उपासक यदि सरल परिणामी हो तो साधु की प्रशंसा से खुश होकर उसे आधाकर्मी आहार दे सकते हैं। कदाचित मनोज्ञ आहार के लोभ से मुनि स्वयं भी बुद्ध अनुयायी बन सकता है।

• कदाच भिक्षा दाता गृहस्थ शाक्य का उपासक न हो और साधु ने भूल वश उसके समक्ष उनकी प्रशंसा कर दी हो तो वह नाराज होकर साधु को घर से बाहर निकाल सकता है।

• असंयमियों की प्रशंसा करने से हिंसादि पापों की अनुमोदना होती है। इस तरह वनीपक सम्बन्धी भिक्षा में अनेक दोषोत्पत्ति की संभावनाएँ रहती है।

6. चिकित्सा दोष

वैद्य की भाँति किसी गृहस्थ के रोग का निवारण करके या उसकी चिकित्सा विधि बताकर आहार प्राप्त करना, चिकित्सा दोष है।

मूलाचार में आठ प्रकार की चिकित्सा का उपदेश देकर भिक्षा प्राप्त करने को चिकित्सा दोष कहा गया है।[160] अनगार धर्मामृत में इस स्थान पर वैद्यक दोष का उल्लेख है।[161] यह दोष दो प्रकार का निर्दिष्ट हैं- सूक्ष्म और बादर।

(i) सूक्ष्म चिकित्सा– रोग की दवा बतलाकर या वैद्य का परिचय बतलाकर भिक्षा प्राप्त करना, सूक्ष्म चिकित्सा दोष है।

(ii) बादर चिकित्सा – स्वयं चिकित्सा करके या किसी दूसरे से चिकित्सा करवाकर भिक्षादि प्राप्त करना, बादर चिकित्सा दोष है। स्वयं वैद्य बनकर वमन, विरेचन आदि करवाना, क्वाथ आदि बनवाना यह भी बादर चिकित्सा है।

सार रूप में जैन मुनि को स्वाद युक्त आहार की प्राप्ति हेतु कभी भी गृहस्थ की चिकित्सा नहीं करना चाहिए तथा बिना किसी अपवाद के औषधि के नाम, वैद्यादि की जानकारी भी नहीं देना चाहिए।

परिणाम– असंयमी गृहस्थ की चिकित्सा पूर्वक भिक्षा प्राप्त की जाए तो निम्न दोषों की संभावना रहती हैं-

यदि साधु के द्वारा चिकित्सा करने पर भी किसी कारणवश रोग बढ़ जाये तो रोगी का कुटुम्बी वर्ग साधु को राज दण्ड दिलवा सकता है, जिससे जिन शासन की निन्दा होती है। इसी के साथ जैन साधु भिक्षा हेतु चिकित्सा करते हैं इस प्रकार की भ्रान्ति फैलती है।

चिकित्सा करते समय कन्दमूल आदि का उपयोग किया जाये तो जीव हिंसा, असंयम आदि दोष लगते हैं।[162]

7. क्रोध पिण्ड

अपनी विद्या और तप के प्रभाव से, राजकुल की प्रियता से तथा अपने शारीरिक बल आदि के प्रभाव से भिक्षा प्राप्त करना क्रोध पिण्ड है।[163] क्रोध का प्रदर्शन या साधु का रोष देखकर गृहस्थ यह सोचे कि यदि मुनि को भिक्षा नहीं दूंगा तो राजा मुझ पर कुपित हो जायेंगे, क्योंकि ये राजा के कृपा पात्र हैं। इस तरह गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करना क्रोध पिण्ड दोष है।[164]

8. मान पिण्ड

दूसरों के द्वारा उत्साहित किए जाने पर अथवा लब्धि और प्रशंसात्मक शब्दों को सुनकर गर्व से भिक्षा की एषणा करना अथवा किसी के द्वारा अपमानित होने पर उसे अपना बल दिखाने के लिए पिण्ड की एषणा करना मान पिण्ड दोष है।[165]

परिणाम– मान पिण्ड दोष युक्त भिक्षा ग्रहण करने से कभी-कभी पति-पत्नी के बीच क्लेश हो सकता है जैसे कि पत्नी ने आहार देने के लिए अपनी अरुचि दिखाई। मुनि ने इसे अपमान समझकर उसके प्राणनाथ से भिक्षा की याचना की। यदि उसने रुचिपूर्वक आहार दे दिया तो पत्नी स्वयं को अपमानित महसूस कर आत्मघात भी कर सकती है। मान पिण्ड ग्रहण करने से जिन वाणी की अवहेलना भी होती है।[166]

9. माया पिण्ड

माया पूर्वक भिक्षा ग्रहण करना मायापिण्ड दोष है।[167]

10. लोभ पिण्ड

आसक्ति पूर्वक किसी विशेष पदार्थ की गवेषणा करना अथवा गरिष्ठ या उत्तम पदार्थ को अति मात्रा में ग्रहण करना लोभ पिण्ड दोष है।[168]

क्रोधादि पिण्ड के परिणाम– क्रोध, मान आदि चारों पिण्ड सम्बन्धी आहार ग्रहण करने पर कर्म बंध तो होता ही है। इसी के साथ आन्तरिक द्वेष, जिन शासन की लघुता आदि दोष भी लगते हैं।

11. संस्तव दोष

भिक्षा ग्रहण करने से पहले या ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशंसा करना या सम्बन्ध स्थापित करना संस्तव दोष है।[169] यह दोष दो प्रकार से होता है– 1. वचन संस्तव और 2. सम्बन्धी संस्तव। इन दोनों के भी पूर्व और पश्चात दो-दो भेद होते हैं। निशीथ भाष्य में संस्तव के और भी अनेक भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है।[170] इन चारों भेदों की व्याख्या इस प्रकार है–

(i) पूर्ववचन संस्तव – भिक्षा लेने से पूर्व दाता के सद्-असद् गुणों का उत्कीर्तन करना कि तुम्हारी कीर्ति दसों दिशाओं में गूंज रही है। इतने दिन तुम्हारे दान के बारे में सुनते थे लेकिन आज तुम्हारी दानवृत्ति को प्रत्यक्ष देख लिया है। इस प्रकार भिक्षा लेने से पहले प्रशंसा करना पूर्ववचन संस्तव दोष है।[171]

(ii) पश्चात्वचन संस्तव– भिक्षा लेने के बाद दाता की प्रशंसा करते हुए कहना कि तुमसे मिलकर आज मेरे चक्षु पवित्र हो गए। पहले मुझे तुम्हारे गुणों के बारे में शंका थी लेकिन तुमको देखकर आज साक्षात अनुभव हुआ कि तुम्हारे गुण यथार्थ रूप से प्रसिद्ध हैं, यह पश्चात्वचन संस्तव दोष है।[172]

(iii) पूर्वसम्बन्धी संस्तव– भिक्षा लेते समय किसी दान दाता या दान दात्री के साथ माता-पिता या बहिन का सम्बन्ध स्थापित करना, जैसे कि मुनि अपनी वय और गृहिणी की वय देखकर यह कहे कि मेरी माता, बहिन, बेटी या पौत्री ऐसी ही थी, इस प्रकार विवाह से पूर्व होने वाले सम्बन्ध स्थापित करना पूर्वसम्बन्धी संस्तव दोष है।[173]

(iv) पश्चात्सम्बन्धी संस्तव– भिक्षा लेते समय दाता या दात्री के साथ वय के अनुसार श्वसुर, सास या पत्नी के रूप में सम्बन्ध स्थापित करना कि मेरी सास या पत्नी तुम्हारे जैसी थी। यह पश्चात्सम्बन्धी संस्तव दोष है।[174]

परिणाम– पूर्व-पश्चात वचन संस्तव दोष सम्बन्धी आहार लेने पर माया मृषावाद (कपट पूर्वक असत्य भाषण) और असंयमी की अनुमोदना का दोष लगता है। पूर्व-पश्चात सम्बन्धी संस्तव दोष युक्त आहारादि प्राप्त करने पर यदि गृहस्थ सरल परिणामी हो तो साधु के साथ पारिवारिक सम्बन्धों की तरह व्यवहार कर सकता है, स्नेहवश आधाकर्मी आदि आहार भी मुनि को बहरा सकता है।

• यदि घर के लोग तुच्छ प्रकृति के हों तो सोच सकते हैं कि यह मुनि अपना सम्बन्धी बनाकर हमें नीचा दिखाना चाहता है अत: नाराज होकर मुनि को घर से निष्कासित कर सकते हैं।

• 'तुम मेरी माँ की तरह हो' मुनि का ऐसा कथन सुनकर कोई सरलमना नारी मुनि को पुत्र तुल्य समझकर अपनी विधवा पुत्रवधू को अपनाने की विनंती कर सकती है। इसी भाँति अन्य दोषों की भी संभावना रहती है।

12. विद्यापिण्ड दोष

जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो तथा जिसे जप, होम आदि के द्वारा सिद्ध की जाए, वह विद्या है।[175] विद्या का प्रदर्शन करके भिक्षा प्राप्त करना विद्यापिण्ड दोष है। मूलाचार के अनुसार विद्या प्रदान करने का प्रलोभन देकर या विद्या के माहात्म्य से आहार प्राप्त करना विद्या दोष है।[176]

परिणाम– विद्या का प्रयोग करने से विद्या से अभिमंत्रित व्यक्ति या उससे सम्बन्धित अन्य कोई व्यक्ति प्रतिविद्या से मुनि का अनिष्ट कर सकता है। विद्या प्रयोग से लोग मुनि की निंदा कर सकते हैं कि ये मुनि पापजीवी, मायावी, कार्मणकारी एवं जादू-टोना करते हैं इससे धर्म की अवहेलना होती है। राजा अथवा न्यायालय आदि में शिकायत करने से राजपुरुषों द्वारा निग्रह और दंड भी प्राप्त हो सकता है।[177]

13. मंत्रपिण्ड दोष

जिसका अधिष्ठाता देवता हो तथा जो बिना होम आदि क्रिया के पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाए, वह मंत्र कहलाता है।[178] मंत्र प्रयोग से चमत्कार करके आहार प्राप्त करना मंत्रपिण्ड दोष है।[179] मंत्र पिण्ड का प्रयोग करने पर विद्यापिण्ड के समान ही दोष लगते हैं। ग्रंथकार के अनुसार संघ की प्रभावना के लिए आपवादिक स्थिति में मंत्र का सम्यक प्रयोग किया जा सकता है।[180]

मूलाचार में विद्या और मंत्र को एक साथ मानकर प्रकारान्तर से भी इसकी व्याख्या की गई है। उसके अनुसार आहार देने वाले व्यन्तर देवताओं को विद्या और मंत्र से बुलाकर उन्हें सिद्ध करना विद्यामंत्र दोष है।[181]

14. चूर्णपिण्ड दोष

अंजन आदि के प्रयोग से अदृश्य होकर भिक्षा प्राप्त करना[182] अथवा चूर्ण[183] के द्वारा वशीभूत करके भिक्षा प्राप्त करना, चूर्णपिण्ड दोष है।[184]

परिणाम– चूर्ण एवं योगपिण्ड सम्बन्धी भिक्षा में विद्या एवं मन्त्रपिण्ड के समान ही दोष लगते हैं। विशेष इतना है कि चूर्णपिण्ड प्रयोग से कोई व्यक्ति द्वेष पूर्वक मुनि का प्राण घात भी कर सकता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आँखों को निर्मल करने वाले चूर्ण तथा शरीर को विभूषित और दीप्त करने वाले चूर्ण की विधि बताकर आहार प्राप्त करना चूर्ण दोष है।[185] चूर्णपिण्ड का प्रयोग असफल होने पर साधु धर्म एवं जैन संघ की अवमानना होती है।

15. योगपिण्ड दोष

पादलेप अथवा सुगंधित पदार्थ का प्रयोग करके, पानी पर चलकर अथवा आकाश गमन करके भिक्षा प्राप्त करना, योगपिण्ड दोष है।

चूर्ण और योग– इन दोनों में द्रव्य की अपेक्षा से विशेष भेद नहीं है। सामान्य द्रव्य से निष्पन्न शुष्क या आर्द्र क्षोद (चूरा) चूर्ण कहलाता है तथा सुगंधित द्रव्य से निष्पन्न शुष्क या लेप रूप पिष्टी योग कहलाता है।[186]

16. मूलकर्म दोष

मूल यानी संसार वृद्धि का कारण, कर्म यानी पाप क्रिया अथवा संसार चक्र को बढ़ाने वाला पाप मूल कर्म कहलाता है। पिण्ड निर्युक्तिकार के अनुसार प्रयोग द्वारा किसी के कौमार्य को खण्डित करना अथवा किसी में योनि का स्थापन करना मूलकर्म है।[187] पिण्डविशुद्धिप्रकरण में सौभाग्य के लिए स्नान, रक्षाबंधन, गर्भाधान, विवाह करवाना और धूप आदि के प्रयोग करना मूलकर्म माना गया है।[188] मूलाचार के अनुसार जो वश में नहीं है, उनको वश में करना तथा वियुक्तों का संयोग करवाना मूलकर्म है। इस तरह की क्रियाओं के द्वारा आहार की प्राप्ति करना मूलकर्म दोष है।[189] अनगारधर्मामृत में इसके स्थान पर वश नामक दोष का उल्लेख है।[190]

भिक्षा से सम्बन्धित मूलकर्म दोष का उल्लेख आगम साहित्य में लगभग नहीं मिलता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र (2/12) में मूलकर्म का उल्लेख तो है पर वहाँ भिक्षा का प्रसंग नहीं है। इस संदर्भ में यह संभावना हो सकती है कि भगवान महावीर तथा उनके बाद भी कुछ वर्षों तक मूलकर्म का प्रयोग भिक्षा प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता था लेकिन परवर्ती काल में किसी साधु ने यह प्रयोग किया होगा इसीलिए पिण्डनिर्युक्तिकार ने इसे उत्पादना दोष के साथ

जोड़ दिया। निशीथसूत्र में भी उत्पादना के 15 दोषों में मूलकर्म का निर्देश नहीं है।

परिणाम– मूलकर्म सम्बन्धी भिक्षा प्राप्त करने पर गर्भस्तंभन एवं गर्भपात से सम्बन्धित व्यक्ति को सच्चाई ज्ञात हो जाये तो उसे साधु के प्रति भयंकर रोष पैदा हो सकता है और साधु का द्वेषी भी बन सकता है। यदि मूलकर्म सम्बन्धित व्यक्ति की मृत्यु हो जाये तो साधु को हिंसा का दोष लगता है। गर्भाधान कराने एवं योनि को अविकृत बनाने में जीवन भर अब्रह्म सेवन का दोष लगता है। यदि पुत्र जन्मे तो अनुराग वश साधु को आधाकर्मी भिक्षा दे सकता है तथा योनि विकृत बने तो भोगान्तराय का बन्धन होता है।

एषणा के दस दोष

एषणा का शाब्दिक अर्थ है खोज करना। यहाँ एषणा का तात्पर्य आहार शोधन से है। एषणा का दूसरा नाम ग्रहणैषणा है। शंका आदि दोषों से रहित आहार ग्रहण करना ग्रहणैषणा कहलाता है।[191]

पंचवस्तुक में एषणा शब्द का प्रयोग ग्रहणैषणा के संदर्भ में किया गया है। वहाँ एषणा, गवेषणा, अन्वेषणा और ग्रहण को एकार्थक माना है।[192]

उद्गम के दोष गृहस्थ से तथा उत्पादना के दोष साधु से सम्बन्धित होते हैं लेकिन एषणा के दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों से सम्बन्धित होते हैं। एषणा में भी शंकित और भावत: अपरिणत– ये दोनों दोष साधु के द्वारा तथा शेष आठ दोष नियमत: गृहस्थ के द्वारा लगते हैं।[193] ग्रहणैषणा के दस दोषों के नाम इस प्रकार हैं– 1. शंकित 2. म्रक्षित 3. निक्षिप्त 4. पिहित 5. संहृत 6. दायक 7. उन्मिश्र 8. अपरिणत 9. लिप्त और 10. छर्दित।[194]

1. शंकित दोष

आधाकर्म आदि दोष की संभावना होने पर भी भिक्षा ग्रहण करना, शंकित दोष है।[195] दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि मुनि कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंका युक्त आहार को ग्रहण न करे।[196]

शंकित के विषय में निम्न चार विकल्प बनते हैं[197]–

1. भिक्षा लेते समय शंकित और करते समय भी शंकित।
2. भिक्षा लेते समय शंकित किन्तु करते समय अशंकित।
3. भिक्षा लेते समय अशंकित किन्तु करते समय शंकित।

4. भिक्षा लेते समय भी अशंकित और करते समय भी अशंकित।

इस चतुर्भंगी में चौथा भंग विशुद्ध है। पिण्डनिर्युक्तिकार ने इन चारों भंगों का विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। कई बार गृहस्थ के द्वारा दी जाने वाली प्रचुर भिक्षा सामग्री को देखकर मुनि लज्जावश पूछताछ करने में समर्थ नहीं होता। अत: शंका होने पर भी भिक्षा ग्रहण कर लेता है और उसी अवस्था में उसका उपभोग भी कर लेता है, यह प्रथम भंग की व्याख्या है।

दूसरे भंग में मुनि भिक्षा ग्रहण करते समय शंकाग्रस्त रहता है लेकिन उपभोग करते समय दूसरा मुनि स्पष्टीकरण कर देता है कि उस घर में किसी अतिथि के लिए प्रचुर खाना बना था अथवा किसी अन्य के घर से आया था, यह सुनकर वह नि:शंकित होकर उस भिक्षा का उपभोग करता है, यह चतुर्भंगी का दूसरा विकल्प है।

तीसरे विकल्प में गुरु के समक्ष आलोचना करते हुए अन्य मुनियों के पास भी वैसी ही खाद्य सामग्री देखकर मन में शंका हो जाती है अत: नि:शंकित रूप से ग्रहण की गई भिक्षा को भी वह शंकित अवस्था में उपभोग करता है। चौथे भंग में दोनों स्थितियों में शंका नहीं होती अत: वह विशुद्ध होने से एषणीय है।[198]

2. प्रक्षित दोष

सचित्त पानी आदि पदार्थों से लिप्त हाथ या चम्मच आदि से भिक्षा ग्रहण करना प्रक्षित दोष है।[199] समवायांगसूत्र में चौदहवाँ तथा दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में इसे पन्द्रहवाँ असमाधि स्थान माना है।[200] टीकाकार मलयगिरि ने प्रक्षित के स्थान पर प्रक्षिप्त शब्द का प्रयोग भी किया है।[201] यह दोष दो प्रकार का कहा गया है– 1. सचित्त प्रक्षित और 2. अचित्त प्रक्षित। सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ आदि द्वारा आहार ग्रहण करना, सचित्त प्रक्षित दोष है तथा अचित्त वस्तु से लिप्त हाथ आदि द्वारा आहार प्राप्त करना, अचित्त प्रक्षित है। सचित्त प्रक्षित दोष तीन प्रकार का माना गया है– 1. पृथ्वीकाय प्रक्षित 2. अप्काय प्रक्षित 3. वनस्पतिकाय प्रक्षित।[202]

सचित्त पृथ्वीकाय प्रक्षित– शुष्क या आर्द्र सचित्त पृथ्वीकाय से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना पृथ्वीकाय प्रक्षित है।

अप्काय प्रक्षित– शुष्क या आर्द्र सचित्त रसों से युक्त हाथ या पात्र से भिक्षा ग्रहण करना अप्काय प्रक्षित है। सचित्त अप्काय प्रक्षित दोष चार भेद वाला है[203]–

1. पुरःकर्म– साधु को भिक्षा देने से पूर्व सचित्त जल से हाथ धोना।

2. पश्चात्कर्म– साधु को भिक्षा देने के पश्चात सचित्त जल से हाथ धोना।

3. सस्निग्ध– सचित्त जल द्वारा आंशिक रूप में भीगे हुए हाथों से भिक्षा ग्रहण करना।

4. उदकार्द्र– जिससे पानी टपक रहा हो, ऐसे सचित्त जल से युक्त हाथ से भिक्षा ग्रहण करना।

वनस्पतिकाय प्रक्षित– तुरन्त सुधारे हुए आम के टुकड़ों आदि से लिप्त हाथ द्वारा भिक्षा ग्रहण करना, वनस्पतिकाय प्रक्षित दोष है।

अग्निकाय, वायुकाय और त्रसकाय इन तीनों का भिक्षा के साथ संसर्ग होने पर भी उनसे हाथादि के लिप्त होने की संभावना ही नहीं रहती है अत: आहार इनसे प्रक्षित नहीं होता। इसीलिए इन तीनों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। सार रूप में कहा जाए तो उक्त सचित्त प्रक्षित सम्बन्धी भिक्षा मुनि के लिए सर्वथा अग्राह्य है।

अचित्त प्रक्षित दोष दो प्रकार का कहा गया है–

(i) अचित्त गर्हित– चर्बी आदि घृणित वस्तुओं से लिप्त हाथ आदि द्वारा भिक्षा लेना, अचित्त गर्हित दोष है।

(ii) अचित्त अगर्हित – घृत आदि से लिप्त हाथ आदि द्वारा भिक्षा लेना अचित्त अगर्हित दोष है।

अचित्त प्रक्षित में भी हाथ और पात्र से सम्बन्धित चार विकल्प बनते हैं। इस चतुर्भंगी में आहार ग्रहण की भजना है। इसमें अगर्हित प्रक्षित से युक्त हाथ और पात्र के द्वारा भिक्षा ग्राह्य है लेकिन गर्हित प्रक्षित भिक्षा का प्रतिषेध है। अगर्हित में भी गोरसद्रव, मधु, घृत, तेल, गुड़ आदि से खरडित हाथ या पात्र यदि जीवों से संसक्त हैं तो वह भिक्षा वर्ज्य है क्योंकि इससे मक्षिका, पिपीलिका आदि जीवों के हिंसा की संभावना रहती है।[204] सामान्यत: स्थविरकल्पी मुनि घृत, गुड़ आदि से खरडित हाथों द्वारा विधि पूर्वक भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं लेकिन जिनकल्पिक मुनि ऐसे हाथों से भिक्षा नहीं ले सकते। लोक में घृणित मांस, वसा, शोणित और मदिरा आदि से खरडित हाथ या पात्र से आहार लेना तो सभी के वर्जित ही है।

परिणाम– सचित्त प्रक्षित एवं गर्हित अचित्त प्रक्षित सम्बन्धी भिक्षा लेने से षट्कायिक जीवों की विराधना, संयम हानि एवं लोकनिन्दा होती है।

3. निक्षिप्त दोष

सचित्त पृथ्वी आदि पर रखी हुई भिक्षा ग्रहण करना, निक्षिप्त दोष है।[205] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आदि खाद्य यदि पानी, उत्तिंग या पनक आदि पर अथवा अग्नि पर रखे हुए हों तो साधु के लिए अकल्प्य है।[206] निक्षिप्त दोष दो प्रकार का होता है– सचित्त और अचित्त।

सचित्त निक्षिप्त के भी दो भेद हैं– अनन्तर और परम्पर।

(i) सचित्त अनन्तर निक्षिप्त– सचित्त पृथ्वी आदि षड्जीवनिकायों पर बिना किसी अन्तराल के रखी हुई भिक्षा लेना, अनन्तर सचित्त निक्षिप्त दोष है।

(ii) सचित्त परम्पर निक्षिप्त– पृथ्वी आदि षड्जीवनिकायों पर अन्तराल युक्त रखी गई भिक्षा लेना, परम्पर सचित्त निक्षिप्त दोष है।

यहाँ अनन्तर शब्द का अर्थ है– व्यवधान, अन्तराल या बाधा रहित तथा परम्पर शब्द का अर्थ है– व्यवधान या अन्तराल युक्त। सचित्त अग्नि और खाद्य सामग्री दोनों एक-दूसरे से सटे हुए हों जैसे अंगारे पर रखी गई ककड़ी, अनन्तर सचित्त निक्षिप्त है तथा अंगारे पर तपेली में रखा हुआ दूध परम्पर सचित्त निक्षिप्त कहलाता है।

पृथ्वी, अप् आदि षड्जीव निकायों का परस्पर में छह प्रकार से निक्षेप हो सकता है–

1. पृथ्वीकाय का पृथ्वीकाय पर।
2. पृथ्वीकाय का अप्काय पर।
3. पृथ्वीकाय का तेजस्काय पर।
4. पृथ्वीकाय का वायुकाय पर।
5. पृथ्वीकाय का वनस्पतिकाय पर।
6. पृथ्वीकाय का त्रसकाय पर।

इसी प्रकार अप्काय आदि के भी 6-6 भेद होते हैं। इनमें एक-एक विकल्प स्वस्थान सम्बन्धी तथा शेष पाँच परस्थान सम्बन्धी होते हैं।[207] अग्निकाय का सप्तविध निक्षेप इस प्रकार है–

1. **विध्यात–** जो अग्नि पहले दिखाई नहीं देती लेकिन बाद में ईंधन डालने पर स्पष्ट दिखाई देती है, वह विध्यात कहलाती है।

2. **मुर्मुर–** आपिंगल रंग के अर्धविध्यात अग्निकण मुर्मुर कहलाते हैं।

3. **अंगारा–** ज्वाला रहित अग्नि अंगारा कहलाती है।

4. **अप्राप्तज्वाला–** चूल्हे पर रखा गया बर्तन जिसको अग्नि का स्पर्श नहीं होता, वह अप्राप्तज्वाला कहलाती है।

5. **प्राप्तज्वाला–** पिठरक का स्पर्श करने वाली अग्नि प्राप्त ज्वाला कहलाती है।

6. **समज्वाला–** जो अग्नि बर्तन के ऊपरी भाग तक स्पर्श करती है, वह समज्वाला कहलाती है।

7. **व्युत्क्रान्तज्वाला–** जो अग्नि चूल्हे पर रखे गए बर्तन के ऊपर तक पहुँच जाती है, वह व्युत्क्रान्तज्वाला कहलाती है।[208]

सचित्त पर सचित्त निक्षेप की तरह– मिश्र पृथ्वी पर सचित्त पृथ्वी, सचित्त पृथ्वी पर मिश्र पृथ्वी तथा मिश्र पृथ्वी पर मिश्र पृथ्वी का निक्षेप होता है। इसी प्रकार सचित्त और मिश्र के साथ अचित्त निक्षेप की चतुर्भंगी भी होती है।[209] इन तीन चतुर्भंगियों में अचित्त से सम्बन्धित चतुर्भंगी के चौथे विकल्प वाला भक्तपान ग्राह्य होता है।

षड्जीवनिकाय का अनन्तर और परम्पर निक्षेप इस प्रकार होता है–

- सचित्त पृथ्वी पर बिना किसी अन्तराल के रखी गई वस्तु लेना सचित्त पृथ्वीकाय का अनन्तर निक्षेप दोष है।
- इसी प्रकार पृथ्वी पर रखे गए पिठरक आदि का निक्षेप होता है वह परम्पर निक्षिप्त है।
- पानी में डाला हुआ घी का पिंड लेना, अप्काय अनन्तर निक्षिप्त दोष है।
- समुद्र आदि में स्थित नाव आदि में रखे हुए मक्खन, पकवान आदि लेना, अप्काय परम्पर निक्षिप्त दोष है।
- सात प्रकार की अग्नि पर रखे हुए गेहूँ आदि लेना तेउकाय अनन्तर निक्षिप्त दोष है।
- अग्नि के ऊपर रखे गए पात्र की वस्तु लेना, तेउकाय परम्पर निक्षिप्त दोष है।

• वायु द्वारा उड़ाया गया पापड़, धान्य का छिलका आदि लेना, वायुकाय अनन्तर निक्षिप्त दोष है।

• हवा युक्त थैली, तकिये आदि पर रखे हुए पूए आदि लेना वायुकाय परम्पर निक्षिप्त दोष है।

• वनस्पतिकाय की दृष्टि से हरियाली पर रखी गई वस्तु लेना, वनस्पतिकाय अनन्तर निक्षिप्त दोष है।

• हरियाली पर रखे हुए पिठरक आदि में रही हुई वस्तु लेना, वनस्पतिकाय परम्पर निक्षिप्त दोष है।

• त्रसकाय की दृष्टि से बैल के पीठ पर रखे हुए मालपुए आदि लेना, त्रसकाय अनन्तर निक्षिप्त दोष है।

• बैल के पीठ पर कुतुप आदि भाजनों में भरकर रखे हुए मालपुए लेना, त्रसकाय परम्पर निक्षिप्त दोष है।

टीकाकार मलयगिरि के अनुसार निक्षिप्त के कुल 432 भेद होते हैं। सचित्त पृथ्वी आदि पर अनन्तर रूप से रखी गई भिक्षा संघट्ट आदि दोषों के कारण सर्वथा अग्राह्य है इसलिए सचित्त अनन्तर निक्षिप्त युक्त भिक्षा मुनि को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि परम्पर रूप से रखी गई भिक्षा में संघट्टादि दोष टल सकते हों तो यतनापूर्वक ले सकते हैं।

परिणाम– निक्षिप्त भिक्षा में षट्कायिक जीव विराधना और संयम विराधना होती है। निक्षिप्त के पूरे प्रसंग को पढ़कर जाना जा सकता है कि जैन आचार्यों ने साधु की भिक्षाचर्या के विषय में जितनी सूक्ष्मता से चिन्तन किया है। अन्य किसी भी धर्म के संन्यासी वर्ग के लिए इतनी सूक्ष्म अहिंसा प्रधान भिक्षाचर्या का उल्लेख नहीं मिलता है।

4. पिहित दोष (ढँका हुआ) – सचित्त, अचित्त या मिश्र इन तीनों प्रकार की वस्तुओं से ढँकी हुई भिक्षा लेना पिहित दोष है। दिगम्बर मूलाचार के अनुसार सचित्त फल या पृथ्वी आदि से ढँके हुए अथवा अचित्त भारी पदार्थ से ढँके हुए खाद्य पदार्थ को ग्रहण करना पिहित दोष है।[210] पिहित दोष तीन प्रकार का होता है– 1. सचित्त 2. अचित्त और 3. मिश्र। इन तीनों की तीन चतुर्भंगियाँ होती है।[211]

सचित्त और मिश्र की चतुर्भंगी

1. सचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु।
2. मिश्र से पिहित सचित्त देय वस्तु।
3. सचित्त से पिहित मिश्र देय वस्तु।
4. मिश्र से पिहित मिश्र देय वस्तु।

ये चारों विकल्प अग्राह्य हैं।

सचित्त और अचित्त की चतुर्भंगी

1. सचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु।
2. अचित्त से पिहित सचित्त देय वस्तु।
3. सचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु।
4. अचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु।

इसमें प्रारम्भ के तीन विकल्प अकल्पनीय तथा चतुर्थ विकल्प में भजना है।

अचित्त और मिश्र की चतुर्भंगी

1. मिश्र से पिहित मिश्र देय वस्तु।
2. अचित्त से पिहित मिश्र देय वस्तु।
3. मिश्र से पिहित अचित्त देय वस्तु।
4. अचित्त से पिहित अचित्त देय वस्तु।

इस चतुर्भंगी में प्रथम के तीन विकल्प अग्राह्य है और चतुर्थ विकल्प में भजना है। अचित्त पिहित की चतुर्भंगी भी इस प्रकार बनती है–

- भिक्षा दान का पात्र भारी और ढक्कन भारी।
- भिक्षा दान का पात्र भारी और ढक्कन हल्का।
- भिक्षा दान का पात्र हल्का और ढक्कन भारी।
- भिक्षा दान का पात्र हल्का और ढक्कन हल्का।

इस चतुर्भंगी में प्रथम और तृतीय विकल्प भिक्षा के लिए अग्राह्य है, क्योंकि भारी ढक्कन उठाते हुए कदाच गिर जाए या हाथ आदि से छूट जाए तो दाता के पाँव आदि में चोट लग सकती है। इसलिए इन द्विविध भंग की अपेक्षा अचित्त पिहित भिक्षा का भी निषेध किया गया है।

इसमें द्वितीय और चतुर्थ भंग वाली भिक्षा ली जा सकती है, क्योंकि दूसरे

विकल्प में केवल पात्र भारी है जिसको उठाये बिना भी कटोरी, चम्मच आदि से भिक्षा दी जा सकती है। इसमें दाता को चोट आदि की संभावना नहीं रहती। चतुर्थ विकल्प में दोनों ही वस्तुएँ हल्की है अत: वस्तु ग्राह्य है।[212]

भावार्थ यह है कि भिक्षा लेते-देते समय गृहस्थ दाता एवं भिक्षाटक मुनि दोनों को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भोजन पात्र के ऊपर रखा हुआ ढक्कन भारी है या हल्का। यदि ढक्कन भारी हो तो साधु उस बर्तन वाली भिक्षा ग्रहण नहीं करे और गृहस्थ भी तुरन्त ढक्कन उठाकर भिक्षा नहीं दे। अन्यथा अचित्त वस्तु एवं अचित्त पात्र होने पर भी दोष लग जाता है।

सचित्त पिहित आदि के भी दो-दो भेद हैं- अनन्तर और परम्पर। इनका सामान्य स्वरूप यह है-

- सचित्त पृथ्वी के ढक्कन से ढँके हुए पूए आदि खाद्य पदार्थ ग्रहण करना, पृथ्वीकाय अनन्तर पिहित दोष है।
- सचित्त पृथ्वी पर रखे गए पिठर में रखा हुआ खाद्य भिक्षा रूप में ग्रहण करना, पृथ्वीकाय परंपर पिहित दोष है।
- बरफ आदि अप्काय पिण्ड से ढँकी हुई भिक्षा लेना, अप्काय अनन्तर पिहित दोष है।
- सचित्त पानी पर रखे गए बर्तन की वस्तु ग्रहण करना, अप्काय परम्पर पिहित दोष है।
- अंगारों से संस्कारित किये गये केर आदि ग्रहण करना, तेउकाय परंपर पिहित दोष है।
- अंगारों से युक्त शराव आदि से ढँकी हुई भिक्षा लेना, तेउकाय अनंतर पिहित दोष है।
- अंगारे पर वायु भी होती है क्योंकि वायु के बिना आग जल ही नहीं सकती। अत: अंगारा डालकर हिंग आदि से संस्कारित किये गए केर आदि लेना, तेजस् और वायु दोनों से अनन्तर पिहित दोष है।
- वायु भरी हुई थैली आदि से ढँकी हुई भिक्षा लेना, वायुकाय परम्पर पिहित दोष है।
- फल आदि से ढकी हुई भिक्षा लेना वनस्पतिकाय अनन्तर पिहित दोष है।
- फल युक्त छाबड़ी आदि से ढँकी हुई भिक्षा लेना, वनस्पतिकाय परंपर पिहित दोष है।

• त्रसकाय के संदर्भ में कीड़े-मकोड़ों से आच्छादित भिक्षा लेना त्रसकाय अनन्तर पिहित दोष है।

• कीड़ी आदि से युक्त शराव से ढकी हुई भिक्षा लेना त्रसकाय परम्पर पिहित दोष है।

सचित्त पृथ्वी आदि से स्पर्शित अनन्तर पिहित भिक्षा मुनि के लिए सर्वथा अग्राह्य है क्योंकि इसके लेन-देन में संघट्टा आदि दोषों की संभावना रहती है। सचित्त पृथ्वी आदि से युक्त परम्पर पिहित भिक्षा दोष टालते हुए यतना पूर्वक ग्राह्य है।

परिणाम– सचित्त पिहित युक्त भिक्षा ग्रहण करने से जीव हिंसा और संयम हानि दोनों होती है।

5. संहृत (संस्पर्शित) दोष

जिस पात्र से भिक्षा दी जा रही हो, उसमें यदि सचित्त या मिश्र धान्य आदि के कण हों तो उसे भूमि पर या अन्यत्र रखकर फिर भिक्षा देना, संहृत दोष है।[213] मूलाचार में संहृत के स्थान पर संव्यवहरण शब्द का प्रयोग है। उसके अनुसार मुनि को आहार देने के लिए वस्त्र या बर्तन आदि को देखे बिना शीघ्रता से हटाना संव्यवहरण दोष है।[214] अनगारधर्मामृत में इसके स्थान पर साधारण दोष का उल्लेख है।[215]

जिस प्रकार निक्षिप्त और पिहित दोष में सचित्त, अचित्त और मिश्र की तीन चतुर्भंगियाँ होती है, वैसे ही इसकी भी चतुर्भंगियाँ हैं। केवल द्वितीय और तृतीय चतुर्भंगी के तीसरे विकल्प की मार्गणा विधि में अंतर है।[216] पिण्डनिर्युक्ति में शुष्क संहृत और आर्द्र संहृत तथा संहियमाण के आधार पर चार भंगों की कल्पना इस प्रकार की गई है–

1. शुष्क पर शुष्क। 3. आर्द्र पर शुष्क।
2. शुष्क पर आर्द्र। 4. आर्द्र पर आर्द्र।

इनमें शुष्क वस्तु को संहृत करने से जीव हिंसा की संभावना कम रहती है अत: शुष्क पर शुष्क को संहृत किया जाए तो वह सामग्री साधु के लिए ग्राह्य हो सकती है।

आचार्य भद्रबाहु ने संहृत दोष को स्तोक और बहु के आधार पर भी समझाया है–

• थोड़े शुष्क पर थोड़ा शुष्क। • थोड़े शुष्क पर बहु शुष्क।

• बहु शुष्क पर थोड़ा शुष्क। • बहु शुष्क पर बहु शुष्क।

जहाँ थोड़े शुष्क पर बहु शुष्क तथा बहु शुष्क पर बहु शुष्क संहृत होता है, वहाँ साधु को आहार लेना कल्पता है। शुष्क पर आर्द्र, आर्द्र पर शुष्क या आर्द्र पर आर्द्र- इन तीन भंगों में आहार ग्रहण करना कल्प्य नहीं होता है। यदि ग्राह्य वस्तु कम भार वाली हो और उस पर कोई हल्की वस्तु रखी हो तो उसे अन्यत्र रखकर आहार आदि लिया जा सकता है।

परिणाम- भारी या बड़े पात्र को उठाने या नीचे रखने में दाता को कष्ट होता है। इससे लोक निंदा भी संभव है कि यह रस लोलुपी साधु दूसरों की सुविधा-असुविधा का भी ध्यान नहीं रखता। यदि दान देते समय अंग खंडित या शरीर जल जाए तो दाता या उसके परिजनों के मन में अप्रीति उत्पन्न हो सकती है जिससे अन्य द्रव्यों का व्यवच्छेद हो जाता है तथा भारी पात्र से वस्तु बाहर निकलने पर षट्काय वध की संभावना रहती है।

संहरण आदि प्रत्येक द्वार में भंगों के आधार पर 432 भंग इस प्रकार बनते हैं- सचित्त पृथ्वी का सचित्त पृथ्वीकाय पर संहरण, सचित्त पृथ्वीकाय का सचित्त अप्काय पर संहरण इस तरह स्वकाय-परकाय की अपेक्षा 36 भंग होते हैं। इनके सचित्त, अचित्त और मिश्र की अपेक्षा प्रत्येक की तीन चतुर्भंगी होने से 12 भेद होते हैं। 12 × 36 से गुणा करने पर 432 भेद होते हैं।[217]

सचित्त संहृत आदि दोष भी दो-दो प्रकार का कहा गया है- अनन्तर और परम्पर। इसका स्पष्टीकरण निम्न है-

• सचित्त पृथ्वीकाय पर रखा गया आहार लेना, पृथ्वीकाय अनन्तर संहृत दोष है।

• सचित्त पृथ्वीकाय पर रखे हुए पात्र में डाला हुआ आहार लेना, पृथ्वीकाय परंपर संहृत दोष है।

• बर्फ आदि से युक्त वस्तु लेना, अप्काय अनन्तर संहृत दोष है।

• सचित्त जल आदि से संस्पर्शित पात्र में डाली गई वस्तु लेना, अप्काय परंपर संहृत दोष है।

• चूल्हे पर तुरंत सेका गया पापड़ लेना, तेउकाय अनन्तर संहृत है।

• गर्म किये हुए बर्तन में डाली गई भिक्षा लेना, तेउकाय परंपर संहृत दोष है।

• तेउकाय के साथ वायुकाय का अस्तित्व जुड़ा रहता है अत: तेउकाय की तरह वायुकाय परंपर और वायुकाय अनन्तर संहृत समझ लेना चाहिए।

• फल आदि पर रखी गई भिक्षा लेना, वनस्पतिकाय अनन्तर संहृत दोष है।

• तुरन्त सुधारे हुए फल आदि के पात्र में डालकर दी गई भिक्षा लेना, वनस्पतिकाय परंपर संहृत दोष है।

• त्रसकाय के संदर्भ में चींटी आदि जीव जन्तु युक्त स्थान पर रखी गई भिक्षा लेना, त्रसकाय अनन्तर संहृत दोष है।

• चींटी आदि से सने हुए पात्र को खाली कर उसमें दी जा रही भिक्षा लेना, त्रसकाय परंपर संहृत दोष है।

परिणाम – सचित्त अनन्तर संहृत दोष वाली भिक्षा मुनि के लिए सर्वथा निषिद्ध है क्योंकि इसमें संघट्टा एवं जीव हिंसा की पूर्ण संभावना रहती है। यदि सचित्त परंपर संहृत संबंधी भिक्षा में संघट्टा दोष टल सकता हो तो विवेक पूर्वक ले सकते हैं।

6. दायक दोष

जो भिक्षा देने के अयोग्य हों अथवा अविधि पूर्वक दे रहे हों उनके हाथ से भिक्षा ग्रहण करना, दायक दोष है। पिण्डनिर्युक्ति में चालीस व्यक्तियों को भिक्षा के अयोग्य माना गया है। इनमें कुछ दोष व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं तथा कुछ सावद्य क्रियाओं से सम्बद्ध होने के कारण उपचार से दायक के साथ जुड़ गए हैं। निषिद्ध दायकों के नाम इस प्रकार हैं –[218]

1. **बाल**– आठ वर्ष से कम उम्र का बालक जो आहारादि देने का परिमाण या विधि न जानता हो, उससे भिक्षा ग्रहण करना बाल दायक दोष है।
2. **अतिवृद्ध** (स्थविर)– सत्तर वर्ष (अन्य मत से साठ वर्ष) से अधिक आयु वाला स्थविर कहलाता है, उसके हाथ से भिक्षा लेना भी दायक दोष है। इस वय में हाथ आदि काँपने लगते हैं अत: खाद्य सामग्री गिरने की संभावना रहती है।
3. **मत्त**– जो नशा किया हुआ हो।
4. **उन्मत्त**– जो भूत आदि से आविष्ट हो।
5. **कंपमान**– जिसका शरीर वृद्धावस्था या रोग आदि के कारण काँप रहा हो।

6. **ज्वरित–** जो एकान्तर बुखार आदि से ग्रसित हो।
7. **अन्धा–** जो नेत्रहीन हो।
8. **कोढ़ी–** जिसके शरीर से व्रण झर रहे हो, ऐसे कुष्ठ रोग से ग्रसित व्यक्ति।
9. **खड़ाऊ पहना हुआ–** जो लकड़ी की खड़ाऊ (पाद त्राण) पहना हुआ हो।
10. **बंधन युक्त–** जिसके हाथ हथकड़ी आदि से बंधे हुए हों।
11. **बंधन बद्ध–** जिसके पाँव बेड़ियों से बंधे हुए हों।
12. **लूला-लंगड़ा–** जिसके हाथ और पाँव कटे हुए हों।
13. **नपुंसक–** जो पुरुष एवं स्त्री चिह्न से पृथक हो।
14. **गर्भिणी–** गर्भवती स्त्री हो।
15. **बालवत्सा–** जो बालक को भूमि, खटिया आदि पर सुला रही हो अथवा स्तनपान करा रही हो।
16. **भोजन करती–** जो स्त्री भोजन कर रही हो।
17. **मथती–** दही का मंथन कर रही हो।
18. **भूंजती–** चने आदि भुन रही हो।
19. **दलती–** गेहूँ आदि पीस रही हो।
20. **खांडती–** ऊखल में चावल आदि कूट रही हो।
21. **पीसती–** शिला पर तिल आदि पीस रही हो।
22. **पींजती–** रुई पींज रही हो।
23. **लोढ़ती–** रुई और कपास अलग कर रही हो।
24. **कातती–** सूत कात रही हो।
25. **अलग करती–** जो चरखा चला रही हो।

26-30. छह काय के जीवों का संघट्टा कर रही हो जैसे

26. पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि षड्जीव कायिक वस्तुएँ हाथ में ग्रहण की हुई हो।
27. सचित्त लवण आदि षट् जीवकाय से युक्त पदार्थ को साधु के लिए नीचे रख रही हो।
28. छह काया से युक्त वस्तुओं पर अपने पाँव चला रही हो।
29. पृथ्वी, जल आदि छह काया का शरीर से स्पर्श कर रही हो।

30. छह काय की हिंसा कर रही हो, जैसे हाथों में सचित्त जल, अग्नि, वायु भरी थैली, फल आदि ग्रहण किये हुए हो, मस्तक पर दूर्वा, पत्र-पुष्पादि धारण किये गये हो, गले में पुष्पमाला हो, कानों में फूलों के आभूषण हों, पाँव में जलकण लगे हों ऐसी दात्री।
31. **संसिक्त द्रव्य लिप्त हाथ–** जिसके हाथ दही आदि से लिप्त हों।
32. **संसिक्त द्रव्य लिप्त पात्र–** जिसके हाथ में लिया हुआ पात्र दही आदि से खरड़ित हो।
33. **संसिक्त द्रव्य उद्वर्तन–** जो बड़े पात्र से दधि, घृत आदि निकाल कर दे रही हो।
34. **साधारणदात्री–** जो सामान्यतया दूसरों की वस्तु देने के लिए तत्पर हो।
35. **चोरितदात्री–** जो चुराई गई वस्तु दे रही हो।
36. **अग्र कवल दात्री–** जो अग्रपिण्ड निकाल कर दे रही हो, जैसे पहली रोटी गाय आदि के लिए निकाली गई हो उसे देना।
37. **संभावित भयवाली–** जो ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् इन तीन दिशाओं में किसी भय की संभावना से भयभीत मन वाली हो। जैसे- ऊपर से छत के पाट, पट्टी आदि गिरने की आशंका हो, नीचे से सांप, बिच्छू आदि के काटने या कांटा आदि चुभने की शंका हो और तिरछी दिशा से गाय, बैल आदि के आने का भय हो।
38. अन्य मुनियों के उद्देश्य से रखा हुआ आहार दे रही हो।
39. **ज्ञातवती–** जानबूझकर अशुद्ध आहार दे रही हो।
40. **अज्ञातवती–** अज्ञानतावश अशुद्ध आहार दे रही हो।

इन 40 प्रकार के दाताओं से भिक्षा लेना दायक दोष है।

यद्यपि इन दोषों में प्रारम्भिक पच्चीस तक की संख्या वाले व्यक्तियों के हाथ से विशेष प्रयोजन होने पर भिक्षा ली जा सकती है। किन्तु शेष पन्द्रह प्रकार के व्यक्तियों के हाथ से भिक्षा लेने का सर्वथा निषेध है।

दशवैकालिक के पाँचवें पिण्डैषणा अध्ययन में प्रतिषिद्ध दायकों का विकीर्ण रूप से उल्लेख मिलता है।[219]

ओघनिर्युक्ति एवं पंचाशक में दायक से सम्बन्धित निम्न 20 दोषों का उल्लेख मिलता है– 1. अव्यक्त (बाल) 2. अप्रभु (जिसका घर पर स्वामित्व

न हो) 3. स्थविर 4. नपुंसक 5. मत्त 6. क्षिप्त चित्त (धन आदि की चोरी होने पर जिसका चित्त क्षिप्त हो जाए) 7. दीप्तचित्त (शत्रु के द्वारा अनेक बार पराजित होने पर चित्त-विप्लुति होना) 8. यक्षाविष्ट 9. कटे हाथ वाला 10. छिन्न पैर वाला 11. अंधा 12. श्रृंखला बद्ध 13. कोढ़ी 14. गर्भवती स्त्री 15. बालवत्सा स्त्री 16. अनाज का कंडन करती हुई 17. उसे पीसती हुई 18. अनाज भूनती हुई 19. सूत कातती हुई 20. रुई पींजती हुई।[220]

मूलाचार में निम्नलिखित 31 व्यक्तियों को भिक्षा देने के अयोग्य माना गया है– 1. धाय 2. मदिरा से उन्मत्त 3. रोगी 4. मृतक को श्मशान में पहुँचाकर आने वाला 5. नपुंसक 6. पिशाच (वात रोग से प्रभावित) 7. नग्न 8. मल विसर्जित करके आया हुआ 9. मूर्च्छा के कारण पतित 10. वमन करके तत्काल आया हुआ 11. रुधिर युक्त 12. वेश्या दासी 13. आर्यिका-श्रमणी (रक्तपटिका आर्यिका आदि न हो) 14. शरीर का अभ्यंगन की हुई 15. अति बाला (छोटी बालिका, यहाँ उपचार से छोटा बालक भी ग्राह्य है)। 16. अतिवृद्धा 17. खाना खाती हुई 18. गर्भिणी (पाँच मास की गर्भिणी) 19. अंधी स्त्री 20. अंतरिता-भींत आदि के पीछे या उसके सहारे से बैठी स्त्री 21. नीचे बैठी हुई 22. ऊँचे स्थान पर बैठी हुई 23. मुँह से अग्नि फूंकने वाली 24. काठ डालकर अग्नि जलाने वाली 25. सारण– चूल्हे में लकड़ी आदि को आगे-पीछे सरकाती हुई 26. भस्म आदि से आग को ढ़कने वाली 27. पानी आदि से अग्नि बुझाने वाली 28. अग्नि को इधर-उधर चलाने वाली या बुझाने वाली 29. गोबर आदि से लीपती हुई 30. मज्जन– स्नान आदि करती हुई 31. दूध पीते बालक को छोड़कर भिक्षा देती हुई।[221]

प्रवचनसारोद्धार की टीका में 29 व्यक्तियों को दान के अयोग्य कहा गया है। उनकी नाम सूची इस प्रकार है–1. स्थविर 2. अप्रभु 3. नपुंसक 4. कंपमान 5. ज्वरग्रस्त 6. अंध 7. बाल 8. मत्त 9. उन्मत्त 10. लूला 11. लंगड़ा 12. कोढ़ी 13. बंधनबद्ध 14. पादुका पहना हुआ, 15. धान्य का कंडन करती हुई 16. पीसती हुई 17. अनाज भूंजती हुई 18. चरखा कातती हुई 19. कपास लोठती हुई 20. कपास अलग करती हुई 21. रुई पींजती हुई 22. अनाज आदि दलती हुई 23. दही का मन्थन करती हुई 24. भोजन करती हुई 25. गर्भिणी 26. बालवत्सा 27. छः काय जीवों से युक्त हाथ वाली 28. छः काय जीवों का घात करती हुई 29. संभावित भय वाली।[222]

पिण्डविशुद्धिप्रकरण में 38 दोषों का निर्देश है। वहाँ पिण्डनिर्युक्ति में वर्णित आभोग और अनाभोग दायकों का उल्लेख नहीं मिलता है।[223]

अनगारधर्मामृत में रजस्वला, गर्भिणी, अन्य सम्प्रदाय की आर्यिका, शव को कंधे पर उठाने वाले, मृतक के सूतक वाले और नपुंसक आदि दायकों को वर्जित माना गया है।[224]

परिणाम– अयोग्य व्यक्तियों के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने पर निम्न दोष लगते हैं–

- यदि मुनि छोटे बच्चे से (जो घर में अकेला है) भिक्षा ग्रहण करे तो जनापवाद हो सकता है कि ये साधु नहीं, लूटेरे हैं जो गृह मालिक की अनुपस्थिति में बच्चों से मन चाहा आहार ले लेते हैं। इससे बालक की माता आदि को भी साधु के प्रति द्वेष होने की संभावना रहती है।
- जिसके मुँह से लार टपक रही हो, ऐसे वृद्ध के हाथ से भिक्षा लेने पर वह लार भिक्षा पात्र में पड़ सकती है इससे लोक में घृणा पैदा होती है। उसके हाथ काँपते हों तो देय वस्तु अथवा वह स्वयं गिर सकता है। यदि घर में उसका प्रभुत्व न हो तो परिवार में अप्रीति भी उत्पन्न हो सकती है।
- मदिरापायी उन्मत्त आदि से भिक्षा लेने पर आलिंगन (वह नशे में बेभान हो तो साधु से लिपट सकता है), पात्र भेदन (पात्र फोड़ सकता है), लोक गर्हा (लोग निन्दा कर सकते हैं कि ये मुनि कितने घृणित हैं कि शराबी से भी आहार लेते हैं), ताडन-मारण– कदाचित वह साधु से रुष्ट होकर कह सकता है कि 'तूं यहाँ क्यों आया है' और उन्हें मारने के लिए भी दौड़ सकता है। इस तरह कई दोष उत्पन्न हो सकते हैं।
- काँपते व्यक्ति से भिक्षा लेने पर परिशाटन आदि दोष संभव हैं। काँप रहे पुरुष के हाथ से वस्तु नीचे गिर सकती है, पात्र से बाहर गिर सकती है। यदि गृहस्थ से भोजन का पात्र छूट जाए तो साधु का पात्रा टूट सकता है।
- ज्वर ग्रस्त से भिक्षा लेने पर रोग संक्रमण की आशंका रहती है। यह लोक निन्दा का कारण भी बनता है कि 'ये मुनि कितने आहार लिप्सु हैं कि बीमार को भी नहीं छोड़ते हैं।'
- अंध से भिक्षा लेने पर लोक निन्दा होती है। अंधा व्यक्ति नहीं देख पाने के कारण जीव हिंसा कर सकता है, ठोकर खाकर गिर सकता है। ऐसी स्थिति में साधु का पात्र भी टूट सकता है।

• कोढ़ी से भिक्षा लेने पर रोग संक्रमण का भय रहता है।

• पादुकारूढ़, बेड़ियों से बद्ध, हाथ-पैर कटे हुए इन व्यक्तियों से भिक्षा लेने पर लोक में निन्दा हो सकती है, चलते हुए सन्तुलन न रहे तो दाता गिर सकता है, इनके गिरने आदि से परिताप हो सकता है, कठिनाई से चल पाने के कारण जीवों की विराधना भी संभव रहती है।

• नपुंसक से भिक्षा लेने पर काम वासना के जागृत होने की संभावना रहती है। यदि उससे अति परिचय हो जाए तो लोगों में मुनि आचार के प्रति शंका हो सकती है, लोक निन्दा भी होती है कि ये मुनि अधम लोगों के हाथ से भिक्षा लेते हैं।

• बालवत्सा अथवा गर्भिणी स्त्री से भिक्षा लेने पर बच्चे को कष्ट हो सकता है। यदि बालक भूमि पर सोया हुआ हो तो उसे मांस पिण्ड या खरगोश आदि का बच्चा समझकर बिल्ली या अन्य पशु उसकी हिंसा कर सकते हैं। भिक्षा देने के बाद सूखे हुए हाथों से यदि माता बालक को स्पर्श करें तो उसे पीड़ा हो सकती है।

• भोजन करती हुई स्त्री के हाथ से भिक्षा लेने पर बीच में हाथ आदि धोए जाए तो अप्काय जीवों की विराधना होती है और बिना हाथ धोये भिक्षा देने से लोक निन्दा होती है।

• बिलौने की क्रिया में त्रस जीवों की हिंसा होती है अत: उस स्त्री से भिक्षा लेने पर लिप्त दोष संभव है।

• धान्य का खंडन करती हुई या धान्य को दलती हुई स्त्री से भिक्षा लेने पर सचित्त बीज आदि अथवा हाथ आदि धोए जाएं तो अप्काय जीवों की विराधना हो सकती है। यदि भिक्षा देने में समय लग जाए और कढ़ाई में डाले हुए चने आदि जल जाये तो दाता के मन में जैन मुनियों के प्रति अरुचि एवं द्वेष पैदा हो सकता है। संघट्टा दोष की भी संभावना रहती है।

• इसी तरह रुई आदि पींजती हुई, कपास से बिनौले अलग करती हुई, सूत कातती हुई स्त्री के द्वारा भिक्षा ग्रहण करने पर उनके द्वारा खरडित हाथ धोए जाने से अप्कायिक जीवों की विराधना होती है तथा सचित्त बीजादि का संघट्टा होता है।

• सचित्त नमक, जल, अग्नि, हवा भरी हुई मशक, बीज युक्त फल आदि को नीचे रखती हुई, सचित्त पृथ्वी आदि का स्पर्श करती हुई, संघट्टा करती हुई, सचित्त जल से स्नान करती हुई नारी से भिक्षा लेने पर त्रस-स्थावर जीवों का आरंभ होने से हिंसा का दोष लगता है।

• दही आदि से संसक्त हाथ आदि द्वारा भिक्षा लेने पर त्रस जीवों की हिंसा होती है।

• बड़ा पात्र उठाकर भिक्षा दे रही हो तो उसके तलिए पर रहे सूक्ष्म जीव-जन्तु मर सकते हैं।

• साधारण दात्री से भिक्षा लेने पर सोलह उद्गम दोषों में पन्द्रहवें अनिसृष्ट दोष के समान सभी दोष लगते हैं।

• पुत्रवधू आदि के द्वारा चुराई गई वस्तु ग्रहण करने पर बन्धन, ताड़न आदि दोषों की संभावनाएँ रहती है।

• बलि आदि के निमित्त स्थापित अग्रपिंड की भिक्षा लेने पर प्रवर्त्तन आदि दोष लगते हैं।

• संभावित भय वाली दात्री से भिक्षा लेने पर साधु को भी मृत्यु आदि के भय की संभावना रहती है।

• अन्य साधु के लिए रखा गया अथवा ग्लान आदि के निमित्त से भिक्षा लेने पर अदत्तादान का दोष लगता है।

• यदि कोई जानबूझकर अशुद्ध भिक्षा दें तो उसे लेने पर आधाकर्म आदि एषणा के दोष लगते हैं।

अपवाद– पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार बालक, वृद्ध, गर्भिणी आदि के हाथ से भिक्षा लेने का निषेध वैकल्पिक है अत: निम्न स्थितियों में उनके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।[225]

• बालक को माँ आदि की अनुज्ञा प्राप्त हो गई हो अथवा घर के प्रमुख व्यक्तियों ने यह कह दिया हो कि कोई भी साधु पधारे तो इतना-इतना अहारादि दे देना हम लोग बाहर जा रहे हैं तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

• वृद्ध व्यक्ति यदि अन्य व्यक्ति का सहारा लिये हुए हो, सुदृढ़ शरीर वाला हो अथवा घर का स्वामी हो तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

• उन्मत्त व्यक्ति श्रावक हो, परवश न हो, भद्र प्रकृति वाला हो, वहाँ अन्य गृहस्थ न हो तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

• यक्षाविष्ट व्यक्ति पवित्र और भद्र हो, कम्पमान व्यक्ति के हाथ से वस्तु नहीं गिर रही हो या उसके द्वारा बर्तन मजबूती से पकड़ा हुआ हो या अन्य द्वारा पकड़कर भिक्षा दिलाई जा रही हो, ज्वरित व्यक्ति का ज्वर उतर गया हो, अन्धा व्यक्ति देय वस्तु को पुत्र आदि के हाथ के सहारे दे रहा हो तो इन सबके हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।

• जिसके शरीर पर सफेद दाग जैसा कोढ़ हुआ हो, किन्तु झरता हुआ कोढ़ न हो, तो परिस्थिति विशेष में कोढ़ी व्यक्ति से भिक्षा ली जा सकती है।

• पादुकारूढ व्यक्ति अपने स्थान पर खड़ा होकर ही भिक्षा दे रहा हो, सांकल से बंधा व्यक्ति चलने में कष्ट का अनुभव न करता हो, हाथ-पैर कटा व्यक्ति बैठा हुआ हो, पास में अन्य गृहस्थ न हो तो इन सभी के हाथ से भिक्षा ली जा सकती है।

• यदि नपुंसक दुराचार सेवन करने वाला न हो या ऋषि आदि के शाप से नपुंसक बना हो तो उससे भिक्षा ली जा सकती है।

• जिनकल्पी मुनि गर्भवती स्त्री मात्र से तथा जिसका शिशु अभी बाल अवस्था में है उस स्त्री से भिक्षा नहीं ले सकते है, जबकि स्थविर कल्पी आठ मास तक गर्भिणी के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं, नौवें महीने में यदि बैठे-बैठे दी जाए तो भिक्षा ले सकते हैं।

• मूंग आदि का खंडन करती हुई नारी मूसल को निरवद्य स्थान में रखकर भिक्षा दे सकती है। यदि कढ़ाई में डाले हुए चने आदि भूंजकर नीचे ले लिए गये हों, दूसरे भूंजने के लिए अभी हाथ में न उठाये हों तो ऐसी स्थिति में मुनि भिक्षा ले सकता है।

• इसी प्रकार अचित्त धान्य पीसती हुई, शंखचूर्ण आदि से अस्पृष्ट दही को मथती हुई, सचित्त चूर्ण से अलिप्त हाथों द्वारा सूत कातती हुई और जहाँ भी पश्चात्कर्म आदि दोषों की संभावनाएँ न हों उन सभी के हाथों से भिक्षा ली जा सकती है।

• नियमत: जहाँ षट्कायिक जीवों की विराधना संभावित हो, वहाँ कोई अपवाद नहीं होता। इसी दृष्टिकोण से प्रारंभ के पच्चीस व्यक्तियों के हाथ से उक्त स्थितियों में भिक्षा ली जा सकती है जबकि शेष के हाथों से भिक्षा लेना सर्वथा निषिद्ध है।

7. उन्मिश्र (मिला हुआ) दोष

सचित्त बीज आदि से मिश्रित भिक्षा ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है।[226]

जैसे किसी गृहस्थ के घर मुनि भिक्षार्थ गये और वहाँ देने योग्य वस्तु अल्प हो, तो गृहस्थ लज्जावश देय वस्तु में करौंदे, दाडिम के दाने आदि मिलाकर दें अथवा अलग-अलग वस्तुओं को देने में समय अधिक लगेगा इस भाव से सदोष एवं निर्दोष वस्तुओं को मिलाकर दें अथवा मुनियों के सचित्त त्याग का नियम खंडित हो इस प्रकार लज्जा, भक्ति, द्वेष या अनाभोग से शुद्ध-अशुद्ध आहार को मिलाकर देना, उन्मिश्र दोष है।

पिण्डविशुद्धि प्रकरण में उन्मिश्र की यही व्याख्या की गई है। तदनुसार भिक्षा देने योग्य तथा भिक्षा के अयोग्य वस्तुओं को मिलाकर भिक्षा देना उन्मिश्र दोष है।[227] मूलाचार में भी उन्मिश्र दोष की यही व्याख्या मिलती है।[228] अनगारधर्मामृत में इसके लिए विमिश्र अथवा मिश्र दोष का उल्लेख है।[229]

उन्मिश्र दोष मुख्यत: तीन प्रकार का होता है–1. सचित्त 2. अचित्त और 3. मिश्र। इनकी तीन चतुर्भंगियों में से अंतिम की दो चतुर्भंगियों में प्रारम्भ के तीन विकल्प निषिद्ध तथा चौथे विकल्प की भजना है। प्रथम चतुर्भंगी के चारों विकल्पों में भिक्षा निषिद्ध है। संहृत द्वार की भाँति इसमें भी पृथ्वीकाय आदि के संयोगिक भंग समझने चाहिए तथा शुष्क और आर्द्र के चार विकल्प संहरण दोष की भाँति ही जानने चाहिए।[230]

उन्मिश्र और संहृत दोष में मुख्य अन्तर यह है कि ग्राह्य और अग्राह्य दोनों तरह के पदार्थों को मिलाकर देना उन्मिश्र दोष है तथा बर्तन में पहले से रखी गई सदोष वस्तु को अन्य बर्तन में निक्षिप्त कर उसमें निर्दोष वस्तु डालकर भिक्षा के रूप में देना संहृत दोष है।[231]

8. अपरिणत (अर्धपक्व) दोष

जो वस्तु पूर्णत: अचित्त न हुई हो अथवा जिसको देने के लिए दाता का मन नहीं हो, उसे लेना अपरिणत दोष है।[232] दशवैकालिकसूत्र में अपरिणत के लिए 'अनिव्वुड' शब्द का प्रयोग हुआ है।[233] दिगम्बर परम्परा के अनुसार तिलोदक, तण्डुलोदक, उष्ण जल, चने का धोवन, तुषोदक यदि पूर्ण अचित्त न हुए हों अथवा और भी वस्तुएँ जो अपरिणत हों, उन्हें लेना अपरिणत दोष है।[234] यह दोष दो प्रकार का होता है– द्रव्य अपरिणत तथा भाव अपरिणत। दाता और ग्रहणकर्ता की दृष्टि से इन दोनों के दो-दो भेद होते हैं–

(i) द्रव्य विषयक अपरिणत– यह दोष षट्काय से सम्बन्धित होने के कारण छह प्रकार का होता है। उदाहरण स्वरूप लवण जब तक सजीव है, तब तक अपरिणत है और जीव रहित होने के बाद वह परिणत कहलाता है। इसी तरह अप्काय आदि को जानना चाहिए।[235]

(ii) भाव विषयक अपरिणत– जो वस्तु दो या अधिक व्यक्तियों से सम्बन्धित है, उसमें एक व्यक्ति साधु को देने की इच्छा रखता हो और दूसरे की इच्छा न हो तो वह दाता सम्बन्धी भावत: अपरिणत है। इसी प्रकार भिक्षार्थ गए दो मुनियों में एक मुनि ने देय वस्तु को एषणीय माना और दूसरे ने एषणीय नहीं माना, वह ग्राहक सम्बन्धी भावत: अपरिणत है अत: अकल्प्य है।[236]

टीकाकार मलयगिरि ने अनिसृष्ट और दातृभाव से अपरिणत का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनिसृष्ट में सामान्यत: दाता परोक्ष होता है लेकिन दातृभाव से अपरिणत में दाता समक्ष होता है। भिक्षा देने की असहमति दोनों की होती है।[237]

9. लिप्त (संसक्त) दोष

कच्चा दूध, दही आदि लेपकृत द्रव्य लेना लिप्त दोष कहलाता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार हरताल, खड़िया, मेनसिल, गीला आटा, अपक्व चावल आदि से लिप्त हाथ या पात्र द्वारा भिक्षा देना लिप्त दोष है।[238]

नियमत: मुनि को अलेपकृत आहार ग्रहण करना चहिए, इससे रसवृद्धि का प्रसंग नहीं आता है।

परिणाम– लेपकृत आहार लेने पर रस लोलुपता, पश्चात्कर्म आदि दोष लगते हैं। दही आदि से लिप्त हाथों को सचित्त जल से धोया जाए तो अप्कायिक जीवों की विराधना भी होती है।

अपवाद– उत्सर्गत: जैन साधु के लिए वाल, चना, भात आदि अलेपकृत भिक्षा ही निर्दोष है, किन्तु स्वाध्याय आदि पुष्ट कारणों से लेपकृत भिक्षा भी ली जा सकती है।

10. छर्दित (झरता हुआ) दोष

देय वस्तु को नीचे गिराते हुए देना अथवा जिसकी रसधार नीचे टपक रही हो, ऐसा पदार्थ भिक्षा रूप में प्रदान करना या ग्रहण करना, छर्दित दोष है।

1. संयोजना दोष

संयोजना का शाब्दिक अर्थ है सम्यक प्रकार से योजित करना, मिलाना। जैनाचार्यों के अनुसार आहारादि को स्वादिष्ट बनाने के लिए अन्य द्रव्यों का संयोग करना संयोजना दोष है। संयोजना दो प्रकार की होती है– द्रव्य और भाव। द्रव्य संयोजना के दो प्रकार हैं– बाह्य और आन्तरिक।

गृहस्थ के घर से प्राप्त किसी एक पदार्थ में अन्य स्वादवर्धक द्रव्यों को डलवाना या उनका संयोग करना बाह्य संयोजना है तथा उपाश्रय में भोजन करते समय जो संयोजना की जाती है, वह आंतरिक संयोजना है।

संयोजना के निम्न दो प्रकार भी हैं– (i) उपकरण विषयक (ii) भक्तपान विषयक।

(i) उपकरण संयोजना– उपकरण विषयक संयोजना भी बाह्य-आभ्यन्तर भेद से दो तरह की होती है जैसे- किसी के यहाँ सुन्दर चोलपट्टा मिल गया तो उसी समय अन्य के घर से श्रेष्ठ चादर मांगकर पहनना, उपकरण विषयक बाह्य संयोजना है। देह विभूषा के लिए उपाश्रय के अन्दर या बाहर सुन्दर चोलपट्टादि तैयार करवा कर पहनना, आभ्यन्तर संयोजना है।

(ii) भक्तपान संयोजना– भक्तपान विषयक संयोजना भी बाह्य-आभ्यन्तर भेद से दो तरह की होती है। दूध आदि द्रव्यों का स्वाद बढ़ाने हेतु गृहस्थ से शक्कर आदि डलवाना भक्तपान विषयक बाह्य संयोजना है।

आभ्यन्तर संयोजना तीन तरह की निर्दिष्ट है–

(i) पात्र विषयक – पात्र में रखी गई वस्तु के साथ घी या मिर्च मसाला आदि अन्य द्रव्य का मिश्रण करना, पात्र विषयक संयोजना दोष है।

(ii) कवल विषयक – हाथ में रहे हुए ग्रास के स्वाद की वृद्धि हेतु उसमें शर्करा, मुरब्बा, चटनी या अन्य द्रव्य का मिश्रण करना, कवल विषयक संयोजना दोष है।

(iii) मुख विषयक – मुँह में कवल लेने के पश्चात उसके स्वाद को बढ़ाने हेतु गुड़ आदि अन्य द्रव्यों को मुख में डालना, मुख विषयक संयोजना दोष है।[243]

पंचवस्तुक ग्रन्थ में आभ्यन्तर संयोजना के पात्र और मुख सम्बन्धी ऐसे दो भेद ही किये गये हैं।[244]

1. संयोजना दोष

संयोजना का शाब्दिक अर्थ है सम्यक प्रकार से योजित करना, मिलाना। जैनाचार्यों के अनुसार आहारादि को स्वादिष्ट बनाने के लिए अन्य द्रव्यों का संयोग करना संयोजना दोष है। संयोजना दो प्रकार की होती है– द्रव्य और भाव। द्रव्य संयोजना के दो प्रकार हैं– बाह्य और आन्तरिक।

गृहस्थ के घर से प्राप्त किसी एक पदार्थ में अन्य स्वादवर्धक द्रव्यों को डलवाना या उनका संयोग करना बाह्य संयोजना है तथा उपाश्रय में भोजन करते समय जो संयोजना की जाती है, वह आंतरिक संयोजना है।

संयोजना के निम्न दो प्रकार भी हैं– (i) उपकरण विषयक (ii) भक्तपान विषयक।

(i) उपकरण संयोजना– उपकरण विषयक संयोजना भी बाह्य-आभ्यन्तर भेद से दो तरह की होती है जैसे- किसी के यहाँ सुन्दर चोलपट्टा मिल गया तो उसी समय अन्य के घर से श्रेष्ठ चादर मांगकर पहनना, उपकरण विषयक बाह्य संयोजना है। देह विभूषा के लिए उपाश्रय के अन्दर या बाहर सुन्दर चोलपट्टादि तैयार करवा कर पहनना, आभ्यन्तर संयोजना है।

(ii) भक्तपान संयोजना– भक्तपान विषयक संयोजना भी बाह्य-आभ्यन्तर भेद से दो तरह की होती है। दूध आदि द्रव्यों का स्वाद बढ़ाने हेतु गृहस्थ से शक्कर आदि डलवाना भक्तपान विषयक बाह्य संयोजना है।

आभ्यन्तर संयोजना तीन तरह की निर्दिष्ट है–

(i) पात्र विषयक – पात्र में रखी गई वस्तु के साथ घी या मिर्च मसाला आदि अन्य द्रव्य का मिश्रण करना, पात्र विषयक संयोजना दोष है।

(ii) कवल विषयक – हाथ में रहे हुए ग्रास के स्वाद की वृद्धि हेतु उसमें शर्करा, मुरब्बा, चटनी या अन्य द्रव्य का मिश्रण करना, कवल विषयक संयोजना दोष है।

(iii) मुख विषयक – मुँह में कवल लेने के पश्चात उसके स्वाद को बढ़ाने हेतु गुड़ आदि अन्य द्रव्यों को मुख में डालना, मुख विषयक संयोजना दोष है।[243]

पंचवस्तुक ग्रन्थ में आभ्यन्तर संयोजना के पात्र और मुख सम्बन्धी ऐसे दो भेद ही किये गये हैं।[244]

रस आसक्तिपूर्वक द्रव्य संयोजना करते हुए अपनी आत्मा के साथ कर्मों की भी संयोजना करना भाव संयोजना है।[245]

अपवाद– यदि पर्याप्त आहार लेने के पश्चात घी आदि बच जाये और उस अवशेष सामग्री को उठाने के लिए उसमें शक्कर आदि मिश्रित की जाये तो संयोजना दोष नहीं लगता है। रुग्ण को स्वस्थ करने के लिए संयोजना करे, दीक्षित राजकुमार आदि या नूतन मुनि के लिए संयोजना करे तो दोष नहीं लगता। इस सम्बन्ध में भी आचार्य आदि का विवेक आवश्यक है।

परिणाम– स्वाद के लिए अनुकूल द्रव्यों की संयोजना कर उसका उपभोग करने पर आत्मा रसगृद्धि के अप्रशस्त भाव से युक्त होती है। इस संयोजना से कर्मबंधन होता है और कर्मबंधन से दुखद भव परम्परा बढ़ती है।[246]

2. प्रमाणातिरेक दोष

आसक्तिवश या अतृप्तिवश तीन बार से अधिक अति मात्रा में आहार करना प्रमाणातिरेक दोष है।[247] भगवतीसूत्र के अनुसार 32 कवल से अधिक आहार करना प्रमाणातिक्रान्त आहार है।[248]

पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार प्रमाणातिरेक दोष पाँच प्रकार से घटित होता है।[249]

1. प्रकाम– पुरुषों के लिए बत्तीस, स्त्रियों के लिए अट्ठाईस तथा नपुंसक के लिए चौबीस कवल आहार प्रमाणोपेत है। उससे अधिक आहार ग्रहण करना प्रकाम आहार है।

2. निकाम – प्रतिदिन प्रमाण से अधिक खाना निकाम आहार है।

3. प्रणीत – गरिष्ठ या अतिस्निग्ध आहार करना प्रणीत आहार है।

4. अतिबहुक– अपनी भूख से अधिक भोजन करना अतिबहुक आहार है।

5. अतिबहुशः – दिन में अनेक बार भोजन करना अतिबहुशः आहार है।

परिणाम– अधिक खाने या बार-बार खाने से भोजन पचता नहीं है तथा अपच की स्थिति में अतिसार, वमन आदि रोग और मृत्यु तक संभव है। इससे स्वाध्याय, ध्यान आदि साधना में भी प्रमाद आता है।[250]

3. स-अंगार दोष

आसक्ति या मूर्च्छा भाव से प्रासुक आहार पानी की अथवा दाता की प्रशंसा करते हुए उसका उपभोग करना अंगार दोष है।[251] जैसे अग्नि से जला हुआ कोयला धूम रहित होने पर अंगारा बन जाता है वैसे ही राग रूपी ईंधन के द्वारा चारित्र जल जाए तो वह अंगारे के समान मलीन हो जाता है।[252]

4. स-धूम दोष

नीरस या अप्रिय आहार की अथवा दाता की निंदा करते हुए खाना धूम दोष है।[253] जैसे धूएँ से आच्छादित चित्र सुशोभित नहीं होता, वैसे ही धूम दोष से युक्त मलिन चारित्र भी सुशोभित नहीं होता।[254]

परिणाम– आहार की प्रशंसा करने वाला मुनि चारित्र को अंगारे की भाँति दग्ध कर देता है तथा निन्दा करने वाला मुनि संयम धर्म को धूमिल कर देता है।

5. कारण दोष

निष्प्रयोजन आहार करना कारण दोष है। आगमों में आहार करने और न करने के छह-छह कारण बताये गये हैं। क्षुधा आदि छह कारणों के बिना आहार करना तथा आहार त्याग के छह कारणं उपस्थित होने पर भी आहार का परित्याग नहीं करना कारण दोष है।

आहार करने के प्रयोजन

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार जैन मुनि निम्न छह कारणों से आहार करें-

1. वेदना– भूख के समान कोई वेदना नहीं होती तथा उसे शान्त किये बिना संयम का पालन अशक्य हो जाता है अत: क्षुधा वेदना को शांत करने के लिए आहार करना चाहिए।

2. वैयावृत्य– गुरु एवं रोगी आदि की सेवा के लिए आहार करना चाहिए, क्योंकि भूखा साधु अच्छी तरह से वैयावृत्य नहीं कर सकता।

3. ईर्या समिति– ईर्यासमिति के प्रति जागरूक रहने के लिए आहार करना चाहिए।

4. संयम रक्षा– संयम की विधिवत अनुपालना करने के लिए आहार करना चाहिए।

5. प्राण वृत्ति– श्वासोश्वास आदि प्राणों को टिकाये रखने के लिए आहार करना चाहिए।

6. धर्म चिन्ता– स्वाध्याय, वाचना, धर्मध्यान आदि प्रवृत्तियों का सम्यक रूप से निर्वहन करने के लिए आहार करना चाहिए।

उत्कृष्ट कोटि की साधना पथ पर आरूढ़ हुआ मुनि आहार क्यों करे? इसका रहस्य उद्घाटित करते हुए आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि भूखा साधु

वैयावृत्य नहीं कर सकता, अशक्ति के कारण ईर्यापथ का शोधन नहीं कर सकता और प्रेक्षा-उपेक्षा आदि सतरह संयम स्थानों का अनुपालन भी नहीं कर सकता है। भूख के कारण प्राण शक्ति क्षीण हो जाती है जिसके फलस्वरूप भूखा साधु पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा भी नहीं कर सकता। इसलिए भोजन करना आवश्यक है।[255]

आहार न करने के प्रयोजन

जैनागमों के निर्देशानुसार निम्न छह कारणों के उपस्थित होने पर साधु-साध्वी आहार न करें–

1. आतंक– ज्वर आदि आकस्मिक बीमारी के उत्पन्न होने पर उसके निवारण हेतु।

2. उपसर्ग– देव, मनुष्य या तिर्यञ्चादि का उपसर्ग हो जाने पर।

3. ब्रह्मचर्य गुप्ति– ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए। कदाच किसी के द्वारा अपहरण कर लिया जाये तो आहार का त्याग कर देना चाहिए। अति स्निग्ध भोजन से वासना जगती है अत: वासना को शान्त करने के लिए आहार का त्याग करें।

4. प्राणिदया– वर्षा एवं ओस आदि में सूक्ष्म जीवों के प्राणों की रक्षा के लिए।

5. तप हेतु– तप साधना करने के लिए आहार का त्याग करें।

6. शरीर व्युत्सर्ग– शरीर का ममत्व कम करने के लिए अथवा संलेखना-अनशन आदि स्वीकार करने के लिए आहार का त्याग करें।

उपर्युक्त छह कारणों से आहार करता हुआ तथा आहार न करता हुआ मुनि धर्म की आराधना करता है जबकि देह पुष्टि, रस गृद्धि आदि कारणों से आहार करने वाला मुनि संयम धर्म से विमुख हो जाता है।[256]

भिक्षाचर्या के अन्य दोष

भिक्षाचर्या के जिन दोषों का वर्णन पिण्डनिर्युक्ति, पिण्डविशुद्धि, पंचवस्तुक आदि में उपलब्ध है उनसे अतिरिक्त भी यदि इस संदर्भ में खोज की जाए तो तत्सम्बन्धित अन्य अनेक दोष आगम एवं व्याख्या साहित्य में विकर्ण रूप से मिलते हैं। भगवतीसूत्र में भिक्षा सम्बन्धी निम्न चार दोषों का उल्लेख मिलता है–

1. क्षेत्रातिक्रान्त– सूर्योदय से पूर्व ग्रहण किए हुए आहार का सूर्योदय के पश्चात अथवा सूर्यास्त होने के पूर्व तक उपभोग करते रहना, क्षेत्रातिक्रान्त दोष है।

जैन मुनि के लिए यह उत्सर्ग नियम है कि वह रात्रि में न तो भोजन ग्रहण करें और न ही उसका उपभोग करें। सूर्योदय होने के बाद जब तक आवश्यक स्वाध्याय न कर लिया जाए तब तक भिक्षाटन नहीं करना चाहिए। यह मर्यादा आहार संयम के लिए अत्यन्त जरूरी है।

2. कालातिक्रान्त– दिन के प्रथम प्रहर में लाये हुए भोजन का चतुर्थ प्रहर में उपभोग करना, कालातिक्रान्त दोष है।

तीर्थंकर पुरुषों ने यह व्यवस्था बनाई है कि जैन भिक्षु तीन प्रहर से अधिक काल तक भोजन नहीं रख सकता है। दिन के प्रथम प्रहर का लिया हुआ आहार तृतीय प्रहर तक खा सकता है, यदि चतुर्थ प्रहर में खाए तो प्रायश्चित (दण्ड) आता है। यह नियम संग्रह वृत्ति को रोकने के लिए है। इस नियम के पीछे भिक्षा का पवित्र आदर्श भी रहा हुआ है। अधिक से अधिक मांगना और अधिक से अधिक काल तक संग्रह कर रखना साध्वाचार के सर्वथा विरुद्ध है।

3. मार्गातिक्रान्त– अर्ध योजन से अधिक दूर तक आहार लेकर जाना और उसका उपभोग करना, मार्गातिक्रान्त दोष है।

जैन मुनि के लिए यह नियम है कि वह अत्यन्त आवश्यक होने पर गृहीत आहार को अधिक से अधिक अर्ध योजन (दो कोस छह किलोमीटर) तक ले जा सकता है, इससे आगे नहीं। यह नियम भी संग्रह वृत्ति को रोकने और भोजन तृष्णा को घटाने के उद्देश्य से है। अन्यथा आहार आसक्त मुनि विहार यात्रा में मेवा-मिष्ठान्न आदि लेकर घूमता रहेगा।

4. प्रमाणातिक्रान्त– परिमाण से अधिक भोजन करना, प्रमाणातिक्रान्त दोष है।

जैन मुनि के लिए यह नियम है कि वह शरीर निर्वाह हेतु बत्तीस ग्रास से अधिक न खाये। यह नियम भिक्षाकाल के समय अधिक मांगने की प्रवृत्ति का निरोध करने एवं रस गृद्धि को मन्द करने के लिए है।[257]

शय्यातरपिण्ड– साधु को रहने के लिए स्थान देकर जो भव समुद्र को पार कर लेता है, वह शय्यातर कहलाता है। जिसके घर या फॉम हाउस आदि स्थान पर मुनि एक या अधिक रात ठहर जायें, उस मालिक का आहार

शय्यातरपिण्ड कहलाता है। वसति दाता किन स्थितियों में शय्यातर होता है? इससे संदर्भित विस्तृत चर्चा खण्ड-5 में की जा चुकी है। यहाँ आशय यह है कि मुनि को शय्यातर का आहार नहीं लेना चाहिए।

राजपिण्ड– प्रत्येक तीर्थंकरों के साधु-साध्वियों का यह आचार है कि उन्हें बिना अपवाद के राजा के निमित्त बनाया गया सरस और गरिष्ठ भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नित्याग्रपिण्ड– प्रतिदिन निमंत्रण पूर्वक एक घर से दी जाने वाली भिक्षा नित्याग्रपिण्ड कहलाती है। मुनि को नित्याग्र भिक्षा का सेवन नहीं करना चाहिए।

किमिच्छक – कौन क्या चाहता है, यह पूछकर दिया जाने वाला आहार किमिच्छक कहलाता है। दशवैकालिक सूत्र में इसे अनाचार के अन्तर्गत स्वीकार किया है। जैन मुनि को इस प्रकार का दूषित आहार प्राप्त नहीं करना चाहिए।

अग्रपिण्ड– गृहस्थ के घरों में गाय, कुत्ता या भिखारी को देने के लिए जितना आहार अलग से रखा जाता है वह अग्रपिण्ड कहलाता है। जैन मुनि के लिए अग्रपिण्ड लेने का निषेध है क्योंकि इससे गाय आदि के अंतराय का दोष लगता है।

बार्दलिका भक्त– वर्षा होने पर या गहरे बादल छाए रहने पर गृहस्थ द्वारा मुनि के लिए जो आहार तैयार किया जाता है, वह बार्दलिका भक्त कहलाता है। यह आहार मुनि के लिए दोषकारी है।

इसी तरह कान्तार भक्त (अटवी में साधु के निमित्त बनाया गया भोजन), प्राघूर्णक भक्त (अतिथि के निमित्त बनाया हुआ भोजन), ग्लान भक्त (रोगी के आरोग्य हेतु दिया जाने वाला आहार), निवेदना पिण्ड (मणिभद्र आदि देवताओं को अर्पित करने के उद्देश्य से निर्मित आहार), मृतक भोज (मरने के पश्चात बारहवें दिन किया जाने वाला भोज) आदि मुनि को ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्यथा कई दोषों की संभावनाएँ रहती है।

आहार शुद्धि के अभाव में लगने वाले दोष

श्रमण जीवन की प्रशस्त साधना हेतु आहार का निर्दोष होना परम आवश्यक है। दिगम्बर परम्परावर्ती मूलाचार में मुनि के मूलगुण और उत्तरगुण रूपी सभी योगों में भिक्षाचर्या को मूल योग कहा गया है। चारित्र, तप एवं संयम की पवित्रता आहार शुद्धि पर ही निर्भर है अत: आहार विवेक समग्र साधना का एक प्रधान अंग भी है। इसकी उपेक्षा करके साधना के किसी भी क्षेत्र में प्रगति करना असंभव है।[258]

मूलाचार में आहार शुद्धि पर बल देते हुए यहाँ तक कहा गया है कि परिमित और अध:कर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार प्रतिदिन ग्रहण करना भी श्रेष्ठ है किन्तु बेला, तेला, चार, पाँच, पन्द्रह या एक महीना आदि के उपवास करके पारणे के दिन सावद्य व्यापार से युक्त, महान आरम्भ से निष्पन्न और दाता को संक्लेश उत्पन्न करने वाला आहार लेना उचित नहीं है। यदि सदोष पारणा करके महान तप किया जाता है तो वह तप श्रेष्ठ नहीं कहलाता है क्योंकि उसमें हिंसा होती है।[259]

आचार्य वट्टकेर पूर्व विषय का प्रतिपादन करते हुए यह भी दर्शाते हैं कि जो मुनि आहार, उपकरण, वसति आदि की सम्यक गवेषणा किये बिना ही उन्हें ग्रहण करते हैं वे मुनित्व धर्म से च्युत हो जाते हैं।[260] इसी क्रम में आगे कहते हैं कि चिर दीक्षित मुनि यदि आहार आदि की शुद्धि के बिना तप करता है तो उसके चारित्र की शुद्धि नहीं होती है। अत: उसकी आवश्यक क्रियाएँ भी शुद्ध नहीं होती। वस्तुत: अहिंसा आदि मूलगुणों का घात करके आतापना आदि बाह्य योगों को धारण करने से चारित्र शुद्धि संभव नहीं है। तात्पर्य है कि मूलगुण रहित सभी बाह्य योग आध्यात्मिक उत्थान में हेतुभूत नहीं बन सकते यानी केवल उत्तर गुणों के परिपालन से कर्म निर्जरा नहीं होती है।[261]

मूलाचार में सदोष भिक्षा के विपरीत परिणाम बताते हुए कहा गया है कि जो अध:कर्म आदि के द्वारा अनेक त्रस-स्थावर जीवों का उपघात करके अपने शारीरिक बल के लिए सावद्य आहार ग्रहण करते हैं वे साधु उस तरह सुख की इच्छा करते हैं जिससे नरक आदि दुर्गतियों में परिभ्रमण करना पड़े, इससे उनका मोक्ष नहीं होता है।

सिंह या व्याघ्र द्वारा दो, तीन अथवा चार बार भी किसी प्राणी का भक्षण कर लिया जाये तो वह हिंसक या पापी कहलाता है तब फिर जो अध:कर्म के द्वारा असंख्य जीव समूह को नष्ट करके आहार लेते हैं वे नीच-अधम कैसे नहीं हैं? सामान्यत: आहार आदि पकाने में प्रत्यक्ष रूप से तो अन्य जीवों का हनन होता है किन्तु तत्वत: अपनी आत्मा का ही वध होता है। अन्य जीवों को कष्ट पहुँचाना फलत: स्वयं की आत्मा को दुर्गति के द्वार पर उपस्थित करना है।

जो मुनि कायोत्सर्ग करते है, मौन धारण करते हैं, वीरासन आदि अनेक उपायों से कायक्लेश करते हैं, उपवास, बेला आदि तप करते हैं किन्तु

अध:कर्म से निर्मित आहार ग्रहण करते हैं तो उनके सभी योग अनुष्ठान और उत्तरगुण निरर्थक ही है।

जिस प्रकार रौद्र सर्प कांचली को छोड़कर भी विष का त्याग नहीं करता है उसी प्रकार चारित्रधारी प्रमत्त मुनि भोजन आदि के लोभ से पंचसूना अर्थात खंडनी, मूसल, चक्की, चूल्हा, पानी भरना और बुहारी का त्याग नहीं करता है। यद्यपि चरित्रवान मुनि को इनसे सदैव भयभीत रहना चाहिए, क्योंकि इनसे जीव समूह का घात होता है।[262]

जो मुनि षट्काय के जीवों का घात करके अध:कर्म निर्मित आहार लेता है वह अज्ञानी, लोभी एवं रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ श्रमण, श्रमण नहीं रह जाता, बल्कि श्रावक हो जाता है। जो साधु जहाँ जैसा भी मिले वहाँ वैसा ही आहार आदि ग्रहण कर लेता है वह मुनि गुणों से रहित होकर संसार वृद्धि करता है। उसके इहलोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चारित्रहीन मुनि का श्रुतज्ञान भी निरर्थक हो जाता है। जैसे नेत्रहीन मनुष्य के लिए दीपक कुछ भी नहीं कर सकता वैसे ही चारित्र से हीन मुनि के लिए ज्ञान विशेष कुछ भी नहीं कर सकता है।[263]

सिद्धान्तत: परिणाम के निमित्त से शुद्धि होती है। आगम में कहा गया है कि जो साधु अध:कर्म के भाव से परिणत है वह प्रासुक आहार ग्रहण करने पर भी बन्धक कहा जाता है और शुद्ध आहार की गवेषणा करने वाला मुनि अध:कर्म से युक्त आहार लेने पर भी शुद्ध है किन्तु निर्दोष आहार को सदोष समझकर ग्रहण करने वाला बन्धक ही कहलाता है।

इस प्रकार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से शुद्ध परिणतिवान होकर भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

गोचरचर्या सम्बन्धी आलोचना में लगने वाले दोष

मुनि जीवन की आचार मर्यादा के अनुसार भिक्षाटन में लगे दोषों को गुरु के समक्ष कहना चाहिए। ओघनिर्युक्ति के मतानुसार आलोचना करते समय निम्न षड्विध दोषों की संभावनाएँ रहती है किन्तु भिक्षाचारी मुनि को निम्न दोषों से बचने का प्रयास करना चाहिए।[264]

1. **नृत्य–** हाथ, पैर, मस्तक आदि अंगों को नचाते हुए आलोचना करना।
2. **बल–** शरीर को मोड़ते हुए आलोचना करना।

3. चल– द्रव्यत: आलस्य मरोड़ते हुए आलोचना करना तथा भावत: प्राप्त अशुद्ध भिक्षा को प्रकट नहीं करना।

4. दुर्भाषण– गृहस्थ की भाषा में आलोचना करना।

5. मूक– अस्पष्ट उच्चारण पूर्वक आलोचना करना।

6. ढड्डुर– उच्च स्वर से आलोचना करना।

इन दोषों का वर्जन करते हुए आहार आदि जिस रूप में ग्रहण किया हो उसी रूप में गुरु से निवेदन करना उत्सर्ग आलोचना विधि है। उत्सर्ग आलोचना से कृत दोष नष्ट हो जाते हैं, संयम की रक्षा होती है और जिनाज्ञा का परिपालन होता है।

प्राचीन उक्ति है "जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन" मुनि जीवन में भाव शुद्धि का विशेष महत्त्व है। भाव शुद्ध होने के लिए आहार शुद्ध होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आगम शास्त्रों में मुनि को बयालीस दोषों से रहित आहार लेना का निर्देश इसी अपेक्षा से है। प्रस्तुत अध्याय आम जनता को इन दोषों से रूबरू करवाते हुए विशुद्ध मुनि चर्या के पालन में सहयोगी बनाएगा।

सन्दर्भ-सूची

1. *सर्वार्थसिद्धि, 2/30/320*
2. *पिण्डनिर्युक्ति, 85*
3. *(क) पंचाशक प्रकरण, 13/4*
   (ख) पंचवस्तुक, 740
4. *आहाकम्मुद्देसिय, पूतीकम्मे य मीसजाए य।*
   ठवणा पाहुडियाए, पाओयर कीय पामिच्चे॥
   परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालोहडे त्तिय।
   अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे॥
   (क) पिण्डनिर्युक्ति, 92-93
   (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 3-4
   (ग) पंचवस्तुक, 741-742
   (घ) पंचाशक प्रकरण, 13/5-6
   (च) प्रवचनसारोद्धार, 67/564-565

5. कोडिज्जंते जम्हा, बहवो दोसा उ सहियए गच्छं।
कोडित्ति तेण भण्णति।
जीतकल्पभाष्य, 1287
6. पिण्डनिर्युक्ति, 401
7. यद्दोषस्पृष्ट भक्ते, तावन्मात्रेऽपनीते सति शेषं कल्पते स दोषो विशोधिकोटि:, शेषस्त्व विशोधिकोटि:।
पिण्डनिर्युक्ति टीका पृ.116
8. पिण्डनिर्युक्ति, 393
9. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 117
10. पिण्डनिर्युक्ति, 97
11. भगवतीटीका, भा. 1, पृ. 102
12. सूयगडो, 1/10/8
13. (क) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 36
(ख) जीतकल्पभाष्य, 117
14. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 106 की टीका, पृ. 43
15. बृहत्कल्पभाष्य टीका, पृ.1142
16. पिण्डनिर्युक्ति, 183
17. नणु मुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से।
गिहिणा कडमा इयमो, तिगरणसुद्धस्स को दोसो॥
पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 26
18. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 185 की टीका, पृ. 69
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1184
19. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 186 की टीका, पृ. 69
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1185
20. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 188
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1188
21. पिण्डनिर्युक्ति, 191
22. पिण्डनिर्युक्ति, 194
23. भगवतीसूत्र, 1/9/26
24. वही, 1/1/3/1-4

25. भगवतीसूत्र (अंगसुत्ताणि-2), 5/139-145
26. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 3541 की टीका, पृ. 986
27. वही, गा. 5356-5658 की टीका, पृ. 1422-1423
28. वही, गा. 5359 की टीका, पृ. 1423
29. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 87
30. (क) उद्दिस्स कज्जइ तं उद्देसियं, साधु निमित्तं आरंभोत्ति वुत्तं भवति।
दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ. 111
(ख) उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः।
दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति, प. 116
(ग) उद्देशः यावदर्थिकादिप्रणिधानं तेन निर्वृत्तमौद्देशिकम्।
पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र 35
(घ) उद्देसिय साहुमादी ओमच्चए भिक्खवियरणं जं च।
पंचवस्तुक, 744
31. मूलाचार, 425
32. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 219
(ख) प्रवचनसारोद्धार, पृ. 267
33. पिण्डनिर्युक्ति, 220-221
34. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 228 की टीका, पृ. 79
35. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 77
36. वही, पृ. 77
37. वही, पृ. 77, 82
38. इन भेदों के विस्तार हेतु देखिए पिण्डनिर्युक्ति, गा. 232-237 की टीका, पृ. 80-81
39. (क) दशवैकालिकसूत्र, 10/4
(ख) सूयगडो, 1/9/14
40. पिण्डनिर्युक्ति, 243-244
41. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 83, यहाँ उद्गम दोष में आधाकर्म, औद्देशिक आदि अविशोधि कोटि का ग्रहण किया गया है।
42. अनगार धर्मामृत, 5/9 की टीका, पृ. 381
43. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 243
(ख) निशीथ भाष्य, 805-811

44. *पिण्डनिर्युक्ति, 253*
45. *वही, 254*
46. *वही, 249*
47. *वही, 268*
48. *निशीथ भाष्य, 806-807*
49. *निशीथ भाष्य में मूलगुण और उत्तरगुण के सात-सात भेद किए गए हैं। गृह-निर्माण में दो मूल वेली, दो धारणा और एक पृष्ठवंश- इन सात वस्तुओं का प्रयोग मूलगुण से सम्बन्धित होता है तथा बांस, कडण, ओकंपण, छत ढालना, लिपाई करना, द्वार लगाना और भूमिकर्म करना–ये सात चीजें उत्तरगुण से सम्बन्धित है। इनमें यदि छह प्रासुक हो और एक आधाकर्मिक हो तो भी पूतिदोष होता है।*

निशीथ भाष्य, 811 की चूर्णि पृ. 65

50. *सूयगडो, 1/1/60-63*
51. *निशीथचूर्णि, भा. 2 पृ. 66*
52. *मूलाचार, 429*
53. *पिण्डनिर्युक्ति, 272*
54. *वही, 273*
55. *वही, 273*
56. *वही, 274-75*
57. *स्थापनं साधुभ्यो देयमिति बुद्धया देयवस्तुनः ... व्यवस्थापनं स्थापना।*

पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35

58. *ठवणा भिक्खायरियाण ठविया उ।*

आवश्यकटीका, भा. 2, पृ. 57

59. *स्थाप्यते साधु निमित्तं कियन्तं कालं यावन्निधीयते इति स्थापना।*

प्रवचनसारोद्धार टीका पृ. 399

60. *मूलाचार, 430*
61. *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 277-279 की टीका, पृ.89-90*
62. *साधु का उत्कृष्ट चारित्र काल आठ वर्ष कम पूर्व कोटि जितना होता है। टीकाकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि कोई बालक आठ वर्ष की आयु में साधु बना, उसका आयुष्य यदि पूर्व कोटि प्रमाण है और उसने यदि पूर्व*

कोटि आयु वाली गृहिणी से घी की याचना की। उस समय किसी कारण से वह नहीं दे सकी, किन्तु बाद में उसने वह घी मुनि के दिवंगत न होने तक यथावत रखा तो उस स्थापित घी का काल देशोनपूर्वकोटि हो सकता है। दिवंगत होने पर वह घी स्थापना दोष से मुक्त हो जाता है।

पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 91

63. *पिण्डनिर्युक्ति, 281-82*
64. *जीतकल्पभाष्य, 1223*
65. *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 284 की टीका, पृ. 91*
66. *जीतकल्पभाष्य, 1221-1222*
67. *पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 47*
68. *कस्मैचिदिष्टाय पूज्याय वा बहुमान पुरस्सरी कारेण*
    यदभीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतमुच्यते। पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35
69. *प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 399*
70. *(क) वही, पृ 400-402*
    (ख) पंचाशक प्रकरण, 13/10
71. *पिण्डनिर्युक्ति, 288*
72. *पिण्डनिर्युक्ति, भाष्य 26, 27*
73. *पिण्डनिर्युक्ति, 289*
74. *वही, 286-87*
75. *मूलाचार, 433*
76. *पिण्डनिर्युक्ति, 291*
77. *मूलाचार टीका, पृ. 3240*
78. *नीयदुवारंधारे गवक्खकरणाइ पाउकरणं तु।*

    पंचवस्तुक, 747
79. *प्रकटत्वेन देयस्य वस्तुनः करणं प्रादुष्करणम्।*

    प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 402
80. *ईर्यापथदोषदर्शनादिति। मूलाचार टीका, पृ. 341*
81. *दशवैकालिकसूत्र, 5/1/20*
82. *कीतकडं जं किणिऊण दिज्जति।*

    (क) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ. 60

क्रीतं यत् साध्वर्थं मूल्येन परिगृहीतम्।

(ख) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35

(ग) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ 403

83. *क्रयणं-कीतं...साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं-निर्वर्तितं क्रीतकृतं।*
दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, पत्र 116

84. *(क) आचारचूला, 1/29*
(ख) सूयगडो, 1/9/14
(ग) स्थानांगसूत्र, 9/62
(घ) भगवतीसूत्र, 9/177
(ङ) दशवैकालिकसूत्र, 3/2

85. *बृहत्कल्पभाष्य, 4201-4202 की टीका, पृ. 1141*

86. *पिण्डनिर्युक्ति, 308*

87. *वही, 312*

88. *पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 97*

89. *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 309*
(ख) निशीथ भाष्य, 4477

90. *भगवई (अंगसुत्ताणि-2), 5/139-145*

91. *समणट्ठा उच्छिंदिय, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं।*

(क) पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 44

(ख) पिण्डनिर्युक्ति टीका पृ. 35

प्रामीत्यं साध्वर्थमुच्छिद्य दान लक्षणम्।

(ग) दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, पृ. 174

यत्साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यं प्रामित्यकं।

(घ) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 404

92. *मूलाचार टीका, पृ. 342*

93. *वही, पृ. 342*

94. *पिण्डनिर्युक्ति, 316*

95. *पल्लट्टिय जं दव्वं, तदन्नदव्वेहिं देइ साहूणं।*
.....तं परियट्टियमेत्थं।

(क) पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 45

परिवर्तितं यत् साधुनिमित्तं कृतपरावर्तम्।

(ख) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35

(ग) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 405

96. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 323 की टीका, पृ. 100
97. वही, पृ. 100
98. पिण्डनिर्युक्ति, 327
99. अभिहडं जं अभिमुहमाणीतं उवस्सए आणेऊण दिण्णं।

(क) दशवैकालिक अगस्त्यचूर्णि, पृ.60

अभिहृतं–यत् साधुदानाय स्वग्रामात् परग्रामाद्वा समानीतम्।

(ख) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35

100. सूयगडो, 1/9/14
101. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 67/पृ. 273
102. छण्ण णिसीहं भण्णति, पगडं पुण होति णोणिसीहं ति।

जीतकल्पभाष्य, 1250

103. प्रवचनसारोद्धार टीका, 140-141
104. पिण्डनिर्युक्ति, 334-35
105. पिण्डनिर्युक्ति-सानुवाद, पृ. 80-81
106. मूलाचार, 438-440 टीका, पृ. 343
107. जउछगणाइविलित्तं, उब्भिंदिय देइ जं तमुब्भिन्नं

(क) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 48

पिहिदं लंछिदयं वा, ओसह घिद सक्करादि जं दव्वं।
उब्भिण्णिऊण देयं, उब्भिण्णं होदि णादव्वं।।

(ख) मूलाचार, 441

108. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 351-53

(ख) जीतकल्पभाष्य, 1263

109. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 355

(ख) जीतकल्पभाष्य, 1267

110. मालात् मंचादेरपहृतं साध्वर्थमानीतं यद्भक्तादि तन्मालापहृतं।

(क) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35

मालोहडं तु भणियं, जं मालाईहिं देइ घेत्तूणं।

(ख) पंचवस्तुक, 750

111. मूलाचार, 442
112. अनगार धर्मामृत, 5/6
113. पिण्डनिर्युक्ति, 357 की टीका, पृ. 108
114. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 363
    (ख) जीतकल्पभाष्य, 1270
    (ग) निशीथभाष्य, 5949 में तिर्यक के स्थान पर उभयतः भेद का उल्लेख मिलता है।
115. जीतकल्पभाष्य, 1270
116. पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, प. 45
117. पिण्डनिर्युक्ति, 364
118. पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, प. 45 46
119. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 361-62
    (ख) दशवैकालिकसूत्र, 5/1/67-69
120. आच्छिद्यते-अनिच्छतोऽपि भृतक-
    पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय परिगृह्यते यत् तदाच्छेद्यम्।
    (क) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 35
    अच्छिंदिय अन्नेसिं, बलावि जं देंति सामिपहुतेणा तं अच्छेज्जं।
    (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 50
    (ग) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 412
121. मूलाचार, 443
122. पिण्डनिर्युक्ति, 371
123. वही, 374
124. वही, 373-74
125. वही, 374
126. दिण्णं तु जाणसु निसट्ठं।
    बृहत्कल्पभाष्य, 365, टीका पृ. 1016
127. स्थानांग टीका, पृ. 311
128. (क) जीतकल्पभाष्य, 1275
    (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 51

129. पिण्डनिर्युक्ति, 383
130. जीतकल्पभाष्य, 1276
131. पिण्डनिर्युक्ति, 381
132. वही, 383
133. परिछिण्णं चिय दिज्जति, एसो छिण्णो मुणेतव्वो।
जीतकल्प भाष्य, 1277
134. यदा तु सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेषयति तदा सोऽच्छिन्नः।
पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 114
135. (क) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 115
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1282
136. अनगार धर्मामृत, 5/15 टीका, पृ. 386
137. (क) मूलाचार, 427 टीका, पृ. 336
(ख) अनगार धर्मामृत, 5/8
138. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 388
(ख) प्रवचनसारोद्धार, पृ. 278
139. पिण्डनिर्युक्ति, 389 की टीका, पृ. 116
140. मूलाचार टीका, पृ. 331
141. अनगार धर्मामृत, 5/5,6
142. उप्पायण संपायण, निव्वत्तणमो य होंति एगट्ठा।
आहारस्सिह पगया, तीए दोसा इमे होंति॥
(क) पंचाशक प्रकरण, 13/17
(ख) पंचवस्तुक, 753
143. पिण्डनिर्युक्ति, 405-406 टीका, पृ. 119-120
144. जीतकल्प भाष्य, 1317
145. पिण्डनिर्युक्ति, 407
146. धाई दूती निमित्ते, आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया, लोभे य भवंति दस एते॥
पुव्विं पच्छा संथव, विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।

उप्पायणाय दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य ॥

(क) पिण्डनिर्युक्ति, 408-409

(ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 58-59

(ग) पंचवस्तुक, 754-755

(घ) पंचाशक प्रकरण, 13/18-19

(च) प्रवचनसारोद्धार, 566-567

147. *पंचविध धादिकम्मेणुप्पादो धादि दोसो दु।*

मूलाचार, 447

148. *पिण्डनिर्युक्ति, 411*

149. *(क) ज्ञाताधर्मकथा, 1/1/82*

(ख) राजप्रश्नीय, 804

(ग) पिण्डनिर्युक्ति, 410

150. *अनगार धर्मामृत, 5/20*

151. *पिण्डनिर्युक्ति, गा 428-429 की टीका, पृ. 126*

152. *मूलाचार में व्यंजन, अंग, स्वर आदि अष्टविध निमित्तों का उल्लेख है।*

मूलाचार, 449

153. *अनगार धर्मामृत, 5/21*

154. *मनुस्मृति, 6/50*

155. *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 435 की टीका, पृ. 128*

156. *निशीथभाष्य, 2689-92 चूर्णि, पृ. 18-19*

157. *पिण्डनिर्युक्ति, 437*

158. *मूलाचार, 450*

159. *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 444*

(ख) जीतकल्पभाष्य, 1365

160. *आठ चिकित्सा के नाम इस प्रकार हैं -*

1. कौमार चिकित्सा 2. तनु चिकित्सा 3. रसायन चिकित्सा 4. विष चिकित्सा 5. भूत चिकित्सा 6. क्षारतंत्र चिकित्सा 7. शालाकिक चिकित्सा (शलाका द्वारा आँख आदि खोलना) 8. शल्य चिकित्सा।

(क) मूलाचार, 452

(ख) स्थानांग सूत्र, 8/26

161. अनगार धर्मामृत, 5/25
162. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 460 की टीका, पृ. 133
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1392
163. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 462
(ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 67
164. वही, 463
165. वही, 464
166. वही, 473
167. पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 59
168. पिण्डनिर्युक्ति, 481
169. पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 71
170. निशीथ भाष्य, 1025-49 की चूर्णि, पृ. 108-113
171. पिण्डनिर्युक्ति, 490
172. (क) वही, 492-493
(ख) मूलाचार, 456
173. (क) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 72
(ख) पिण्डनिर्युक्ति, 486
174. (क) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 72
(ख) पिण्डनिर्युक्ति, 488
175. ससाधना स्त्रीरूपदेवताधिष्ठिता वाऽक्षरपद्धतिर्विद्या।
(क) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 141
साधनेन जपहोमाद्युपचारेण युक्ता समन्विता अक्षरपद्धतिः साधनयुक्ता विद्या।
(ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 66
176. विज्जा साधितसिद्धा, तिस्से आसापदाणकरणोहिं।
तस्से माहप्पेण य, विज्जादोसो दु उप्पादो॥
मूलाचार, 457
177. पिण्डनिर्युक्ति, 497
178. मंतो पुण पढियसिद्धो तु।
(क) जीतकल्प भाष्य, 1438
(ख) पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 141

179. मूलाचार, 458

180. पिण्डनिर्युक्ति, 499

181. आहारदायगाणं, विज्जा मंतेहिं देवदाणं तु।
आहूय साधिदव्वा, विज्जामंतो हवे दोसो॥
मूलाचार, 459

182. चूर्णः औषध द्रव्यसंकरक्षोदः–अनेक औषधियों के मिश्रण को चूर्ण कहते हैं।
पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 73

183. पिण्डविशुद्धि प्रकरण टीका, पृ. 40

184. एवं वसिकरणादिसु, चुण्णेसु वसीकरेत्तु जो तु परं।
उप्पाएती पिंडं, सो होती चुण्णपिंडो तु॥
जीतकल्प भाष्य, 1456

185. नेत्तस्संजणचुण्णं, भूसणचुण्णं च गत्तसोभयरं।
चुण्णं तेणुप्पादो, चुण्णयदोसो हवदि एसो॥
मूलाचार, 460

186. पिण्डनिर्युक्ति, 502 मलयगिरि टीका– पृ. 143

187. गब्भपरिसाडणाइ व, पिंडत्थं कुणइ मूलकम्मं तु।
(क) पिण्डनिर्युक्ति 502, मलयगिरि टीका, पृ. 143
(ख) पंचवस्तुक, 760

188. मंगलमूलीण्हवणाइ, गब्भवीवाह करण घायाई।
भववण मूलं कम्मं, ति मूलकम्मं महापावं॥
पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 75

189. मूलाचार, 461

190. अनगार धर्मामृत, 5/19

191. पिण्डनिर्युक्ति, 513

192. एसण गवेसणऽण्णेसणा य, गहणं च होंति एगट्ठा।
पंचवस्तुक, 761

193. पिण्डनिर्युक्ति, 514-15

194. संकिय मक्खिय निक्खित्त, पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय, एसण दोसा दस हवंति॥
(क) पिण्डनिर्युक्ति, 520
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1476
(ग) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 72
(घ) पंचवस्तुक, 762
(च) पंचाशक प्रकरण, 13/26
(छ) प्रवचनसारोद्धार, 568

195. (क) मूलाचार, 463
(ख) आधाकर्मादिदोषवत्तया आरेकितस्य भक्तादेर्ग्रहणं स्वीकारः शंकितग्रहणम्।
पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका पृ. 71
(ग) शंकितं सम्भाविताधाकर्मादिदोषम्।
प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 432

196. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/44

197. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 521
(ख) जीतकल्प भाष्य, 1477-1478

198. पिण्डनिर्युक्ति, 525

199. मूलाचार, 464

200. (क) समवायो, 20/1
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध, 1/3

201. प्रक्षिप्तं सचित्तपृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितम्।
पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीका, पृ. 147

202. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 532
(ख) जीतकल्प भाष्य, 1491

203. वही, 534, वही, 1494

204. वही, 537

205. मूलाचार, 465

206. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/59, 61-62

207. पिण्डनिर्युक्ति, 543

208. वही, 549-551 की टीका, पृ. 152-53
209. वही, 544
210. सच्चित्तेण व पिहिदं, अथवा अचित्तगुरुगपिहिदं च।
तं छंडिय जं देयं, पिहिदं तं होदि बोधव्वो ॥
(क) मूलाचार, 466
सचित्तेन स्थगितम्।
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 436
211. पिण्डनिर्युक्ति, 558 की मलयगिरि टीका, पृ. 154
212. वही, 561 / वही, 155
213. मत्तगगयं अजोग्गं, पुढवाइसु छोदु देइ साहरियं।
(क) पंचवस्तुक, 764
(ख) पिण्डनिर्युक्ति, 565
अन्यत्र प्रक्षिप्तम्।
(ग) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 437
214. मूलाचार, 467
215. अनगार धर्मामृत, 5/33
216. पिण्डनिर्युक्ति, 564
217. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृ. 165
218. पिण्डनिर्युक्ति, 572-77
219. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/29, 40, 42,43
220. (क) ओघनिर्युक्ति, 467-468,
(ख) पंचाशक प्रकरण, 13-28
221. मूलाचार, 468-71
222. प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 151-153
223. पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 85-88
224. अनगार धर्मामृत, 5/34
225. पिण्डनिर्युक्ति, 597-604
226. उन्मिश्रं सचित्त सम्मिश्रम्।
प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 446

227. जोग्गमजोग्गं च दुवे, वि मीसिउं देइं तमुम्मीसं।
पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 89

228. पुढवी आऊ य तहा, हरिदा बीया तसा य सज्जीवा।
पंचेहिं तेहिं मिस्सं, आहारं होदि उम्मिस्सं ॥
मूलाचार, 472

229. अनगार धर्मामृत, 5/28, 5/36

230. पिण्डनिर्युक्ति, 608

231. वही, गा. 607 की टीका, पृ. 165

232. अपरिणतम् अप्रासुकी भूतम्।
(क) पिण्डविशुद्धि प्रकरण, 90
(ख) प्रवचनसारोद्धार टीका, पृ. 447

233. दशवैकालिकसूत्र, 3/7

234. मूलाचार, 473

235. पिण्डनिर्युक्ति, 610

236. पिण्डनिर्युक्ति, 611-612

237. पिण्डनिर्युक्ति की टीका, पृ. 166

238. (क) मूलाचार, 474
(ख) अनगार धर्मामृत, 5/35

239. चारित्रसार, 72/1

240. मूलाचार, 475

241. अनगार धर्मामृत, 5/31

242. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 635
(ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 94
(ग) पंचाशक प्रकरण, 13/48-49
(घ) प्रवचनसारोद्धार, 734-736 की टीका

243. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 637 की टीका, पृ. 172
(ख) बृहत्कल्पभाष्य टीका, पृ. 239

244. पंचवस्तुक, 359

245. पिण्डनिर्युक्ति, 639
246. वही, 639
247. जीतकल्प भाष्य, 1628-1629
248. भगवई (अंगसुत्ताणि), 2, 7/24
249. पिण्डनिर्युक्ति, 644
250. वही, 646
251. (क) वही, 655,
    (ख) भगवई, 7/22
    (ग) मूलाचार, 477
252. जीतकल्पभाष्य, 1646
253. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 655
    (ख) भगवई, 7/22
254. जीतकल्प भाष्य, 1650
255. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/32
    (ख) पिण्डनिर्युक्ति, 662-664
256. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 26/34
    (ख) पिण्डनिर्युक्ति, 666-668
257. भगवतीसूत्र, 7/1/19
258. मूलाचार, 10/939 की टीका
259. वही, 9/940 की टीका
260. वही, 10/918 की टीका
261. वही, 10/919-20 की टीका
262. वही, 10/921-23 की टीका
263. वही, 10/924-928 की टीका
264. ओघनिर्युक्ति, 516

●

अध्याय-5

भिक्षाचर्या की विधि एवं उपविधियाँ

आहार शरीर की मूलभूत आवश्यकता है। तीन प्रकार के आहारों में से संसारी जीव प्रति समय कोई न कोई आहार ग्रहण करता रहता है। रोमाहार और ओजाहार एक स्वसंचालित (Automatic) क्रिया है जबकि कवलाहार के लिए जीव को प्रयास करना पड़ता है।

संत साधक भी शरीर को साधना में सहयोगी रखने हेतु आहार की गवेषणा करते हैं। साधु के द्वारा कैसा आहार ग्रहण किया जाए? आहार प्राप्ति के लिए मुनि किस प्रकार गमन करें? शुद्ध आहार की प्राप्ति कैसे की जाए? आहार ग्रहण में लगे दोषों की आलोचना कितनी बार करें? आदि विषय उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं भिक्षा विधियों का निरूपण किया जा रहा है।

भिक्षागमन से पूर्व करने की विधि

आचार्य हरिभद्रसूरि के निर्देशानुसार जब भिक्षाकाल समुपस्थित हो जाये तब भिक्षाटन करने वाला मुनि सर्वप्रथम शारीरिक आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त बने। फिर पात्र और मात्रक इन दो उपकरणों और डंडे को लेकर गुरु के समीप खड़ा हो जाये। तत्पश्चात चित्त की एकाग्रता पूर्वक गुर्वानुमति लेते हुए उपयोग क्रिया करे। उपयोग (सजग रहने) की विधि यह है–

भिक्षाटन करने वाला शिष्य गुरु से कहे– **'संदिसह उवओगं करेमो'** मुझे आदेश दीजिये– मैं उपयोग करूं यानी सजग रहूं। तब गुरु **'करेह'** ऐसा कहकर आज्ञा दें। फिर शिष्य एक खमासमण देकर **'उवओग करावणिअं करेमि काउसग्गं' पूर्वक अन्नत्थसूत्र** बोलकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में एक नमस्कार महामंत्र का चिंतन करे।[1]

❁ आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपयोग के निमित्त किए जाने वाले कायोत्सर्ग के सम्बन्ध में दो मतान्तर बतलाए हैं। एक मत के अनुसार इस कायोत्सर्ग में नमस्कार मंत्र के स्मरण पूर्वक जिस तरह का आहार आदि लाना हो उसका भी चिन्तन करें, क्योंकि भिक्षाचर्या के पूर्व इस विषयक विचार किए बिना कुछ भी

ग्रहण करने का विधान नहीं है। नियमत: भिक्षाटक मुनि द्वारा आहार आदि का अभिग्रह न लिया जाए तब तक उनके लिए कुछ भी ग्रहण करना वर्जित माना गया है।

❁ दूसरे मत के आचार्यों का कहना है कि उपयोग के कायोत्सर्ग में भिक्षाचारी मुनि को इस तरह धर्म योग का चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं गुरु-बाल-वृद्ध-नवदीक्षित आदि के लिए भी अमुक-अमुक आहार लाऊंगा, केवल मेरे लिए ही नहीं' इस प्रकार वैयावृत्य की भावना पूर्वक चिन्तन करके कायोत्सर्ग पूर्ण करें।

फिर प्रकट में नमस्कार मंत्र बोलें। फिर अर्धावनत होकर गुरु से निवेदन करे-**'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्'** हे भगवन्! आज्ञा दीजिए। तब गुरु-उपयोग पूर्वक कहें- **'लाभ'** अर्थात यह काल उचित, अनुकूल एवं बाधा रहित होने से तुम्हें आहार का लाभ हो।

तत्पश्चात विशेष रूप से विनम्र होकर भिक्षाग्राही मुनि गुरु भगवन्त से पूछे-**'कह लेसहं?'** आहार को किस प्रकार ग्रहण किया जाए? तब गुरु कहें- **'जह गहिअं पुव्वसाहूहिं'** जिस प्रकार पूर्व काल के साधुओं द्वारा निर्दोष आहार ग्रहण किया गया उसी प्रकार तुम्हें भी निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।

इससे सूचित होता है कि योग्य गुरु शिष्यों को गीतार्थ साधुओं के समान आचरण करने का शिक्षण देते हैं। तदनन्तर भिक्षाग्राही मुनि **'जस्स य जोगो'** कहकर आवस्सही कहते हुए उपाश्रय से निकले।

समीक्षा– जैन भिक्षा की विधि ओघनिर्युक्ति, पंचवस्तुक एवं यतिदिनचर्या में प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान में पंचवस्तुक वर्णित विधि विशेष रूप से प्रचलित है अत: यहाँ इसी ग्रन्थ का अनुकरण किया गया है।

तुलना की दृष्टि से देखा जाए तो ओघनिर्युक्ति भाष्य में उपयोग क्रिया को चार स्थानों में विभक्त किया है 1. 'संदिसह उवओगं करेमि' इतना गुरु से पूछना प्रथम स्थान है। 2. फिर एक नमस्कार मन्त्र का कायोत्सर्ग कर 'संदिसह' शब्द पूर्वक आहार चर्या की अनुमति लेना, गुरु द्वारा 'लाभ' कहकर अनुमति देना और शिष्य द्वारा 'कह लेसहं' इत्यादि पूछना दूसरा स्थान है। 3. फिर गुरु द्वारा 'जह गहियं पुव्व साहूहिं' कहने पर 'आवस्सियाए' कहना तीसरा स्थान है और 4. 'जस्स य जोगो' कहना चौथा स्थान है। उक्त चारों स्थान गुरु की अनुज्ञा प्राप्त करने सम्बन्धी है।[2]

यतिदिनचर्या में कहा गया है कि जब भिक्षा का समय हो जाये तब गुरु को वन्दन कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करे। उसके बाद एक खमासमण पूर्वक 'हे भगवन्! प्रतिलेखना के स्थान पर पात्रों को रखूं?' इस तरह गुर्वानुमति पूर्वक पात्रोपकरण का प्रतिलेखन करें। फिर पात्र को झोली में रखकर गुरु के समक्ष उपयोग क्रिया करें।[3]

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि उपयोग की मूल विधि के सम्बन्ध में सभी ग्रन्थकार एकमत हैं केवल उससे पूर्व की प्रक्रिया में सामाचारी भेद है।

वर्तमान सामाचारी के अनुसार बाल-ग्लान-वृद्ध आदि सभी साधुओं के अनुग्रह (भक्ति) के लिए प्रभात काल में ही उपयोग का कायोत्सर्ग कर लेते हैं। उत्सर्गत: यह विधि अपराह्न काल में भिक्षागमन से पूर्व की जानी चाहिए, अपवादत: यह विधि प्रात:काल में करने का भी निर्देश हैं क्योंकि रोगी आदि की सेवा के लिए प्रात: भिक्षार्थ जाना पड़ सकता है।

भिक्षा गमन विधि

यतिदिनचर्या में भिक्षा गमन विधि को उपदर्शित करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम गुरु के सम्मुख पूर्व निर्दिष्ट उपयोग क्रिया करें। उसके बाद गौतम स्वामी का स्मरण करते हुए धीरे से दंडे को हाथ में लें। पात्र पहले से ही हाथ में लिए हुए होते हैं अत: डंडे को लेकर उपाश्रय के द्वार के समीप खड़े हो जायें। फिर अंगुलियों द्वारा नासिका से बह रही वायु का निरीक्षण करें। जिस नासिका में से वायु बह रहा हो उस तरफ का कदम उठाते हुए भिक्षा हेतु प्रस्थान करें। जब तक आहार प्राप्त न हो तब तक डंडे को भूमि से ऊपर रखें यानी भूमि पर टिकाए नहीं।[4]

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार भिक्षा इच्छुक मुनि आहार आदि के प्रति अनासक्त भाव रखते हुए, आहार सम्बन्धी बियालीस दोषों को टालते हुए, द्रव्यादि चार अभिग्रह को धारण करते हुए और एक मात्र मोक्ष की साधना का लक्ष्य रखते हुए भिक्षा हेतु परिभ्रमण करें। भिक्षाटन करते समय शंकित आदि दोष न लग जाये, उसका पूरा उपयोग रखें। इस तरह सर्वसंपत्करी भिक्षा ग्रहण करके वसति में प्रवेश करें।[5]

धर्मसंग्रह के अनुसार यदि मुनि निकटवर्ती दूसरे गाँव में भिक्षा हेतु जाये तो वहाँ निम्न विधि का पालन करें–

सर्वप्रथम गाँव के बाहर रुककर किसी से भिक्षा का समय पूछे। यदि समय हो गया हो तो उसी समय पाँवों का प्रमार्जन करें। फिर पात्रों का निरीक्षण करके गाँव में प्रवेश करें। यदि भिक्षा काल में देरी हो तो उतना विलम्ब करके प्रवेश करें। गाँव में प्रविष्ट होकर यह जानकारी प्राप्त करें कि यहाँ कोई साधु हैं या नहीं? यदि उस गाँव में साधु हों तो उनके स्थान पर जायें। यदि समान सामाचारी वाले साधु हों तो उस वसति में लिए हुए उपकरण सहित प्रवेश करें और वहाँ आचार्य आदि हों तो द्वादशावर्त्त वन्दन करें। यदि भिन्न सामाचारी वाले हों तो उपकरण बाहर रखकर उपाश्रय में प्रवेश करें और वन्दन करें। यदि शिथिलाचारी हों तो बाहर खड़े ही सुखपृच्छा करें। स्वयं के आने का कारण बतायें और गृहस्थ आदि के घरों की जानकारी लें। रूके हुए साधु भी विवेक पूर्वक घरों का संकेत करें।[6]

दिगम्बर मुनि की भिक्षा गमन विधि

आचार्य वट्टकेर ने दिगम्बर मुनि की भिक्षा गमन विधि का उल्लेख करते हुए कहा है– जब सूर्योदय से दो घड़ी जितना काल पूर्ण हो जाए तब मुनि देववन्दन करें, फिर श्रुत भक्ति और गुरु भक्ति पूर्वक स्वाध्याय स्वीकार करके शास्त्र-ग्रन्थों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा आदि करें तथा मध्याह्न काल से दो घड़ी पूर्व ही श्रुत भक्ति पूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर दें।

तदनन्तर वसति से दूर जाकर पाँच समिति पूर्वक मल-मूत्र आदि का विसर्जन करें और हाथ-पाँवादि का प्रक्षालन करें। उसके बाद मध्याह्न काल की अवशेष दो घड़ी में देववन्दन और सामायिक करें। फिर योग्य वेला ज्ञातकर कमण्डलू और पिच्छिका लेते हुए आहार के लिए प्रस्थान करें।[7]

विजयोदया टीका में भी यही कहा गया है कि मुनि भिक्षा और क्षुधा काल को जानकर, संकल्प पूर्वक गाँव-नगरादि में प्रवेश करें। भिक्षार्थ गमन करते हुए स्वयं का आगमन बतलाने के लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करें, केवल बिजली की तरह अपना शरीर मात्र दिखलायें।[8]

उस समय चलते हुए न अधिक जल्दी-जल्दी, न अधिक धीरे-धीरे और न ही विलम्ब करते हुए चलें। धनी और निर्धन आदि के घरों का भेद भाव न करें। मार्ग में किसी से बात न करें और न ही ठहरें। नीच कुलों के घरों में प्रवेश न करें, शुद्ध कुलों में भी सूतक, पातक आदि के घरों में न जाएं। द्वारपाल आदि रोके तो प्रवेश न करें, भिक्षा लेते समय स्त्रियों की ओर आसक्ति पूर्वक न देखें।[9]

गोचरचर्या के पश्चात उपाश्रय में आकर करने योग्य विधि

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित पंचवस्तुक के निर्देशानुसार भिक्षाचरी मुनि को अनुज्ञापित स्थान में आकर क्रमशः निम्न क्रियाएँ करनी चाहिए–

पाद प्रमार्जन– भिक्षाचर्या से उपाश्रय की ओर लौटते हुए वसति की बहिर्भूमि पर रजोहरण द्वारा पैरों का प्रमार्जन करें।

तीन निसीहि– तदनन्तर उपाश्रय के अग्र द्वार, मध्य स्थान एवं प्रवेश द्वार इन तीन स्थानों पर तीन बार 'निसीहि' शब्द बोलें।

अंजलिकरण– उसके पश्चात मस्तक झुकाते हुए गुरु या ज्येष्ठ मुनि को कायिक नमस्कार करें तथा अर्धावनत मुद्रा में 'नमो खमासमणाणं' शब्द का उच्चारण करते हुए वाचिक नमस्कार करें। यदि पात्र भारी हों तो केवल मस्तक झुकाकर ही वन्दन करें।

उपधि निक्षेप– तत्पश्चात डंडा रखने के लिए उस स्थान के ऊर्ध्व भाग एवं अधोभाग की दृष्टि प्रतिलेखना और रजोहरण से प्रमार्जना करें झोली आदि को पात्र के ऊपर ढकें तथा कंबली और चोलपट्ट को उपधि के ऊपर रखें।

प्राचीन सामाचारी के अनुसार पूर्व काल के मुनि चोलपट्ट को समीप लेकर बैठते थे, बाहर जाते समय अथवा गृहस्थों के आगमन आदि कारणों के उपस्थित होने पर उसे पहनते थे। वर्तमान में यह प्रथा नहीं है। व्यवहारतः सर्वथा वस्त्र रहित रहना लोक विरूद्ध है परंतु शरीर की शोभा के लिए वस्त्र का उपयोग करना असंयम रूप है।

यदि उपाश्रय में प्रवेश करते समय लघुनीति की शंका हो रही हो तो झोली, पात्र, पलड़ा आदि अन्य साधु को सौंपकर चोलपट्ट पहने हुए ही लघु शंका का निवारण करें। फिर विशुद्ध परिणामी होकर गुरु के समीप जायें। वहाँ योग्य स्थान को चक्षु द्वारा प्रतिलेखित करें और रजोहरण द्वारा उसे प्रमार्जित करें।

आलोचना– फिर संवेग परिणाम से युक्त होकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें तथा कायोत्सर्ग में भिक्षाचर्या सम्बन्धी दोषों का स्मरण कर उनकी सामान्य शुद्धि करें।[10]

भिक्षा सम्बन्धी आलोचना विधि

कायोत्सर्ग मुद्रा– पूर्वनिर्दिष्ट सामाचारी के अनुसार भिक्षाग्राही मुनि अतिचारों की आलोचना कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर करें। कायोत्सर्ग मुद्रा इस प्रकार की हो–

कायोत्सर्ग करते समय चोलपट्टा घुटने से चार अंगुल ऊपर और नाभि से चार अंगुल नीचे रहे, दोनों हाथों को इस तरह लम्बा करके रखें कि चोलपट्टा दोनों कोहनियों के नीचे दब सके, बायें हाथ में मुखवस्त्रिका और दायें हाथ में रजोहरण को ग्रहण करके रखें तथा दोनों पाँवों के अग्रभाग में चार अंगुल की दूरी एवं पीछे भाग में चार अंगुल से कुछ कम की दूरी रहे।[11]

कायोत्सर्ग चिन्तन– इस कायोत्सर्ग मुद्रा में तल्लीन हुआ साधु भिक्षा में लगने वाले अतिचारों का चिन्तन करें तथा उसमें लगे दोषों को मन में धारण करके रखें क्योंकि उन दोषों की आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह भी कहा है कि गृहीत भिक्षा में लगने वाले दोषों का चिन्तन आसेवना और आलोचना इन दो पदों के चार विकल्पों सहित करें। स्पष्ट है कि अगीतार्थ मुनि हो तो जिस क्रम से अतिचार लगे हों उस क्रम से उनका स्मरण करें और गीतार्थ मुनि हो तो पहले अल्प प्रायश्चित्त वाले, फिर उत्तरोत्तर अधिक प्रायश्चित्त वाले इस तरह प्रायश्चित्त क्रम से अतिचारों का चिन्तन करें और उस क्रम से ही मन में अवधारित करें। इस तरह समस्त दोषों का चिंतन कर 'नमो अरिहंताणं' कहकर कायोत्सर्ग पूर्ण करें। फिर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। उसके बाद गुरु के समीप जाकर शास्त्रोक्त विधि पूर्वक भिक्षा में लगे दोषों का निवेदन करें।[12]

कायोत्सर्ग सम्बन्धी विशेष समझ– यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि यदि किसी मुनि ने आहार लाने के बाद किन्तु ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने से पूर्व लघु शंका का निवारण किया हो तो उसके निमित्त किये जाने वाले ईर्यापथिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में भी भिक्षा सम्बन्धी दोषों का चिन्तन किया जा सकता है। चूंकि कोई भी शुभ क्रिया सदैव कर्मक्षय का हेतु बनती है ऐसा अर्हत वचन है।

यहाँ यह भी स्पष्ट होना जरूरी है कि यदि किसी मुनि ने भिक्षाचर्या के दरम्यान अथवा भिक्षाचर्या के तुरन्त बाद लघुनीति न की हो तब भी ईर्यापथिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में भिक्षा सम्बन्धी दोषों का चिन्तन किया जा सकता है क्योंकि यह साधुओं का विहित अनुष्ठान है। इसी प्रयोजन से ईर्यापथिक प्रतिक्रमण के समय भिक्षा सम्बन्धी दोषों को स्मृत करने का उल्लेख किया गया है।[13]

गुरु के समक्ष आलोचना कब करें? यह औत्सर्गिक विधि है कि भिक्षाग्राही मुनि सर्वप्रथम भिक्षा सम्बन्धी दोषों का स्मरण करें, फिर उन दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट करें। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार जब गुरु अव्याकुल, उपशान्त, प्रसन्नचित्त और सामान्य स्थिति में हों उस समय भिक्षा सम्बन्धित दोषों की आलोचना करें। यदि गुरु धर्म प्रभावना, वाचना, उपदेश आदि कार्यों में निरत हों, शीघ्रता में हों अथवा प्रसन्न मुद्रा में न हों तब आलोचना न करें क्योंकि ऐसी स्थिति में वे दोषों का सम्यक रूप से अवधारण नहीं कर सकते हैं। गुरु आहार कर रहे हों तब भी आलोचना न करें, कारण कि गुरु शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ हों और आलोचना सुनने में समय अधिक लग जाये तो आहार ठण्डा हो सकता है, भूख मन्द हो सकती है और भी कई दोषों की संभावनाएँ रहती है। यदि गुरु मलोत्सर्ग हेतु तत्पर हों तब भी आलोचना नहीं करें क्योंकि आलोचना सुनने के कारण मलोत्सर्ग क्रिया को रोक कर रखें तो नये रोगादि उत्पन्न हो सकते हैं यावत मृत्यु भी हो सकती है अत: उक्त स्थितियों में गुरु के समक्ष आलोचना न करें।[14]

आलोचना की औत्सर्गिक विधि– पंचवस्तुक के उल्लेखानुसार भिक्षा में लगे दोषों की आलोचना करने वाला मुनि आलोचना काल में गमनागमन प्रवृत्ति न करें, वचन एवं काया से कुचेष्टाएँ न करें और हंसी मजाक आदि दुष्प्रवृतियों का वर्जन करते हुए गुरु के समक्ष सब कुछ क्रम पूर्वक बतलाए कि अमुक व्यक्तियों के हाथों, अमुक पात्रों एवं अमुक स्थितियों में यह आहार ग्रहण किया गया है। यह आलोचना की उत्सर्ग विधि है।[15]

आलोचना की आपवादिक विधि– जैनाचार्यों ने आलोचना की आपवादिक विधि का निर्देश करते हुए कहा कि यदि समग्र दोषों की आलोचना करने के लिए अधिक समय न हो अथवा ग्लान मुनि भिक्षा में अधिक घूमने से थक गया हो अथवा किसी ग्लान मुनि को भोजन देने में विलम्ब हो रहा हो अथवा गुरु श्रुताभ्यास आदि का कार्य करने से बहुत थक गये हों तो संक्षेप में आलोचना करें।

उसकी विधि इस प्रकार है– जो भिक्षा शुद्ध हो या जिस भिक्षा में बड़े दोष न लगे हों किन्तु पूर्वकर्म–पश्चात्कर्म आदि लघु दोष लगे हों तो उन्हें सामान्य रूप से ही कहें। विस्तार में न जायें। यदि आलोचना करने का समय अल्प हो

तो जिस भिक्षा को प्राप्त करने में बड़े दोष लगे हों उन्हें ही प्रकट करें। कुछ आचार्य कहते हैं कि पुर:कर्म और पश्चात्कर्म इन दोषों का उल्लेख करने से सभी दोषों का ग्रहण हो जाता है। यदि अपवाद मार्ग का सेवन न करना पड़े तो उत्सर्गत: भिक्षा सम्बन्धी सर्व दोषों की आलोचना करें।[16]

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि ऋजुप्राज्ञ और अनुद्विग्न मुनि व्याक्षेप रहित चित्त से आलोचना करें। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहें।[17]

आहार रखने की विधि

भिक्षाटक मुनि निर्दिष्ट विधि के अनुसार आलोचना कर लेने के पश्चात मुखवस्त्रिका द्वारा मस्तक और पात्र का प्रमार्जन करें। उसके बाद मंडली स्थान या आहार स्थान के ऊर्ध्व, अधो एवं तिरछी दिशाओं का उपयोग पूर्वक निरीक्षण करें।

इस समय ऊर्ध्व आदि दिशाओं का निरीक्षण क्यों करना चाहिए? इन कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ऊपर में गिलहरी आदि हो, उसकी विष्टा पात्र में न गिर जाये इसलिए ऊर्ध्व दिशा का निरीक्षण करें। तिनका, कील, लकड़ी आदि चुभ न जाये इसलिए अधो दिशा का निरीक्षण करें। श्वान आदि पशु अथवा बालक आदि न आ जाये इसलिए तिरछी दिशा का निरीक्षण करें। झुकते हुए मस्तक पर से कोई जीव या कचरा आदि पात्र में न गिर जायें इस कारण मस्तक का प्रमार्जन करें और झोली समेटते हुए पात्र पर रहे हुए त्रस जीवों का घात न हो जाये, इस कारण पात्र का प्रमार्जन करें। तत्पश्चात भिक्षापात्र को निश्चित स्थान पर रख दें।[18]

आहार दिखलाने की विधि

आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार जो मुनि भिक्षाटन करके वसति में पहुँचा है वह सर्वप्रथम आत्मसाक्षी से मानसिक आलोचना करें। फिर गुरु के समीप वाचिक आलोचना करें। तत्पश्चात आहार दिखलाकर कायिक आलोचना करें। आहार दिखाने की विधि निम्न है– आहार पात्र को हाथ में लेकर किन्तु खुला होने से बिल्ली आदि आकर उस पर झपटा न मार ले इस कारण शरीर के पीछे के भाग को देखते हुए गुरु के समीप आएं और अर्धावनत होकर आहार-पानी दिखलाएं।[19]

द्वितीय कायोत्सर्ग विधि

यदि भिक्षाचर्या से लौटकर आहार पानी में लगे दोषों का यथावस्थित चिन्तन न किया हो, भिक्षा लेते समय 'यह शुद्ध है या अशुद्ध?' इसका उपयोग न रखा हो, गुरु के सन्निकट सम्यक् आलोचना न की हो, भक्तपान अच्छी तरह से न दिखाया हो, कदाचित एषणा सम्बन्धी सूक्ष्म दोष लगे हों अथवा अज्ञानतावश शुद्ध आहार की खोज न की हो तो इन सभी दोषों की विशुद्धि के लिए आठ श्वासोश्वास परिमाण एक नमस्कार मंत्र का कायोत्सर्ग करें अथवा निम्न गाथा का चिंतन करें।[20]

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्ख साहण हेउस्स, साहु देहस्स धारणा।।

अहो! तीर्थंकर परमात्मा ने मोक्ष साधना में हेतुभूत अर्थात साधुओं के शरीर का निवर्हन करने के लिए निर्दोष आहार वृत्ति का प्रतिपादन किया है।

उसके बाद एक मुहूर्त्त तक विधि पूर्वक स्वाध्याय करें। यह कायोत्सर्ग भिक्षाचर्या के समय लगे हुए दोषों की विशेष शुद्धि के निमित्त किया जाता है।[21]

स्वाध्याय एवं उसके प्रयोजन

आहार इच्छुक मुनि भिक्षाचर्या करने के पश्चात एवं आहार करने से पूर्व एक मुहूर्त्त भर स्वाध्याय करें, ऐसा आप्त वचन है।

जैनाचार्यों ने इस समय स्वाध्याय करने के निम्न प्रयोजन बताये हैं–भिक्षा हेतु अधिक घूमने पर और मध्याह्न काल में सूर्य के ताप का विशेष प्रभाव होने से शरीर के वात आदि दोष विषम हो जाते हैं। इस स्थिति में भिक्षाचर्या के तुरन्त बाद आहार कर लिया जाये तो उदर पीड़ा, वमन, विसूचिका यावत मृत्यु भी हो सकती है, जबकि मुहूर्त्त भर स्वाध्याय करने से वात आदि दोष शांत हो जाते हैं और शारीरिक थकान भी दूर हो जाती है।[22]

जैन परम्परा के प्राचीन आगमों में भी यह कहा गया है कि भिक्षा ले आने के बाद मुनि स्वाध्याय करे और क्षण भर विश्राम करे। विश्राम करता हुआ मुनि यह चिन्तन करे कि यदि आचार्य और सहवर्ती साधुजन मेरे द्वारा लाए हुए आहार को ग्रहण कर ले तो मैं निहाल हो जाऊंगा और यह मानूंगा कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया है।[23]

आहारार्थी मुनि के प्रकार

ओघनिर्युक्ति एवं पंचवस्तुक आदि में भोजन करने वाले मुनियों के दो प्रकार बताये गये हैं– मांडली भोजी और एकल भोजी अथवा मांडली भोजी और अमांडली भोजी।[24]

ओघनिर्युक्ति में मांडली– अमांडली शब्दों का प्रयोग है तथा पंचवस्तुक में मांडली एवं एकल भोजी शब्द का उल्लेख है।

(i) मांडली भोजी – मंडली (समूह) के साथ भोजन करने वाले साधु। मंडली भोजी मुनि का सामान्य नियम यह होता है कि जब तक मंडली स्थान पर आहार इच्छुक सभी साधु एकत्रित न हो जाएं तब तक प्रतीक्षा करें तथा सर्व मुनियों के उपस्थित होने पर आहार शुरु करें।

(ii) एकलभोजी– अकेला भोजन करने वाला साधु। पूर्वकालिक सामाचारी के अनुसार आगाढ़ योगवाही (गणियोग करने वाला), शैक्ष, वृद्ध, बाल और प्राघूर्णक (अतिथि) मंडली में भोजन नहीं करते हैं। इन्हें भिक्षा आने के साथ ही पर्याप्त आहार परोस दिया जाता है। पूर्वाचार्यों के अभिमत से प्रायश्चित्तवाही, असाम्भोगिक (असमान सामाचारी वाले) और आत्म लब्धिक भी मंडली में भोजन नहीं कर सकते हैं।

वर्तमान में मांडली– अमांडली भोजी का भेद लगभग समाप्त हो गया है। आज तो एकाकी विचरण करने वाला एकलभोजी कहलाता है। शेष सर्व बाल-वृद्ध आदि समूह में ही भोजन करते हैं। इतना अवश्य है कि वृद्ध या रोगी मुनि यदि अपने स्थान से उठ नहीं सकते हों तो उन्हें वहीं पर आहार करवा देते हैं। गुरु आदि शासन कार्यों में व्यस्त हों तो उनके लिए आहार रख दिया जाता है तथा बाल-वृद्ध आदि को उनकी अभिरुचि के अनुरूप आहार परोसने का ध्यान रख लेते हैं। इस तरह सभी साधु एक स्थान पर बैठकर ही भोजन करते हैं।

एकल भोजी की आहार विधि

प्राचीन परम्परानुसार एकल भोजी की आहार विधि निम्न है–

सर्वप्रथम एकलभोजी मुनि आहारादि लाने के पश्चात अन्य साधुओं को आमंत्रित करने हेतु गुर्वानुमति प्राप्त करें। उसके बाद दीक्षा पर्याय के क्रम से प्राघूर्णक, तपस्वी, ग्लान और शैक्ष (नवदीक्षित) इन सभी को स्वगृहीत आहार

में से कुछ लाभ देने का निमंत्रण दें। उस समय प्राघूर्णक आदि किसी मुनि की आहार सम्बन्धी इच्छा हो जाये तो एकलभोजी साधु पुनः गुरु के समीप आकर उनकी इच्छा को व्यक्त करें। उसके पश्चात गुरु स्वयं प्राघूर्णक आदि को यथेच्छित आहार दें। शेष बचे हुए आहार को एकल भोजी गुर्वाज्ञा पूर्वक स्वयं ग्रहण करें। यदि गुरु के पास समय का अभाव हो तो उनकी अनुमति पूर्वक वह स्वयं प्राघूर्णक आदि मुनियों को आहार दें।

इस विधि का रहस्य यह है कि भिक्षाग्राही मुनि द्वारा सर्व साधुओं को समान रूप से निमन्त्रित करने के उपरान्त कोई साधु आहार न भी लें परन्तु निमंत्रण काल में परिणाम विशुद्धि होने से निर्जरा जरूर होती है। यदि परिणाम विशुद्धि न हो तो प्राघूर्णक मुनि आदि आहार कर भी लें तब भी निर्जरा नहीं होती है इसलिए निमंत्रण विधि उद्देश्य पूर्ण है।

मांडली भोजी की आहार विधि

कोई मांडली भोजी साधु भिक्षार्थ गया हुआ हो तो वह जब तक न आये तब तक मंडली में भोजन करने वाले मुनि एकाग्रचित्त होकर स्वाध्याय करें। यहाँ स्वाध्याय में दशवैकालिकसूत्र के प्रारम्भिक तीन अध्ययनों का पुनरावर्तन अवश्य करें। भिक्षार्थ गया हुआ साधु भी वापस लौटकर मुहूर्त्त भर स्वाध्याय करे। उसके बाद आहार इच्छुक सभी साधु गुरु से अनुमति मांगें। गुरु आहार की आज्ञा प्रदान करें। तदनन्तर सर्व साधु भोजन मंडली में एकत्रित होकर नमस्कार मंत्र का स्मरण करें। फिर अग्रलिखित विधिपूर्वक भोजन ग्रहण करें।

आहार करने की विधि

ओघनिर्युक्ति में आहार विधि से सम्बन्धित पाँच नियम बतलाए गये हैं जो निम्नोक्त हैं [25]–

1. मंडली– आहार करते समय गुरु या ज्येष्ठ मुनि पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठें, एक साधु-गुरु द्वारा दिये जा रहे आहार को परोसने हेतु गुरु के सामने बैठे। अन्य साधु गुरु के आगे-पीछे न बैठकर उनसे ईशान अथवा आग्नेय दिशा में बैठें। आहार गुरु के सामने बैठकर करना चाहिए क्योंकि वे कुपथ्य आदि से सरलता पूर्वक बचा सकते हैं।

2. भाजन– आहार करने का पात्र चौड़े मुख वाला हो, संकीर्ण मुख वाला न हो। चौड़े मुख वाले पात्र में मक्खी-मच्छर आदि जीवों को भलीभाँति देखा जा

सकता है। आहार करते समय प्रत्येक साधु के पास एक श्लेष्म का और दूसरा आहार में निकलने वाले कांटे, कंकर या मृत कलेवर आदि अखाद्य वस्तुएँ प्रक्षेपित करने का इस तरह दो कटोरे होने चाहिए। मंडली के बाह्य भाग में कोई गृहस्थ आकर खड़े न हो जाएं। इसलिए उपवासी साधु को मंडली के बाहर बिठाये रखें ताकि गृहस्थ अन्दर न आ सके क्योंकि श्रमण को गुप्त आहार करने की जिनाज्ञा है।

आहार पात्र तीन प्रकार के होते हैं–

(i) यथाजात– गृहस्थ द्वारा प्राप्त करने के बाद जिसे संस्कारित न करना पड़े और जो सुगमता से उपयोग में आ सके, वह यथाजात पात्र कहलाता है।

(ii) अल्पपरिकर्म– जिसे गृहस्थ से लेने के बाद जिसके ऊपर अल्प रंग आदि करके ही उपयोग में लिया जा सके, वह अल्प परिकर्म वाला पात्र कहलाता है।

(iii) बहुपरिकर्म– गृहस्थ से प्राप्त करने के पश्चात जिस पात्र पर जोड़ना, रंगना आदि बहुत सी क्रियाएँ करनी पड़े और उसके बाद ही उपयोग में लिया जा सके, वह बहुपरिकर्म वाला पात्र कहलाता है। यहाँ पात्रों के उल्लेख करने का हेतु यह है कि आहार देते समय पहले यथाजात पात्र में रही हुई भिक्षा प्रदान करें। वह पूर्ण होने के पश्चात अल्पपरिकर्म वाले पात्र में लायी गई भिक्षा प्रदान करें। इस क्रम के पीछे संयम और भावना शुद्धि का ध्येय मुख्य रूप से रहा हुआ है।

3. भोजन– मुनि आहार करते समय सबसे पहले स्निग्ध और मधुर रस वाले दूधपाक-खीर आदि द्रव्यों का भोजन करे, क्योंकि इससे पित्त- वायु आदि विकारों की शान्ति और बल-बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। इसके पश्चात आम्ल आदि रस वाले द्रव्यों का भोजन करें क्योंकि स्निग्ध और मधुर द्रव्यों को बाद में खाने से कदाच अधिक हो जाये तो उसका परिष्ठापन करने में अनेक दोष लगते हैं जैसे घृत आदि को परठने से अधिक जीव हिंसा होती है। इसलिए स्निग्ध और मधुर द्रव्यों का भोजन सबसे पहले करें। यदि स्निग्धादि द्रव्य अल्प परिकर्म या बहु परिकर्म वाले पात्रों में हो तब भी पहले स्निग्ध आदि द्रव्यों का ही भोजन करें, फिर हाथ-मुख आदि स्वच्छ करके यथाजात पात्र का आहार ग्रहण करें।[26]

4. ग्रहण– मुनि आहार करते समय पात्र में से बड़े आंवले के परिमाण वाला कौर (ग्रास) ग्रहण करें अथवा स्वभावत: छोटे-छोटे ग्रास ग्रहण करें अथवा मुख विकृत न बने उतना ही ग्रास लें अथवा हल्के हाथ से खाया जा सके उतना कौर लें, जिससे ग्रास रखते समय या चबाते समय मुख को बहुत चौड़ा या टेढ़ा न करना पड़े। कवल ग्रहण दो प्रकार से होता है– ग्रहण और प्रक्षेप। पात्र में से ग्रास लेना ग्रहण कहलाता है और ग्रास को मुख में रखना प्रक्षेप कहलाता है।

(i) ग्रहण विधि– कटकच्छेद, प्रतरच्छेद और सिंह भक्षित इन तीनों में से किसी एक विधिपूर्वक पात्र में से कौर लेना ग्रहण विधि है।[27]

वृद्ध परम्परानुसार एक ओर से थोड़ा-थोड़ा खाते हुए वह जब तक पूर्ण न हो तब तक उसी ओर से ग्रास लेते रहना। जैसे कि रोटी को एक ओर से खाते-खाते वह पूर्ण हो जाती है वैसे ही एक तरफ से खाते हुए आहार को समाप्त कर लेना कटक छेंद भोजन है। एक-एक परत खाते हुए रोटी को समाप्त करना जैसे पहले रोटी के ऊपर की परत और बाद में नीचे का भाग खाना प्रतर छेद भोजन है। जिस ओर से खाना प्रारंभ करें उसी तरफ से समाप्त करना सिंह भक्षित भोजन है। आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार एकलभोजी साधु द्वारा कटक आदि तीनों प्रकार का आहार करना तथा मांडली भोजी साधु द्वारा कटकच्छेद के सिवाय शेष दो प्रकार का आहार करना विधि सम्मत है।

आगमिक टीकाओं के अनुसार जो आहार जिस रूप में ग्रहण किया है उसे यथावत लेकर आना तथा सरस और नीरस द्रव्यों को मिलाकर खाना ग्रहण विधि है।[28]

इसके अतिरिक्त काक और श्रृगाल की तरह आहार करना अविधि युक्त है जैसे-कौआ गोबर आदि में छिपे अनाज के दानों को खाता है, शेष को इधर-उधर बिखेर देता है तथा खाते समय इधर-उधर देखते रहता है। श्रृगाल अपने भोजन के अलग-अलग भागों को खाता है उसे क्रम से नहीं खाता, उसी भाँति पहले रुचिकर आहार करना, चलते-फिरते आहार करना, पात्र में रहे आहार को उथल-पुथल करके ग्रहण करना, इधर-उधर झांकते हुए आहार करना अविधि भुक्त है। जैसे चावल मेवा आदि से युक्त हो तो चावल को छोड़कर मेवा खा लेना यह आहार की अविधि है। श्रमण को विधि युक्त आहार करना चाहिए।[29]

(ii) प्रक्षेप विधि– ग्रास को मुख में डालना प्रक्षेप कहलाता है। जैन मुनि की आचार मर्यादा इतनी नियम बद्ध है कि यहाँ आहार चबाने जैसी सामान्य क्रिया भी विधिपूर्वक करने का निर्देश है। नियमत: मुनि आहार करते समय उसे इस प्रकार चबायें कि मुख से 'सुर-सुर' या 'चव-चव' या सबड़के की आवाज न हो। वह आहार को जल्दी-जल्दी न खाये और न धीरे-धीरे खाये। उसे नीचे गिराता हुआ भी न खाये। यह आहार 'अच्छा है या बुरा' इस विषय में न सोचे। मन-वचन-काया को संयम में रखते हुए भोजन करे।[30] जैसे सर्प बिल में सीधा प्रवेश करता है वैसे ही मुनि आहार को सीधा निगल जाए, स्वाद के लिए आहार को एक जबड़े से दूसरे जबड़े में न ले जाए।

जैन मुनि की आहार विधि के अनुसार मंडली स्थित मुनियों को जिस पात्र से आहार दिया जाता है वह कुछ साधुओं में ही खाली हो जाये तो उसमें और आहार डालकर शेष साधुओं में वितरित करें। यहाँ इतना विशेष है कि बाल मुनि आदि को दिया हुआ अधिक आहार झूठा न हुआ हो तो वह भी सामुदायिक पात्र में लेकर शेष साधुओं को दिया जा सकता है और गुरु का अधिक आहार यदि झूठा भी हो तो भी शेष रहे साधुओं को दिया जा सकता है। गुरु के अतिरिक्त अन्य मुनियों का अवशिष्ट आहार झूठा हो तो वह सामूहिक पात्र में नहीं डालें।

5. शुद्धि– सोलह उद्गम, सोलह उत्पादन, दस एषणा इन बयालीस दोषों से रहित आहार का विवेकपूर्वक उपभोग करना आहार शुद्धि कहलाता है। आहार करते समय निम्न सात निर्देशों का भी पालन करना चाहिए। इन्हें सात आलोक (प्रकाश) कहा गया है।

1. स्थान– जहाँ गृहस्थ का आवागमन न हो वहाँ बैठें।

2. दिशा– आहार करते समय शिष्यगण गुरु के आगे-पीछे न बैठें किन्तु गुरु से ईशान या आग्नेय दिशा में बैठें।

3. प्रकाश– जहाँ अच्छा प्रकाश हो वहाँ बैठें।

4. भाजन– आहार पात्र छोटे मुखवाला न हो।

5. प्रक्षेप– कवल प्रमाणोपेत हो।

6. गुरु– भिक्षाटन करते समय जैसा भी आहार प्राप्त हुआ हो, उसे गुरु को दिखाकर एवं उनके समक्ष बैठकर खायें।

7. भाव– ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि और उनकी अक्षुण्णता को बनाये रखने के लिए आहार करें।[31]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि को निर्दोष आहार की प्राप्ति होने पर दीवार आदि का सहारा लिये बिना, दोनों पैरों के मध्य चार अंगुल का अन्तर रखते हुए खड़े हो जायें। फिर स्वयं के पाँव रखने, जूंठन गिरने एवं दाता के खड़े होने योग्य तीन भूमियों का शोधन करें। तदनन्तर दोनों हाथों को अंजली रूप बनाकर उसमें आहार ग्रहण करें।[32] इससे सिद्ध होता है कि जैन मुनि सद्गृहस्थ द्वारा दिया गया विशुद्ध आहार ही ग्रहण कर सकता है।

समीक्षा– यहाँ आहार विधि के अन्तर्गत भोजन मंडली आदि का वर्णन आगमिक व्याख्या ग्रन्थों एवं आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों के अनुसार किया गया है। मूल आगमों में इस तरह की चर्चा नहीं है। तदुपरान्त मंडली सम्बन्धी विधि-नियम गीतार्थ सम्मत होने से आचरणीय है।

आहार के समय खड़े होने की विधि

दिगम्बर मुनि आहार करते समय दोनों पैरों के मध्य चार अंगुल का अन्तराल रखते हुए समतल और छिद्र रहित भूमि पर खड़े होवें। दीवार वगैरह का सहारा न लें। भोजन के समय अपने पैरों की भूमि, जूठन गिरने की भूमि एवं दाता गृहस्थ के खड़े होने की भूमि-इन तीनों भूमियों की शुद्धता का ध्यान रखें।[33] जब तक खड़े होकर भोजन करने का सामर्थ्य हो, तब तक ही भोजन करें।[34]

आहार भोग की आपवादिक विधि

शास्त्रीय सामाचारी के अनुसार साधु एवं साध्वी को भिक्षा प्राप्त करने के पश्चात अपनी वसति में पहुँचकर ही आहार करना चाहिए। उसके बावजूद भी यदि कोई मुनि दूसरे गाँव में या महानगर के दूरवर्ती उपनगर या मोहल्ले में भिक्षा लेने गया हो, वहाँ अधिक विलम्ब होने के कारण बालक, वृद्ध या रुग्ण अथवा तपस्वी आदि को किसी कारणवश अत्यन्त भूख या प्यास लगी हो तो वह उपाश्रय में आने से पूर्व भी आहार कर सकता है।

आपवादिक विधि के अनुसार भिक्षा में प्राप्त आहार कहाँ किया जाये? इस सम्बन्ध में बताया गया है कि उस गाँव में कोई साधु या उपाश्रय हो तो वहाँ जाकर आहार करे। ऐसा संभव न हो तो कोई एकान्त जगह अथवा दीवार के पास या कोने में कोई स्थान चुनकर वहाँ आहार करे। जैनागमों में आहार के

लिए उपयुक्त स्थान वही माना गया है जो ऊपर से ढ़का हुआ हो, चारों ओर से आवृत्त हो तथा प्रकाश वाला हो।[35]

विधिपूर्वक आहार करने के लाभ

यह आहार विधि तीर्थंकर पुरुषों द्वारा आचरित एवं प्रतिपादित है। इस विधि के अनुपालन से स्वाध्याय, चारित्र धर्म और आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं होती है और ध्यान आदि साधनाएँ निर्विघ्न रूप से प्रवर्तित रहती हैं।[36] इससे तीर्थंकर आज्ञा का पालन होता है, आज्ञा पालन से भाव शुद्धि होती है, भाव शुद्धि से संयम शुद्धि और संयम शुद्धि से आत्म शुद्धि होती है। इससे अंतत: मोक्ष पद की प्राप्ति हो जाती है।

सात्विक आहार का फल

सात्विक आहार साधना का मूल आधार है। शरीर शास्त्रियों के अनुसार हित, मित एवं परिमित आहार करने वाला व्यक्ति स्वयं अपना चिकित्सक होता है। उसको चिकित्सा के लिए अन्य वैद्य की आवश्यकता नहीं होती। वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर सात्विक भोजी स्वभावत: शांत, प्रसन्न एवं निर्मल विचारों से युक्त होते हैं। इन जीवों की श्वासोश्वास गति मन्द होने से दीर्घायु होते हैं जबकि तामसिक भोजी क्रोधी, अहंकारी एवं मलिन चित्त वाले होने से अल्पायु होते हैं।

सात्विक आहार का सीधा असर शरीर पर पड़ता है। उससे मन, बुद्धि और चेतना प्रभावित होती है। उसके फलस्वरूप स्वस्थ, सक्रिय एवं संतोषप्रद जीवन की प्राप्ति होती है तथा व्यक्ति अध्यात्म मार्ग के सन्निकट पहुँच जाता है।

पात्र धोने की विधि

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पात्र प्रक्षालन की विधि निम्न प्रकार बतलायी है–

मुनि आहार करने के पश्चात सबसे पहले हाथ और मुख की शुद्धि करें। उसके बाद पात्र शुद्धि करें। पंचवस्तुक में पात्र प्रक्षालन क्रिया को 'त्रेप' कहा है। त्रेप का अर्थ होता है- शुद्धि करना।

पात्र भोजन मंडली के स्थान से बाह्य भाग में लाकर धोयें। यदि वहाँ किसी गृहस्थादि की दृष्टि गिरती हो तो पराभव, हल्कापन आदि दोषों के निवारणार्थ पात्र को भोजन मंडली में भी धो सकते हैं।

पात्र प्रक्षालन करते समय उसमें आहार का अंश न रह जाए और पूर्ण रूप से तीन कल्प हो इसका उपयोग रखें यानी पात्र की शुद्धि तीन बार करें। यदि आधाकर्मी आहार ग्रहण कर लिया गया हो तो तीन से अधिक बार भी पात्र शुद्धि की जा सकती है जिससे दोष की वृद्धि न हो। कदाच दूसरी-तीसरी बार धोने के उपरान्त भी पात्र के बाह्य भाग पर आहार का कोई अंश दिख जाए तो पहले से धोने के लिए जो पानी लिया हो उसी पानी से उसे दूर करें, परन्तु तीन बार धोने की विधि भंग होने के भय से नया पानी न लें।[37]

भाष्यकार के मतानुसार पात्र का प्रक्षालन करते समय यह विवेक रखना परम आवश्यक है कि जिसमें अलेपकृत आहार लिया गया हो उस पात्र को न भी धोयें तो चल सकता है, किन्तु जिसमें लेपकृत द्रव्य लिया गया हो उस पात्र को अवश्य धोयें।[38]

अलेपकृत एवं लेपकृत द्रव्य में निम्न वस्तुओं का अन्तर्भाव होता है–

कांजी-मांड, उष्ण- तीन बार उकाला आया हुआ गर्म पानी, चाउलोदग- चावल का धोया हुआ पानी, संसृष्ट- गोरस के लिप्त पात्र में (दही-दूध के रस वाला) मिश्र बना हुआ अचित पानी, आयाम-ओसामण, लौंग डाला हुआ अचित्त पानी, इमली का पानी, असंस्कारित राब आदि, चावल आदि रुक्ष आहार, सेके हुए जौ का आटा, कच्चे मूंग आदि का आटा, रोटी, गेहूँ का आटा आदि अलेपकृत द्रव्य हैं। इन वस्तुओं के लेने पर पात्र में चिकनाहट नहीं होती। इसके अतिरिक्त दूध, दही, घृत, तेल, मिष्ठान्न, मट्ठा, विगय मिश्रित द्रव्य (गुड़, घी, दही, आदि से निर्मित खाद्यान्न) और अविगय रूप खजूर आदि के रस वाले द्रव्य लेपकृत कहलाते हैं।[39]

यतिदिनचर्या में पात्र प्रक्षालन की विधि बताते हुए कहा गया है कि आहार करते समय जब तीन कौर शेष रह जाये, तब पात्र की चिकनाई को हाथ की अंगुलियों से साफ करें। फिर तीन कौर खाकर शुद्ध जल से पात्र धोकर उस पानी को पी जायें। उसके बाद मुख की शुद्धि करें। तत्पश्चात उस पात्र में थोड़ा पानी लेकर मंडली के बाहर आयें और पात्र की दूसरी बार शुद्धि करें। फिर सभी साधु प्रक्षालन की जगह पर मंडली आकार में बैठ जायें और बीच में एक साधु खड़े होकर शुद्ध जल देते हुए पात्र की तीसरी बार शुद्धि करवायें। फिर शौच के लिए दो-दो साधुओं को उनके हिसाब से इकट्ठा पानी दें। यह विधि भी गृहस्थ के अभाव में ही उचित है।

इसमें पात्र धोने का क्रम बताते हुए यह भी कहा गया है कि गुरु महाराज का पात्र सबसे पहले अलग से धोया जाये। फिर शेष साधुओं के पात्रों में जो यथाकृत पात्र हैं उन्हें पहले धोयें, उसके बाद शेष पात्रों में अल्प परिकर्म वाले पात्र धोयें, उसके बाद बहुपरिकर्म वाले पात्र धोयें इस तरह पात्र की विशुद्धि क्रमशः करें।[40]

समीक्षा– यदि पात्र प्रक्षालन विधि की प्राचीनता के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अनुशीलन किया जाये तो यह विधि पंचवस्तुक एवं यतिदिनचर्या में उपलब्ध होती है। पंचवस्तुक में पहले मुख शुद्धि करके फिर पात्र शुद्धि करने का निर्देश दिया गया है जबकि यतिदिनचर्या में पहले एक बार पात्र शुद्धि करने के पश्चात मुख शुद्धि करने का उल्लेख है। भोजन करने के अनन्तर तिविहार आदि प्रत्याख्यान करना हो तो दूसरा मत अधिक उचित लगता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने तीन कल्प पूर्वक पात्र शुद्धि का संकेत मात्र किया है वहीं यतिदिनचर्या में पात्र शुद्धि निमित्त तीन कल्प कहाँ, किस प्रकार किये जाने चाहिए और पात्र किस क्रम पूर्वक धोये जाने चाहिए? इसका प्रतिपादन भी किया गया है। वर्तमान सामाचारी में इस विधि का यथोक्त परिपालन नहीवत जैसा रह गया है।

परिष्ठापनीय आहार और परिष्ठापन विधि

ओघनिर्युक्ति में परिष्ठापनीय आहार के निम्न दो प्रकार निरूपित हैं–

1. अशुद्ध भिक्षा– जो भोजन-पानी प्राणातिपात आदि मूल दोषों एवं क्रीत आदि उत्तर दोषों से दूषित हो वह परिष्ठापनीय माना गया है। इसके अतिरिक्त जो भोजन वशीकरण चूर्ण आदि से मिश्रित हो, मंत्र से अभिमंत्रित हो एवं विष मिश्रित हो वह भी निषिद्ध बतलाया गया है। इस प्रकार का आहार मुनि के पात्र में आ जाये तो उसे परिष्ठापित कर देना चाहिए।[41]

2. शुद्ध भिक्षा– जो भोजन-पानी आचार्य, ग्लान या अतिथि इन तीन के उद्देश्य से अतिरिक्त लाया गया हो और उसका सेवन करने वाला अन्य मुनि न हो तो वह परिष्ठापनीय होता है। कदाच द्रव्य की दुर्लभता के कारण अत्यधिक लाया गया हो या दाता के भावोल्लास से पदार्थ अधिक आ गया हो तो परिष्ठापनीय होता है। आचार चूला में आहार परिष्ठापन की निम्न विधि कही गई है–[42]

भिक्षाटक मुनि ने कदाच अप्रासुक और अनैषणीय आहार ग्रहण कर लिया हो या आचार्य आदि के निमित्त लाया गया भोजन शेष बच गया हो तो परिष्ठापन हेतु गुरु की अनुज्ञा प्राप्त करें।

फिर अशुद्ध आहार को लेकर एकांत-अचित्त स्थान पर जाएं। वहाँ उस आहार का विवेक पूर्वक विशोधन (पृथक्करण) करें जितना शुद्ध अंश हो उतना खा पी लें। जिस आहार का विवेक और विशोधन करना शक्य न हो, उसे दग्ध भूमि, तुष के ढ़ेर, उपल (पत्थर) अथवा राख के ढेर या इसी प्रकार की अन्य अचित्त भूमि का प्रतिलेखन करके एवं तीन बार 'वोसिरे' शब्द का उच्चारण करते हुए वहाँ विसर्जित कर दें।

इसी प्रकार विद्या से अभिमंत्रित, योग चूर्ण मिश्रित अथवा विष मिश्रित भिक्षा आ जाये तो उसे राख में मिलाकर एवं उसके तीन पुंज करके एकान्त अचित्त स्थान में परिष्ठापित करें।[43]

यदि भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा, तिनका, लकड़ी का टुकड़ा, कंकर या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकल जाये तो उसे उठाकर फेंकें नहीं, अपितु अचित्त भूमि का निरीक्षण कर यतना पूर्वक परिष्ठापित करें। तत्पश्चात वसति में आकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।[44]

कदाचित मुनि के द्वारा सचित्त जल ग्रहण कर लिया गया हो तो उसे तत्काल दाता के जल पात्र में डाल दें, वैसा न हो सके तो एकांत स्निग्ध भूमि में जाकर उस पानी का परिष्ठापन करें। फिर पात्र को इस तरह उल्टा रखें कि वह स्वत: सूख जाये। सचित्त जल स्पर्शी पात्र को पौंछना या साफ करना मुनि के लिए निषिद्ध है।[45]

यदि अनिच्छा या असावधानी से बहुत खट्टा, दुर्गन्ध युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ ऐसा जल ले लिया गया हो तो उसे न स्वयं पीए और न दूसरे साधुओं को दे अपितु एकान्त-अचित्त भूमि में जाकर उसका परित्याग करें।[46]

इस तरह प्रकारान्तर से भी सचित्त आदि या अशुद्ध आदि वस्तु का ग्रहण हो जाये तो उन्हें एकान्त अचित्त भूमि में जाकर परिष्ठापित करें।

प्रचलित परम्पराओं में भिक्षाचर्या विधि

मूर्तिपूजक सभी परम्पराओं में भिक्षाचर्या विधि लगभग समान है।

वर्तमान परम्परा में भिक्षाचर्या की निम्न विधि प्रचलित है-

• सर्वप्रथम गुरु के समक्ष आदेश-निर्देश पूर्वक उपयोग विधि करें। • फिर 'आवस्सही' शब्द कहते हुए वसति से प्रस्थान करें। • फिर भिक्षाचरी मुनि यथाशक्ति अभिग्रह आदि धारण करते हुए आहार की गवेषणा करें। • आहार लेने के बाद पुन: गाँव के अन्दर प्रवेश करते हुए या उपाश्रय के बाहर पाँव की प्रमार्जना करें। • फिर 'निसीहि' शब्द को तीन बार बोलते हुए और **'नमो खमासमणाणं गोयमाईणं महामुणिणं'** इतना कहते हुए वसति में प्रवेश करें। • फिर गुरु के सामने खड़े होकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। इस प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग में भिक्षाचर्या करते हुए लगने वाले दोषों का स्मरण कर उन्हें याद रखें। • फिर स्मृतिगत दोषों का गुरु के सामने निवेदन करें। • उसके बाद स्मृतिगत आलोचना के अतिरिक्त भी कोई दोष आलोचना किये बिना रह गया हो या किसी दोष की सम्यक् आलोचना न की हो तो उसकी विशुद्धि निमित्त 'गोचरचर्या सूत्र' का भाव पूर्ण चिन्तन करें। यद्यपि आगम पाठ में 'गोचरचर्या सूत्र' का उल्लेख नहीं है किन्तु जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा में इस सूत्रपाठ का स्पष्ट निर्देश है तथा यह पाठांश वर्तमान परम्परा में भी बोला जाता है। वह मूल पाठ निम्न है-

'पडिक्कमामि गोअरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाडकवाड-उग्घाडणयाए साणा-वच्छा-दारा संघट्टणाए, मंडी-पाहुडियाए, बलि-पाहुडियाए, ठवणा-पाहुडियाए, संकिए, सहस्सागारे, अणेसणाए, णाणेसणाए, पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दग-संसट्ठ-हडाए,रय-संसट्ठ-हडाए, पारिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए ओहासण-भिक्खाए, जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए, अपरिसुद्धं, परिग्गहियं, परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।'

अर्थ– मैं गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूँ। यदि भिक्षाचर्या करते हुए अर्ध खुले किवाड़ों को खोला हो, कुत्ते-बछड़े-बच्चों का संघट्टा हुआ हो, अग्रपिण्ड-बलिकर्म-स्थापना सम्बन्धी भिक्षा ग्रहण की हो, शंकित आहार लिया हो, शीघ्रता में आहार लिया हो, बिना एषणा (छान-बीन) के आहार लिया हो, कोई जीव पड़ा हुआ आहार लिया हो, बीज युक्त आहार लिया हो, सचित्त वनस्पति युक्त आहार लिया हो,

पश्चात्कर्म सम्बन्धी आहार लिया हो, पुर:कर्म सम्बन्धी आहार लिया हो, अदृश्य वस्तु ली हो, सचित्त वस्तु ली हो, गिरते बिखरते हुए दिया जाने वाला आहार लिया हो, परठने योग्य कालातिक्रान्त (अयोग्य) वस्तु ग्रहण की हो, उत्तम वस्तु की याचना की हो, सोलह उद्गम सम्बन्धी आहार लिया हो, धात्री आदि सोलह उत्पादना सम्बन्धी आहार ग्रहण किया हो, शंकित आदि दस ग्रहणैषणा सम्बन्धी आहार ग्रहण किया हो, अशुद्ध आहार का सेवन किया हो अथवा विस्मृति से ग्रहण किये गए अशुद्ध आहार का परित्याग न किया हो तो तज्जन्य मेरे समस्त पाप मिथ्या हो।

• इस सूत्रपाठ का चिन्तन करने के पश्चात तस्सउत्तरी एवं अन्नत्थसूत्र कहकर कायोत्सर्ग में निम्न गाथा का चिन्तन करें–

अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मुक्ख साहण हेउस्स, साहु देहस्स धारणा।।

• फिर 'णमो अरिहंताणं' बोलकर कायोत्सर्ग पूर्ण करें और प्रकट में लोगस्स सूत्र बोलें। • तत्पश्चात मंडली स्थान की ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक् इस तरह तीन दिशाओं का प्रमार्जन कर पात्र को योग्य स्थान पर रखें। • सुविधिपूर्वक प्राप्त आहार गुरु को दिखायें। • फिर देववन्दन करें। • उसके बाद मुहूर्त्त भर स्वाध्याय करें। • आचार्य जिनप्रभसूरि एवं परवर्ती आचार्यों के मतानुसार दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ की सतरह गाथाओं का चिन्तन अवश्य करना चाहिए। • फिर दीक्षा पर्याय के क्रम से सभी साधुओं को आहार करने हेतु निमन्त्रित करें। • उसके पश्चात भोजन मंडली में उपस्थित होकर प्रत्याख्यान पूर्ण करने के लिए मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • फिर रजोहरण द्वारा पाँव और भोजन स्थान की प्रमार्जन कर आसन पर बैठ जायें। • तदनन्तर अनासक्त भाव से एवं सुर-सुर या चव-चव की आवाज न करते हुए खाद्य पदार्थों को ग्रहण करें।[47]

श्रमण संघीय साध्वी कुशलकंवरजी द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार स्थानकवासी-तेरापंथी परम्परा में भिक्षाचर्या हेतु प्रस्थान करने से पूर्व इस तरह की कोई विधि नहीं की जाती है। सामान्यत: गुर्वानुमति पूर्वक भिक्षाटन करते हुए शास्त्रोक्त निर्देशों का यथाशक्ति पालन करते हैं तथा आहार ले आने के पश्चात ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं। इसी के साथ 'गोचरचर्यासूत्र' का अर्थ चिन्तन करते हैं। फिर दो बार 'चउवीसत्थय विधि' करते हैं। इसके पश्चात

अनुकूलता हो तो स्वाध्याय करते हैं तथा समय हो जाने पर मंडली के साथ बैठकर आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त विस्मृत दोषों की शुद्धि हेतु दूसरी बार कायोत्सर्ग करना, देववन्दन करना, मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करना आदि अनुष्ठान नहीं किये जाते हैं। इस परम्परा में स्वाध्याय निमित्त निश्चित सूत्र पाठ का विधान भी नहीं है जबकि मूर्तिपूजक परम्परा में दशवैकालिक सूत्र की पाँच या सतरह गाथा का स्वाध्याय करना अनिवार्य माना गया है।

दिगम्बर परम्परा में आहार विधि का निम्न स्वरूप वर्णित है–

आहार से पूर्व करने योग्य विधि– जब मध्याह्न काल की दो घड़ी (48 मिनिट) शेष रहे तब मुनि स्वाध्याय को समाप्त करें। फिर मल-मूत्र की शंका से निवृत्त होना हो तो वसति से दूर जाकर शौच क्रिया करें। तदनन्तर हाथ-पैर आदि की शुद्धि करें। फिर पीछी और कमण्डलु लेकर मन्दिर जायें तथा मध्याह्न कालीन देववन्दन (सामायिक) करें। यदि आचार्य समीप हों तो उनके सम्मुख 'आचार्य भक्ति' का पाठ बोलकर वन्दन करें। उसके पश्चात 'लघु सिद्ध भक्ति' और 'लघु योग भक्ति' ये दोनों पाठ बोलकर आचार्य के मुख से प्रत्याख्यान ग्रहण करें। यदि आचार्य का सान्निध्य न हो तो पूर्वोक्त सर्व विधि जिनमन्दिर में करें तथा प्रत्याख्यान स्वयं ही ग्रहण करें।

यहाँ लघुसिद्ध भक्ति और लघुयोग भक्ति ये दोनों पाठ पहले दिन किए गए प्रत्याख्यान की समाप्ति के निमित्त बोले जाते हैं। इतनी विधि करने के बाद दाहिने हाथ में पीछी, कमण्डलु और बायाँ हाथ कंधे पर रखते हुए आहार के लिए निकलें। अभिग्रह पूर्ण होने पर आहार प्रारम्भ करें।

आहार के समय की विधि– सर्वप्रथम गृहस्थ के द्वारा नवधा भक्ति की जाये। उसके बाद आहारार्थी मुनि हाथ धोयें। तत्पश्चात 'अथ चतुर्विधाहार निष्ठापन.... सिद्ध भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं' पाठ बोलकर कायोत्सर्ग करें। फिर आहार प्रारंभ करने के लिए 'लघु सिद्ध भक्ति' का पाठ बोलें। तदनन्तर दोनों हाथों को नाभि से ऊपर रखते हुए आहार करने की मुद्रा में स्थित होकर खड़े-खड़े ही आहार ग्रहण करें।

आहार के बाद की विधि– आहार पूर्ण हो जाने के बाद उकडु बैठकर मुख एवं हाथ-पैर आदि की शुद्धि करें। फिर श्रावक के हाथ से पिच्छिका ग्रहण कर आहार का प्रत्याख्यान करने हेतु 'लघु सिद्ध भक्ति' का पाठ बोलें। इस पाठ

के द्वारा चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दें। फिर कमण्डलु लेकर जिनमन्दिर में आयें। वहाँ जिन प्रतिमा या गुरु के समक्ष खड़े होकर पूर्ववत कायोत्सर्ग करें और 'लघु सिद्ध भक्ति' बोलें। तदनन्तर पुन: विज्ञापन पूर्वक कायोत्सर्ग करें एवं पूर्ववत 'लघु योग भक्ति' का पाठ बोलकर दूसरे दिन 10 बजे तक के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दें।

तदनन्तर भोजन में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करें। उसके बाद मध्याह्न काल की दो घड़ी बीत जाने पर पूर्वाह्न की तरह विधिपूर्वक स्वाध्याय करें।[48]

प्रकृति ने हर कार्य की एक नियम विधि नियुक्त की है। उसी विधिपूर्वक करने पर वह कार्य ऐच्छिक सफलता प्रदान करता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने आहार चर्या सम्बन्धी अनेकश: विधि एवं उपविधियों का निरूपण किया है। इसके माध्यम से मुनि शुद्ध आहार की प्राप्ति के साथ महाव्रतों का भी विशुद्ध परिपालन कर सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. *पंचवस्तुक, 287-289*
2. *ओघनिर्युक्ति भाष्य, 228*
3. *यतिदिनचर्या, 172-174 उद्धृत-धर्मसंग्रह, भा.3, पृ. 101*
4. *वही, 175-176 पृ. 110*
5. *पंचवस्तुक, गा. 297*
6. *धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 100*
7. *मूलाचार, 5/318 की टीका*
8. *भगवती आराधना,1200 की टीका*
9. *मूलाचार, 5/318 की टीका*
10. *पंचवस्तुक, 311-317*
11. *पंचवस्तुक, 318-319*
12. *(क) ओघनिर्युक्ति, 512*
    (ख) पंचवस्तुक, 320-321, 326
13. *पंचवस्तुक, 322-324*
14. *वही, 327-330*
15. *(क) पंचवस्तुक, 331*
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 516

16. (क) पंचवस्तुक, 335-336
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 519
17. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/90
18. पंचवस्तुक, 337-338
19. वही, 340
20. (क) पंचवस्तुक, 341
    (ख) ओघनिर्युक्ति भाष्य, 374
21. (क) दशवैकालिकसूत्र, 5/1/92
    (ख) कुछ ग्रन्थों मे 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा' इस पद से शुरू होने वाली गाथा बोलने का उल्लेख है किन्तु इस गाथा को बताने वाला कोई ग्रन्थ लगभग उपलब्ध नहीं है। यद्यपि दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक की 94वीं गाथा के उत्तरार्ध पहले चरण में ये पद देखने को मिलते हैं तथा वर्तमान में इसके स्थान पर 'अहो जिणेहिं असावज्जा' इस गाथा का चिंतन किया जाता है।
22. पंचवस्तुक, 342
23. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/93-94
24. (क) पंचवस्तुक, 351-355
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 522, 525, 548,
25. मंडलि भायण भोयण, गहणं सोही उ कारणुव्वरिए।
    भोयण विही उ एसो, भणिओ तेलुक्कदंसीहिं ॥
    ओघनिर्युक्ति, 566
26. पंचवस्तुक, 356-357
27. वही, 360
28. ओघनिर्युक्ति भाष्य, 298
29. वही, 296-297
30. (क) ओघनिर्युक्ति भाष्य, 299
    (ख) पंचवस्तुक, 261
31. ठाण दिसि पगासणया, भायण पक्खेवणे य गुरुभावे।
    सत्तविहो आलोको, सयावि जयणा सुविहियाणं ॥
    ओघनिर्युक्ति, 550
32. मूलाचार, 1/34 की टीका
33. (क) मूलाचार, 1/34 की टीका
    (ख) अनगार धर्मामृत, 9/94

34. वही, 9/93
35. दशवैकालिकसूत्र, 5/113-117
36. पिण्डनिर्युक्ति, 670
37. पंचवस्तुक, 388-390
38. बृहत्कल्पभाष्य, 1705
39. वही, 1706-1708
40. (क) यतिदिनचर्या, 260, 252
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 586
41. ओघनिर्युक्ति, 594-607
42. (क) आचारचूला, 1/2-3
    (ख) ओघनिर्युक्ति, 595
43. ओघनिर्युक्ति, 603-604
44. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/84-86
45. आचारचूला, 6/47-48
46. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/79-81
47. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 107-108
48. (क) मूलाचार, 9/36, 37-39
    (ख) श्रमणाचार, पृ. 99-105

अध्याय-6

भिक्षाचर्या का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अनुसंधान

भिक्षाचर्या विधि की ऐतिहासिक अवधारणा

प्रत्येक प्राणी का जीवन आहार पर निर्भर है। आहार के ही माध्यम से शरीर की विविध प्रवृत्तियाँ संचालित होती हैं। हमारी प्रवृत्ति जैसी होती है वैसे ही संस्कारों का निर्माण होता है और जैसे संस्कार बनते हैं वैसे विचार होते हैं। विचारों के अनुसार व्यवहार घटित होता है। व्यवहार के धरातल पर ही व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है। इसका आशय यह है कि अच्छा व्यवहार अच्छे विचारों के बिना नहीं हो सकता, अच्छे विचार सुसंस्कार के बिना नहीं हो सकते तथा सुसंस्कार पूर्णतया व्यक्ति के आहार पर निर्भर होते हैं। इसलिए प्राज्ञ पुरुषों ने आहार शुद्धि को प्राथमिकता दी है।

श्रमण परम्परा में जैन मुनि के लिए इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि वह सदोष, अप्रासुक या अनैषणीय आहार का परित्याग ही न करे अपितु शुद्ध, सात्विक एवं निर्दोष भिक्षा की प्राप्ति हेतु भी प्रयत्न करें। इसलिए उन्हें भिक्षाचर, भिक्षु, भिक्षुक भी कहते हैं। जैन मुनियों की भिक्षाचर्या अनेकविध नियमों से प्रतिबद्ध होती है। उन्हें भिक्षाचर्या में अनेक सावधानियाँ रखनी होती है तथा भिक्षाचर्या से सम्बन्धित कुछ विधि-विधान भी सम्पन्न करने होते हैं। इन मुद्दों पर यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाये तो हमें तत्सम्बन्धी अनेक आगमिक एवं आगमेतर सन्दर्भों की प्राप्ति होती है।

यदि जैन आगम साहित्य का आलोडन किया जाए तो वहाँ 'भिक्षा' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है जैसे कि आचारांग, सूत्रकृतांग,[1] समवायांग,[2] अन्तकृद्दशांग[3] आदि में 'भिक्षा' शब्द दूसरे अर्थों के साथ-साथ आहार के सन्दर्भ में भी व्यवहृत है। समवायांगसूत्र में प्रभु ऋषभदेव को प्रथम भिक्षाचर कहा गया है। समवायांगसूत्र[4] और स्थानांगसूत्र[5] में भिक्षा शब्द बारह भिक्षु प्रतिमाओं के

सम्बन्ध में उल्लिखित है। यहाँ भिक्षा का अर्थ याचित आहार से है। जैन मत में भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले साधकों को भिक्षु कहा गया है। इस प्रकार 'भिक्षु' शब्द भिक्षाग्राही के अर्थ को प्रकट करता है।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में भिक्षा शब्द का प्रयोग सचित्त भिक्षा के अर्थ में हुआ है। निर्दोष आहार ग्रहण करना अचित्त भिक्षा कहलाती है। इस प्रकार सचित्त शिष्यादि एवं अचित्त आहारादि दोनों अर्थों में भिक्षा शब्द प्रयुक्त है।

यदि भिक्षाचर्या की मूल विधि का प्रामाणिक आधार ढूंढा जाए तो आचारांगसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र में उसका प्राचीन स्वरूप दृष्टिगत होता है। इनमें भिक्षाचर्या के अनेकविध नियमोपनियमों एवं मर्यादाओं का भी वर्णन है। उक्त दोनों ग्रन्थ भिक्षाचर्या का सम्यक प्रतिपादन करने में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन ग्रन्थों में भिक्षाचर्या के समस्त पहलूओं पर विचार करते हुए मुनि जीवन की दैनिक चर्याओं का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्वकाल मे आचारांगसूत्र का 'शस्त्र परिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन और परवर्तीकाल में दशवैकालिकसूत्र के प्रारम्भिक चार अध्ययन साधु-साध्वी के दैनिक स्वाध्याय में अनिवार्य माने जाते रहे हैं, क्योंकि इन अध्ययनों में मुनि की जीवन चर्या के साथ-साथ भिक्षाचर्या के नियम भी उल्लेखित हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जैनागमों में भिक्षाचर्या विधि स्पष्टतया वर्णित है।

भिक्षाविधि का सामान्य वर्णन स्थानांग, भगवती, प्रश्नव्याकरण, निशीथ आदि सूत्रों में भी किया गया है। यदि भिक्षा सम्बन्धी 42 अथवा 47 दोषों के सम्बन्ध में विचार किया जाए तो आगम साहित्य में भिक्षाचर्या के 42 दोष एक साथ नहीं मिलते हैं। वहाँ सभी दोषों के नाम मूलकर्म को छोड़कर विकीर्ण रूप से मिलते हैं। कुछ अतिरिक्त दोषों का उल्लेख भी वहाँ प्राप्त होता है। स्पष्टीकरण के लिए प्रकीर्ण रूप से प्राप्त उद्गम दोषों के नाम इस प्रकार हैं– आचार चूला में आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत दोष।[6] सूत्रकृतांगसूत्र में औद्देशिक, आधाकर्म, क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, अभिहृत और पूति।[7] स्थानांगसूत्र में आधाकर्मिक, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यव, पूतिक, क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत।[8] भगवतीसूत्र में आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतर पूतिक, क्रीत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभिहृत।[9] प्रश्नव्याकरणसूत्र

में उद्दिष्ट, स्थापित, प्रादुष्करण, प्रामित्य, मिश्रजात, क्रीत, प्राभृत, आच्छेद्य और अनिसृष्ट।[10] ज्ञाताधर्मकथा आदि आगमों में भी आधाकर्मिक, औद्देशिक आदि दोषों का उल्लेख मिलता है।[11]

यहाँ विमर्शनीय है कि साध्वाचार का प्रतिनिधि ग्रंथ दशवैकालिक में उद्गम के औद्देशिक, क्रीतकृत, अभिहृत, पूतिकर्म, अध्यवतर, प्रामित्य और मिश्रजात- इन दोषों का वर्णन मिलता है लेकिन आधाकर्म दोष का उल्लेख नहीं है।[12]

दशाश्रुतस्कन्ध तथा दशवैकालिक में वर्णित 52 अनाचारों में कुछ भिक्षाचर्या के दोषों से भी सम्बन्धित हैं–

1. औद्देशिक - दूसरा उद्गम दोष
2. क्रीतकृत - तीसरा उद्गम दोष
3. अभिहृत - ग्यारहवाँ उद्गम दोष
4. आजीव वृत्तिता - उत्पादना का चौथा आजीवक दोष
5. तप्तानिर्वृत भोजित्व - एषणा का नौवाँ अपरिणत दोष

इस प्रकार प्रकीर्ण रूप से दोषों का उल्लेख मिलता है।

यदि आगमिक व्याख्या साहित्य को देखा जाए तो वहाँ सर्वप्रथम पिण्डनिर्युक्ति में 47 दोषों का एक साथ क्रमिक एवं व्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है। यह निर्युक्ति ग्रन्थ एक मात्र आहार विधि का ही प्रतिपादन करता है।[13] तत्पश्चात इस विषयक उल्लेख ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य आदि में प्राप्त होते हैं।

यदि मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन किया जाए तो वहाँ पंचवस्तुक[14] पंचाशक[15], अष्टकप्रकरण[16], पिण्डविशुद्धि[17], प्रवचनसारोद्धार[18], यतिदिन-चर्या[19] आदि में यह निरूपण देखा जाता है। पंचवस्तुक, पंचाशक, प्रवचनसारोद्धार आदि में आहार सम्बन्धी 47 दोषों का भी उल्लेख है। विधिमार्गप्रपा में भिक्षाचर्या में लगने वाले दोषों की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त विधान बतलाया गया है।[20] आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस विषय पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए भिक्षाचर्या से पूर्व गुर्वानुमति आवश्यक क्यों? भिक्षाकाल में किस तरह की सावधानियाँ रखी जाये? भिक्षाग्राही अभिग्रह पूर्वक भिक्षाटन क्यों करें? भिक्षाग्राही मुनि कब कैसे आलोचना करे? आहार किस विधिपूर्वक रखें? आहार का परिमाण कितना हो? आहार करने

से पूर्व स्वाध्याय अनिवार्य क्यों? आदि का सारगर्भित प्रतिपादन किया है।

यदि दिगम्बर साहित्य का समाकलन किया जाये तो मूलाचार एवं अनगार धर्मामृत में यह वर्णन स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी गवेषणीय है कि भगवान महावीर के युग से आज तक भिक्षाचर्या सम्बन्धी नियमों में कब, कौनसे परिवर्तन हुए तथा कितने नये नियम बने? यह स्वतंत्र रूप से शोध का विषय है। यद्यपि पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों के अध्ययन से इतना नि:सन्देह कहा जा सकता है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार मुनि की आचार संहिताओं में परिवर्तन आया है जैसे कि वस्त्र धोने से पूर्व साधु के लिए सात दिन की विश्रामणा विधि का उल्लेख है उसकी आज न तो कल्पना की जा सकती है और न ही वैसी परिस्थितियाँ हैं। मुनि दिन में कितनी बार भिक्षार्थ जाए इस नियम के सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र तक की परम्परा कहती है कि मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षार्थ जाए क्योंकि उसके लिए दिन में एक समय ही आहार करने का विधान है। दशवैकालिकसूत्र इस बारे में 'एगभत्तं च भोयणं' का उल्लेख करता है।

सामान्यतया जैन साधु गृहस्थ के घर भोजन नहीं कर सकता, लेकिन दशवैकालिकसूत्र में आपवादिक रूप से इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि भिक्षा ग्रहण करते समय यदि साधु की इच्छा हो जाए तो वह ऊपर से ढके हुए, चारों ओर से संवृत्त तथा प्रासुक स्थान में बैठकर आहार कर सकता है। आचार्य शय्यंभवसूरि को ऐसा नियम क्यों बनाना पड़ा, यह विमर्शनीय है।[21]

व्याख्या साहित्य के अनुसार मुनि को अकेले नहीं, दो मुनियों के साथ भिक्षार्थ जाना चाहिए क्योंकि अकेले में स्त्री, पशु, प्रत्यनीक आदि उपसर्गों की संभावना बनती है लेकिन वर्तमान में साध्वियाँ दो तथा साधु प्राय: एकाकी भिक्षार्थ जाते हैं। इस तरह कई बिन्दु विचारणीय हैं।

उक्त वर्णन से फलित होता है कि जैनाचार्यों ने भिक्षा विधि के सम्बन्ध में सम्यक निरूपण किया है। आगम साहित्य में इस विषयक नियमों एवं मर्यादाओं का वर्णन है, आगमिक व्याख्याओं एवं परवर्ती ग्रन्थों में तद्विषयक विधि-विधान भी प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने तो इस विधि के सम्बन्ध में नवीन मन्तव्य प्रस्तुत कर उसकी सार्वकालिक उपादेयता सिद्ध की है। वर्तमान में आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा उपदिष्ट लगभग सभी विधियाँ प्रचलित हैं।

तुलनात्मक विवेचन

आहार प्राणी मात्र के लिए अनिवार्य है। उसके अभाव में जीवन की गतिविधियाँ दीर्घ समय तक टिकी रहे यह असंभव है। जैन मत में शुद्ध-सात्विक आहार को साधना का आधार माना गया है। शुद्ध भिक्षा की प्राप्ति हेतु एक विधि भी निर्धारित की गई है। हमें इस विधि का स्वरूप आचारांग, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्पभाष्य, पंचवस्तुक, पिण्डविशुद्धि, मूलाचार, अनगार धर्मामृत, प्रवचनसारोद्धार आदि में प्राप्त होता है।

इन ग्रन्थों के संदर्भ में भिक्षा विधि की तुलना की जाये तो अनेकों तथ्य स्पष्ट होते हैं। जिनका वर्णन आचारांग एवं दशवैकालिक जैसे सूत्रागमों में सामान्य रूप से प्राप्त होता है।

विधि की अपेक्षा– यह सुस्पष्ट है कि भिक्षाचर्या से सम्बन्धित कई विधियाँ निष्पन्न की जाती हैं। जबकि आगमिक व्याख्याओं एवं परवर्ती ग्रन्थों में इस विषयक विस्तृत विवेचन है। संख्या की दृष्टि से भी ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पंचवस्तुक आदि परवर्ती साहित्य में भिक्षाचर्या सम्बन्धी अनेक विधियाँ हैं।

सैंतालीस दोष की अपेक्षा– यदि उपलब्ध साहित्य के संदर्भ में 47 दोषों की तुलना की जाए तो आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, प्रश्नव्याकरण, निशीथ, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि में यह वर्णन अल्पाधिक रूप से प्राप्त होता है। यदि कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो आचारांगसूत्र में निम्न दस दोषों का उल्लेख प्राप्त होता है। 1. आधाकर्म 2. औद्देशिक 3. मिश्रजात 4. अध्यवपूरक 5. पूतिकर्म 6. कृतकृत्य 7. प्रामित्य 8. आच्छेद्य 9. अनिसृष्ट और 10. अध्यवपूरक[22]। सूत्रकृतांगसूत्र में भी आहार से सम्बन्धित कुछ दोष उल्लेखित हैं।[23] स्थानांगसूत्र में आहार सम्बन्धी दस दोषों की चर्चा आचारांगसूत्र के समान की गई है।[24] भगवतीसूत्र में अंगार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका और प्रमाणातिरेक इन पाँच दोषों का प्रतिपादन है।[25]

इससे विदित होता है कि विक्रम की दूसरी शती के पूर्व तक 47 दोषों का एक साथ उल्लेख नहीं मिलता है। यह अवधारणा विक्रम की दूसरी शती के परवर्तीकाल की ज्ञात होती है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में मूलकर्म दोष की चर्चा की गई है। यह दोष उत्पादना से सम्बन्धित है।[26] निशीथसूत्र में मूलकर्म को छोड़कर शेष पन्द्रह उत्पादना सम्बन्धी दोष कहे गये हैं जो निम्न हैं -1. धात्री 2. दूती 3. निमित्त 4. आजीविका 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोध 8. मान 9. माया 10. लोभ 11. विद्या 12. मंत्र 13. चूर्ण 14. योग 15. पूर्व पश्चात्संस्तव दोष।[27]

इसी क्रम में दशवैकालिक सूत्र में तेरह प्रकार के दोषों का उल्लेख निम्न प्रकार हैं- 1. उद्भिन्न 2. मालापहृत 3. अध्यवपूरक 4. शंकित 5. म्रक्षित 6. निखिप्त 7. विहित 8. संहृत 9. दायक 10. उन्मिश्र 11. अपरिणत 12. लिप्त 13. छर्दित।[28] उत्तराध्ययनसूत्र में कारणातिक्रान्त दोष का उल्लेख है[29] जबकि पिण्डनिर्युक्ति, पिण्डविशुद्धिप्रकरण, पंचाशकप्रकरण, पंचवस्तुक, प्रवचन सारोद्धार आदि में आहार सम्बन्धी 47 दोषों की पूर्ण चर्चा है।

उपरोक्त ग्रन्थों में भी यह वर्णन सर्वप्रथम पिण्डनिर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने किया है तथा इससे परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने इसी ग्रन्थ का अनुकरण करते हुए सैंतालिस दोषों पर प्रकाश डाला है। अत: श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में तद्विषयक कोई अन्तर नहीं है, केवल क्रमिक दृष्टि से किंचिद भेद हैं।

यदि दिगम्बर साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इन दोषों का तुलनात्मक विवेचन किया जाए तो नाम, क्रम एवं संख्यादि में मतभेद दिखता है। सामान्यतया दिगम्बर परम्परा में आहार विषयक 46 दोष स्वीकारे गये हैं। तदनुसार जो आहार 46 दोषों से, अध:कर्म से एवं 14 मलों से रहित होता है वही साधुओं के लिए ग्राह्य माना गया है। दिगम्बर मुनि 46 दोष रहित आहार भी बत्तीस अन्तरायों को टालकर स्वीकार करते हैं। इनमें 'कारण' नामक दोष को छोड़कर शेष दोष लगभग श्वेताम्बर के समान ही माने गये हैं।

सोलह उद्गम दोषों की अपेक्षा– दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत में उद्गम सम्बन्धी सोलह दोष निम्नोक्त बताये गये हैं-

1. उद्दिष्ट औद्देशिक 2. साधिक 3. पूति 4. मिश्र 5. प्राभृतक 6. बलि 7. न्यस्त 8. प्रादुष्कृत 9. क्रीत 10. प्रामित्य 11. परिवर्तित 12. निषिद्ध 13. अभिहृत 14. उद्भिन्न 15. आच्छेद्य और 16. आरोह।[30]

मूलाचार में उद्गम सम्बन्धी सोलह दोषों के नाम इस प्रकार हैं-

1. औद्देशिक 2. अध्यधि 3. पूति 4. मिश्र 5. स्थापित 6. बलि 7. प्रावर्तित 8. प्रादुष्कार 9. क्रीत 10. प्रामृष्य 11. परिवर्तक 12. अभिघट 13. उद्भिन्न 14. मालारोह 15. अभेद्य और 16. अनिसृष्ट।[31]

यदि श्वेताम्बर परम्परा में मान्य 47 दोषों की तुलना दिगम्बर परम्परा में मान्य 46 दोषों के साथ की जाए तो इनमें परस्पर नाम क्रम एवं संख्यादि की अपेक्षा मतभेद हैं–

नाम वैभिन्य– श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं की दृष्टि से उद्गम दोषों के नामों को लेकर विचार किया जाए तो

- पिण्डनिर्युक्ति (श्वेताम्बर) में उद्गम का पहला दोष 'आधाकर्म' है जबकि मूलाचार और अनगार धर्मामृत में पहला दोष 'औद्देशिक' नाम का है।
- पिण्डनिर्युक्ति में उद्गम का दूसरा दोष 'औद्देशिक' है किन्तु अनगार धर्मामृत में इसके स्थान पर 'साधिक' नाम का दोष है और मूलाचार में 'अध्यधि' नाम का दोष कहा गया है। अध्यधि-आहारार्थ आते हुए मुनियों को देखकर पकते हुए चावलों में और चावल मिला देना अध्यधि दोष कहलाता है।
- पिण्डनिर्युक्ति में पांचवाँ दोष 'स्थापना' नाम का है, किन्तु अनगार धर्मामृत में इसके स्थान पर 'प्राभृतक' और मूलाचार में 'स्थापित' नामक दोष का वर्णन है।
- पिण्डनिर्युक्ति में छठवां दोष 'प्राभृतिका' नाम से है, वहाँ अनगार धर्मामृत एवं मूलाचार में 'बलि' दोष का उल्लेख है। स्थापना और बलि दोनों समानार्थक हैं।
- पिण्डनिर्युक्ति में सातवाँ दोष 'प्रादुष्करण' नामक है, वहाँ अनगार धर्मामृत में 'न्यस्त' और मूलाचार में 'प्रावर्तित' नाम का दोष कहा गया है।
- पिण्डनिर्युक्ति में बारहवाँ 'उद्भिन्न' नाम का दोष है जबकि अनगार धर्मामृत में बारहवाँ 'निषिद्ध' नाम का तथा मूलाचार में 'अभिघट' नाम का दोष उल्लेखित है।

क्रम वैभिन्य– उद्गम सम्बन्धी सोलह प्रकारों में क्रम की अपेक्षा मनन किया जाए तो श्वेताम्बर परम्परा मान्य पिण्डनिर्युक्ति में औद्देशिक नामक दूसरा दोष मूलाचार आदि में पहले स्थान पर है। इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सातवें प्रादुष्करण नामक दोष को दिगम्बर परम्परा में आठवाँ स्थान दिया गया

है। आठवें क्रीत नामक दोष को नौवाँ स्थान दिया गया है। नौवें प्रामित्य नामक दोष को 10वाँ स्थान दिया गया है। 10वें परिवर्तित नामक दोष को 11वाँ स्थान दिया गया है। 11वें अभ्याहृत दोष को अनगार धर्मामृत में 13वाँ स्थान दिया गया है। 12वें उदिभन्न नामक दोष को अनगार धर्मामृत में 14वाँ और मूलाचार में 13वाँ स्थान दिया है। 13वें मालापहृत दोष को अनगार धर्मामृत में 16वाँ और मूलाचार में 14वाँ स्थान दिया गया है। 14वें आच्छेद्य नामक दोष को 15वाँ स्थान प्राप्त है। 15वें अनिसृष्ट नामक दोष को मूलाचार में 16वाँ स्थान दिया गया है। 16वाँ अध्यवपूरक नाम का दोष दिगम्बर परम्परा में मान्य नहीं है।

स्वरूप वैभिन्य– श्वेताम्बर परम्परा के पिण्डनिर्युक्ति में औद्देशिक का अर्थ साधु के उद्देश्य से बनाया गया भोजन ऐसा किया है जबकि अनगार धर्मामृत में इसका अर्थ करते हुए कहा है-जो भोजन नाग, यक्ष आदि देवता, दीनजनों और अन्य लिंगधारी साधुओं के उद्देश से अथवा सभी प्रकार के पाखंडी, पार्श्वस्थ आदि के उद्देश से बनाया गया हो वह औद्देशिक है।[32]

दिगम्बर परम्परा में उद्गम का दूसरा दोष 'साधिक' नाम का माना है। इसका अर्थ है– अन्न पकने तक पूजा या धर्म सम्बन्धी प्रश्नों के बहाने से साधु को रोके रखना, उसके बाद वह आहार प्रदान करना साधिक कहलाता है।[33] दोनों परम्पराओं में मिश्र नामक दोष को चौथा स्थान दिया गया है परन्तु स्वरूप की दृष्टि से देखें तो पिण्डनिर्युक्ति आदि में गृहस्थ के लिए बन रहे आहार में साधु को बहराने के निमित्त पीछे से मिलाया गया भोजन मिश्र दोष वाला बतलाया है किन्तु दिगम्बर के मूलाचार आदि में पाखण्डी, गृहस्थ एवं यतियों के निमित्त बनाये गये भोजन को मिश्र दोष वाला कहा गया है।[34]

दिगम्बर परम्परा में उद्गम का छठवाँ दोष 'बलि' माना गया है और सातवाँ 'न्यस्त' माना गया है। जो आहार यक्ष, नाग, कुल, देवता, पितर आदि के लिए बनाया गया हो उसका बचा हुआ खाद्यांश साधु को बहराना बलि दोष है तथा भोजन पकाने के पात्र से अन्य पात्र में निकालकर अन्यत्र रखा गया आहार का दान करना न्यस्त दोष है।

दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत में 12वाँ दोष 'निषिद्ध' नाम का है। इसका अर्थघटन करते हुए लिखा गया है कि व्यक्त, अव्यक्त और उभय रूप स्वामी के द्वारा प्रतिबद्ध वस्तु साधु को प्रदान करना निषिद्ध दोष कहलाता है।

प्रकार वैभिन्य– श्वेताम्बर मतानुसार पूतिकर्म के द्रव्य और भाव दो भेद हैं जबकि दिगम्बर परम्परा में पूति दोष के दो प्रकार निम्न हैं– (i) अप्रासुक मिश्र और (ii) कल्पित। जो खाद्य द्रव्य स्वरूपत: प्रासुक हैं उनमें अप्रासुक द्रव्य मिला देना, अप्रासुक मिश्र नामक पूति दोष है तथा इस चूल्हे पर बनाया गया भोजन जब तक साधु को न दिया जाये तब तक कोई भी इसका उपयोग न करे ऐसा संकल्पित आहार प्रदान करना, कल्पित नामक पूति दोष है।[35]

मूलाचार में चूल्हा, ओखली, कड़छी या चम्मच, बर्तन और गन्ध के निमित्त से अप्रासुक मिश्र नामक पूति दोष पाँच प्रकार का बताया गया है। मूलाचार में प्रादुष्करण दोष के भी दो भेद किये गये हैं– 1. संक्रमण और 2. प्रकाश। आहार दान निमित्त भोजन के पात्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना संक्रमण दोष है। मण्डप में प्रकाश करके आहार बहराना प्रकाश दोष है।[36]

सुस्पष्ट है कि दोनों परम्पराओं में उद्गम दोष के 16 भेदों में नाम, स्वरूप एवं क्रमादि की अपेक्षा कुछ समानता तो कुछ असमानता है।

सोलह उत्पादना दोषों की अपेक्षा– दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत में उत्पादना सम्बन्धी सोलह दोषों के नाम इस प्रकार हैं– 1. धात्री 2. दूती 3. निमित्त 4. वनीपक 5. आजीवक 6. क्रोध 7. मान 8. माया 9. लोभ 10. पूर्व स्तवन 11. पश्चात स्तवन 12. वैद्यक 13. विद्या 14. मन्त्र 15. चूर्ण और 16. वश।[37]

मूलाचार में उत्पादना सम्बन्धी सोलह दोषों के नाम निम्न प्रकार हैं– 1. धात्री 2. दूती 3. निमित्त 4. आजीव 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोधी 8. मानी 9. मायावी 10. लोभी 11. पूर्व स्तुति 12. पश्चात स्तुति 13. विद्या 14. मन्त्र 15. चूर्णयोग और 16. मूलकर्म।[38]

श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में उत्पादना सम्बन्धी दोषों के नाम, क्रम एवं स्वरूप को लेकर इस तरह का अन्तर है–

नाम वैभिन्य – श्वेताम्बर परम्परा में 12वाँ दोष 'विद्या' नाम का स्वीकारा गया है किन्तु अनगार धर्मामृत में इसके स्थान पर 'वैद्यक' नामक दोष का निर्देश है। श्वेताम्बर परम्परा में सोलहवाँ दोष 'मूलकर्म' बताया गया है और मूलाचार में इसका नाम 'मूलकर्म' ही रखा है।[39]

- श्वेताम्बर परम्परा में उत्पादना सम्बन्धी चौथा दोष 'आजीवक' है

जबकि अनगार धर्मामृत में 'वनीपक' नाम का बतलाया गया है। इस श्रृंखला में मूलाचार ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा का अनुकरण करता है।

• श्वेताम्बर परम्परानुसार पांचवाँ उत्पादना दोष 'वनीपक' नाम का है वहाँ अनगार धर्मामृत में वनीपक को चौथा स्थान दिया गया है। मूलाचार के कर्त्ता ने श्वेताम्बर परम्परा का ही अनुकरण किया है।

• इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में मान्य छठे 'चिकित्सा' नामक दोष को दिगम्बर परम्परा में बारहवाँ स्थान प्राप्त है वहाँ 'चिकित्सा' के स्थान पर 'वैद्यक' नाम दिया गया है। सातवें 'क्रोध' नामक दोष को अनगार धर्मामृत में सातवाँ स्थान है, नौवाँ 'माया' नामक दोष का अनगार धर्मामृत में आठवाँ स्थान है, दसवाँ 'लोभ' नामक दोष का अनगार धर्मामृत में नौवाँ स्थान है, ग्यारहवाँ 'पूर्व पश्चात संस्तव' नामक दोष को अनगार धर्मामृत में क्रमशः दसवाँ और ग्यारहवाँ स्थान दिया गया है और मूलाचार में ग्यारहवाँ एवं बारहवाँ स्थान प्राप्त है क्योंकि दिगम्बर आचार्यों ने पूर्व स्तवन और पश्चात स्तवन ऐसे दो भिन्न-भिन्न दोष माने हैं।

• बारहवें 'विद्या' नामक दोष का दिगम्बर परम्परा में तेरहवाँ स्थान है। तेरहवाँ 'मन्त्र' नामक दोष चौदहवें स्थान पर है। चौदहवाँ 'चूर्ण' नामक दोष पन्द्रहवें स्थान पर है। पन्द्रहवें 'योग' नामक दोष को मूलाचार में 'चूर्ण' के साथ सम्मिलित कर दिया गया है।

स्वरूप वैभिन्य– यदि सोलह उत्पादना दोष सम्बन्धी स्वरूप को लेकर विचार किया जाए तो पाँचवें वनीपक नामक दोष के स्वरूप में अन्तर दिखता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भिक्षा देने वाला जिसका भक्त हो, उसके समक्ष स्वयं को भी उसका भक्त बताकर भिक्षा ग्रहण करना वनीपक दोष है। जबकि अनगार धर्मामृत में वनीपक दोष का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि 'कुत्ते आदि को भी दान करने से पुण्य होता है फिर मुनि का तो कहना ही क्या?' इस प्रकार दाता के अनुकूल वचन कहकर भोजन प्राप्त करना वनीपक दोष है।[40] मूलाचार की टीका इस सम्बन्ध में यह कहती है कि दाता के द्वारा पूछे जाने पर कि कुत्ता, कृपण, अतिथि आदि को दान देने से पुण्य होता है या नहीं? तब कहना कि पुण्य होता है ऐसा बोलकर आहार ग्रहण करना वनीपक दोष है।[41]

अनगार धर्मामृत में सोलहवाँ दोष 'वश' नाम का बतलाया है। उसका अर्थ है- जिन्हें वश में करना चाहें उन्हें आकर्षित करके आहार लेना अथवा स्त्री-पुरुषों में परस्पर मेल-मिलाप करवाकर भोजन प्राप्त करना वश दोष कहलाता है।

प्रकार वैभिन्य– यदि उत्पादना दोष सम्बन्धी भेद-प्रभेदों के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो निम्न तथ्य प्रकट होते हैं–

श्वेताम्बर ग्रन्थों में चिकित्सा नामक छठवें दोष के भेद-प्रभेदों का उल्लेख नहीं है, जबकि मूलाचार में चिकित्सा दोष निम्न आठ प्रकार का बतलाया गया है–

1. **कौमार चिकित्सा–** बालकों की चिकित्सा करना।
2. **तनु चिकित्सा–** शरीर के ज्वर आदि दूर करना।
3. **रसायन चिकित्सा–** शरीर की झुर्रियाँ आदि दूर करना।
4. **विष चिकित्सा–** विष उतारना।
5. **भूत चिकित्सा–** भूत-प्रेत दूर करने का उपाय करना।
6. **क्षारतन्त्र चिकित्सा–** दु:साध्य-घाव वगैरह दूर करना।
7. **शालायकिक चिकित्सा–** सलाई द्वारा आँख आदि खोलना।
8. **शल्य चिकित्सा–** फोड़ा चीरना।

उक्त आठ प्रकारों में से किसी भी प्रकार का उपचार करके आहारादि ग्रहण करना चिकित्सा दोष है।[42]

इस तरह उत्पादना सम्बन्धी दोषों को लेकर दोनों परम्पराओं में कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएँ है।

दस एषणा दोषों की अपेक्षा– दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत के अनुसार एषणा सम्बन्धी दस दोषों के नाम निम्नोक्त हैं–

1. शंकित 2. पिहित 3. म्रक्षित 4. निक्षिप्त 5. छोटित 6. अपरिणत 7. साधारण 8. दायक 9. लिप्त और 10. निमित्त।[43]

मूलाचार में प्रतिपादित एषणा सम्बन्धी दस दोषों के नाम इस प्रकार हैं– 1. शंकित 2. म्रक्षित 3. निक्षिप्त 4. पिहित 5. संव्यवहरण 6. दायक 7. उन्मिश्र 8. अपरिणत 9. लिप्त और 10. छोटित।[44]

एषणा दोष सम्बन्धी संख्या को लेकर दोनों परम्पराओं में मतैक्य है। दोनों परम्पराएँ एषणा से सम्बन्धित दस दोषों को स्वीकार करती हैं।

नाम वैभिन्य– श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं के सन्दर्भ में एषणा दोष के नामों को लेकर विचार किया जाए तो

• श्वेताम्बर परम्परा में एषणा सम्बन्धी पांचवाँ दोष 'संहृत' नाम का माना गया है वहाँ अनगार धर्मामृत में इस स्थान पर 'छोटित' नामक दोष है और मूलाचार में 'संव्यवहरण' नामक दोष का उल्लेख है।

• श्वेताम्बर आचार्यों ने एषणा सम्बन्धी दसवाँ दोष 'छर्दित' नाम का स्वीकार किया है, वहाँ अनगार धर्मामृत में 'विमिश्र' और मूलाचार में 'छोटित' नाम का निर्देश है। शेष नामों को लेकर दोनों परम्पराओं में मतैक्य है।

क्रम वैभिन्य– एषणा सम्बन्धी दस दोषों में क्रम की अपेक्षा निम्न अन्तर देखे जाते हैं–

• श्वेताम्बर ग्रन्थों में 'म्रक्षित' दोष दूसरे स्थान पर है जबकि अनगार धर्मामृत में इसे तीसरा स्थान दिया गया है। • इसी तरह श्वेताम्बर परम्परा में तीसरे 'निक्षिप्त' नामक दोष को दिगम्बर में चौथा स्थान दिया गया है। • चौथे 'पिहित' नामक दोष को दिगम्बर आम्नाय में दूसरा स्थान प्राप्त है। • पाँचवें संहृत नामक दोष के स्थान पर अनगार धर्मामृत में 'छोटित' दोष और मूलाचार में 'संव्यवहरण' नामक दोष का उल्लेख है। • श्वेताम्बर मान्यतानुसार छठवें 'दायक' नामक दोष को दिगम्बर मान्यता में आठवाँ स्थान दिया गया है। • सातवें 'उन्मिश्र' दोष को किंचित नामान्तर के साथ दसवाँ स्थान दिया गया है। अनगार धर्मामृत में उन्मिश्र के स्थान पर 'विमिश्र' नाम है। आठवें 'अपरिणत' नामक दोष को छठे स्थान पर रखा गया है।

यह क्रम भेद अनगार धर्मामृत की अपेक्षा से कहा गया है। आचार्य वट्टकेर ने इन दोषों का क्रम लगभग श्वेताम्बर के समान ही रखा है।

स्वरूप वैभिन्य – दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत में पांचवाँ छोटित नाम का एषणा दोष पाँच प्रकार का बतलाया गया है–

1. संयमी के द्वारा बहुत सा अन्न नीचे गिराते हुए थोड़ा खाना।
2. दाता के द्वारा हाथ से दही आदि गिर रहा हो उस अवस्था में ग्रहण करना।
3. मुनि के हाथ से दही आदि नीचे गिरता हो तो भी भोजन करना।
4. दोनों हथेलियों को अलग-अलग करके भोजन करना।

5. जो रुचिकर न हो उसे खाना।[45]

• दिगम्बर परम्परा में सातवाँ दोष साधारण नाम का है। घबराहट से या भय से साधु को अन्न आदि प्रदान करना साधारण दोष कहलाता है।[46]

• मूलाचार में दायक दोष का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है- जिसे प्रसव हुआ हो, जो मद्य पीया हुआ हो, रोगी हो, मृतक को श्मशान पहुँचाकर आया हो या जिसके घर में मृतक का सूतक हो, नपुंसक हो, भूतग्रस्त हो, नग्न हो, मल-मूत्रादि की शंका दूरकर आया हो, मूर्च्छित हो, जिसे वमन हुआ हो, वेश्या हो, अंग मर्दन करने वाली हो, अति बाला हो, अति वृद्धा हो, भोजन कर रही हो, गर्भित हो, चक्षुहीन हो, पर्दे की ओट में बैठी हुई हो, नीचे या ऊँचे प्रदेश पर खड़ी हो– इन अवस्था वाले स्त्री या पुरुष के हाथ से आहार ग्रहण करना दायक दोष है। इसके अतिरिक्त जो मुख की हवा से या पंखे से अग्नि को फूंक रही हो, अग्नि द्वारा लकड़ी जला रही हो, राख द्वारा अग्नि को ढँक रही हो, पानी द्वारा अग्नि को बुझा रही हो, गोबर लीप रही हो, स्नान कर रही हो, बालक को दूध पीला रही हो– ऐसे दाता या दात्री से आहार ग्रहण करना भी दायक दोष है।[47]

• श्वेताम्बर मान्यता में चालीस प्रकार के व्यक्ति आहार दान के लिए निषिद्ध बतलाये गये हैं। श्वेताम्बर मान्य कुछ दायक दोषों का उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में भी प्राप्त है।

• श्वेताम्बर मान्यतानुसार दूध-दही, ओसामण आदि लेपकृत द्रव्य का ग्रहण करना लिप्त दोष है जबकि दिगम्बर मान्यता में 'गेरू, हड़ताल, खड़िया, मिट्टी आदि से युक्त, कच्चे चावल आदि की पिट्ठी से युक्त, हरित वनस्पति एवं अप्रासुक जल से युक्त हाथ या पात्र द्वारा आहार ग्रहण करना लिप्त दोष है।[48]

इस तरह दोनों परम्पराओं में एषणा दोषों के क्रम-स्वरूप आदि में सामान्य अन्तर है।

पाँच मांडली दोषों की अपेक्षा– श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मंडली सम्बन्धी दोषों की संख्या में इस प्रकार मतभेद हैं–

संख्या वैभिन्य – श्वेताम्बर परम्परा में पाँच दोष मुनि की भोजन मंडली से सम्बन्धित माने गए हैं जबकि दिगम्बर अनगार धर्मामृत में 'मांडली' शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, इसका कारण यह है कि दिगम्बर मुनि सामूहिक भोजन नहीं करते हैं। इसमें भुक्ति सम्बन्धी चार दोष बतलाये गये हैं।[49] ये दोष मंडली

दोष के समान ही हैं। इसमें 'कारण' दोष को छोड़कर शेष चार नाम श्वेताम्बर के समान ही हैं। यद्यपि इसी परम्परा के मूलाचार नामक ग्रन्थ में श्वेताम्बर मान्यतानुसार मंडली के पाँच दोषों का सूचन है। इससे कहा जा सकता है कि इस आम्नाय में भी दो तरह की विचारधाराएँ रही हैं, जिसमें एक धारा ने श्वेताम्बर आगमों का अनुकरण किया है।

क्रम वैभिन्य– श्वेताम्बर परम्परा में मंडली के पाँच दोषों में 'संयोजना' नामक दोष को प्रथम स्थान पर रखा गया है जबकि दिगम्बर परम्परा के अनगार धर्मामृत में संयोजना को चौथा स्थान दिया है। इसी तरह दूसरे 'परिमाण' नामक दोष को तीसरा स्थान दिया है। तीसरे 'अंगार' नामक दोष को प्रथम स्थान प्राप्त है। चौथे 'धूम' नामक दोष को दूसरे क्रम पर रखा गया है। मूलाचार में इन दोषों का क्रम श्वेताम्बर के समान है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि श्वेताम्बर परम्परा में मुनि के लिए 42 दोषों से रहित आहार करने का विधान है जबकि दिगम्बर परम्परा में इन दोषों के अतिरिक्त चौदह मल एवं बत्तीस अन्तराय से रहित भोजन ग्रहण करने का उल्लेख है।[50]

प्रसंगवश चौदह मलों के नाम इस प्रकार हैं–

1. पीव 2. रूधिर 3. मांस 4. हड्डी 5. चर्म 6. नख 7. केश 8-10. मृत विकलेन्द्रिय-बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय 11. कन्द, सूरण आदि 12. बीज उगने योग्य जौ आदि धान्य या अंकुरित जौ वगैरह, मूली आदि 13. फल-बोर आदि 14. कणकुण्ड-कण यानी गेहूँ आदि का बाह्य भाग या चावल आदि, कुण्ड यानी धान आदि का आभ्यन्तर सूक्ष्म अवयव– ये चौदह आहार सम्बन्धी मल हैं[51]–

भोजन के समय इनमें से कुछ वस्तुओं का दर्शन या स्पर्शन होने पर या कुछ के भोजन में आ जाने पर आहार छोड़ दिया जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा मूलक ग्रन्थों में आहार सम्बन्धी सैंतालीस दोषों को लेकर अन्तर्विरोध अवश्य है किन्तु मूलभूत उद्देश्य समान हैं।

आहार के 47 दोषों का तुलनात्मक चार्ट

❖ पूर्व वर्णन के अनुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में उद्गम दोषों के नाम एवं क्रम में जो अंतर मिलता है, उन दोषों का चार्ट इस प्रकार है–

पिण्डनिर्युक्ति (गा.58-59)	पंचाशक, पंचवस्तुक (13/5-6) (741-742) प्रवचनसारोद्धार (67/564-565)	मूलाचार (गा.422-423)	अनगारधर्मामृत (5/5-6)
1. आधाकर्म	1. आधाकर्म	1. औद्देशिक	1. उद्दिष्ट
2. औद्देशिक	2. औद्देशिक	2. अध्यधि	2. साधिक
3. पूतिकर्म	3. पूतिकर्म	3. पूति	3. पूति
4. मिश्रजात	4. मिश्रजात	4. मिश्र	4. मिश्र
5. स्थापना	5. स्थापना	5. स्थापित	5. प्राभृतक
6. प्राभृतिका	6. प्राभृतिका	6. बलि	6. बलि
7. प्रादुष्करण	7. प्रादुष्कर	7. प्रावर्तित	7. न्यस्त
8. क्रीत	8. क्रीत	8. प्रादुष्कार	8. प्रादुष्कृत
9. प्रामित्य	9. प्रामित्य	9. क्रीत	9. क्रीत
10. परिवर्तित	10. परिवर्तित	10. प्रामृष्य	10. प्रामित्य
11. अभिहृत	11. अभिहृत	11. परिवर्तक	11. परिवर्तित
12. उद्भिन्न	12. उद्भिन्न	12. अभिघट	12. निषिद्ध
13. मालापहृत	13. मालापहृत	13. उद्भिन्न	13. अभिहृत
14. आच्छेद्य	14. आच्छेद्य	14. मालारोह	14. उद्भिन्न
15. अनिसृष्ट	15. अनिसृष्ट	15. अच्छेद्य	15. आच्छेद्य
16. अध्यवपूरक	16. अध्यवपूरक	16. अनिसृष्ट	16. आरोह

इस चार्ट के आधार पर कुछ नये निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

- मूलाचार और अनगार धर्मामृत में अध्यवपूरक के स्थान पर अध्यधि या साधिक दोष है।
- स्थापना दोष के स्थान पर मूलाचार में स्थापित दोष तथा अनगार धर्मामृत में न्यस्त दोष है।
- मूलाचार में अभिहृत दोष के स्थान पर अभिघट दोष है।
- मालाहृत दोष के स्थान पर मूलाचार में मालारोह तथा अनगार धर्मामृत में आरोह दोष का उल्लेख है।
- प्राभृतिका दोष के स्थान पर मूलाचार में प्रावर्तित तथा अनगार धर्मामृत में प्राभृतक दोष है।

• मूलाचार में प्रामित्य दोष के स्थान पर प्रामृष्य तथा आच्छेद्य के स्थान पर अच्छेद्य दोष का उल्लेख है।

• अनिसृष्ट दोष के स्थान पर अनगार धर्मामृत में निषिद्ध दोष का उल्लेख मिलता है।

• मूलाचार (४३१) और अनगार धर्मामृत (5/12) में उल्लिखित बलि दोष अतिरिक्त है। इसकी किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

❖ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में भिक्षाचर्या सम्बन्धी उत्पादन दोषों के क्रम एवं नामों में जो अंतर है, उसका तुलनात्मक चार्ट इस प्रकार है–

पिण्डनिर्युक्ति	निशीथ पंचाशक (13/61-75) (13/18-19) प्रवचन सारोद्धार (67/566-567)	मूलाचार 445	अनगार धर्मामृत 5/11
1. धात्री	1. धात्री	1. धात्री	1. धात्री
2. दूती	2. दूती	2. दूत	2. दूत
3. निमित्त	3. निमित्त	3. निमित्त	3. निमित्त
4. आजीविका	4. आजीविका	4. आजीव	4. वनीपकोक्ति
5. वनीपक	5. वनीपक	5. वनीपक	5. आजीव
6. चिकित्सा	6. चिकित्सा	6. चिकित्सा	6. क्रोध
7. क्रोध	7. क्रोध	7. क्रोधी	7. मान
8. मान	8. मान	8. मानी	8. माया
9. माया	9. माया	9. मायी	9. लोभी
10. लोभ	10. लोभ	10. लोभी	10. प्राक्नुति
11. संस्तव	11. विद्या	11. पूर्व स्तुति	11. अनुनुति
12. विद्या	12. मंत्र	12. पश्चात स्तुति	12. वैद्यक
13. मंत्र	13. योग	13. विद्या	13. विद्या
14. चूर्ण	14. चूर्ण	14. मंत्र	14. मंत्र
15. योग	15. अन्तर्धान पिण्ड	15. चूर्णयोग	15. चूर्ण
16. मूलकर्म	16. मूलकर्म	16. मूलकर्म	16. वश/मूलकर्म

इस चार्ट के आधार पर कुछ तथ्य निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं–

• मूलाचार में दूती दोष के स्थान पर दूत दोष का उल्लेख मिलता है।

• मूलाचार में क्रोधपिण्ड आदि के स्थान पर व्यक्ति का विशेषण करके

क्रोधी, मानी, मायी और लोभी का उल्लेख है।

• निशीथ सूत्र में 15 दोषों के साथ संस्तव दोष का उल्लेख नहीं है लेकिन दूसरे उद्देश (2/37) में पुरः एवं पश्चात संस्तव करने वाले को प्रायश्चित का भागी बताया गया है। पिण्डनिर्युक्ति में संस्तव दोष के अन्तर्गत ही पूर्व स्तुति एवं पश्चात स्तुति का समावेश किया गया है, जबकि मूलाचार और अनगार धर्मामृत में पूर्व-पश्चात संस्तव दोष को दो अलग-अलग दोषों के रूप में माना गया है। अनगारधर्मामृत में प्राक्नुति और पश्चात्नुति तथा मूलाचार में पूर्व स्तुति और पश्चात स्तुति का उल्लेख है। शब्द भेद होने पर भी यहाँ अर्थ साम्य है।

• अनगार धर्मामृत में चिकित्सा दोष के स्थान पर वैद्यक दोष का उल्लेख भी मिलता है।

• दिगम्बर परम्परा में चूर्ण और योग को एक साथ माना है, जबकि पिण्डनिर्युक्ति में ये दोनों अलग-अलग दोष हैं।

• निशीथ सूत्र के तेरहवें उद्देशक में उत्पादना से सम्बन्धित 15 दोषों का उल्लेख एक स्थान पर मिलता है लेकिन वहाँ छेद सूत्रकार ने इनके लिए उत्पादना के दोषों का उल्लेख नहीं किया है। अन्तर्धान दोष को चूर्ण पिण्ड के अन्तर्गत न रखकर स्वतंत्र दोष माना है तथा मूलकर्म दोष का उल्लेख नहीं है।

❖ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में एषणा के दस दोषों सम्बन्धी क्रम एवं नामों में किंचिद अंतर है। उसके स्पष्टीकरणार्थ तुलना चार्ट निम्न प्रकार हैं–

पिण्डनिर्युक्ति पंचाशक (13/26) प्रवचनसारोद्धार (67/568)	मूलाचार 462	अनगार धर्मामृत 5/28	दशवैकालिक
1. शंकित	1. शंकित	1. शंकित	1. शंकित 5/1/44
2. म्रक्षित	2. म्रक्षित	2. पिहित	2. म्रक्षित 5/1/32-36
3. निक्षिप्त	3. निक्षिप्त	3. म्रक्षित	3. निक्षिप्त 5/1/59-62
4. पिहित	4. पिहित	4. निक्षिप्त	4. पिहित 5/1/47

5. संहृत	5. संव्यवहरण	5. छोटित	5. संहृत 5/1/30, 31
6. दायक	6. दायक	6. अपरिणत	6. दायक 5/1/20, 39-42,43
7. उन्मिश्र	7. उन्मिश्र	7. साधारण	7. उन्मिश्र 5/1/5, 5/1/57
8. अपरिणत	8. अपरिणत	8. दायक	8. अपरिणत 5/1/37, 5/1/70
9. लिप्त	9. लिप्त	9. लिप्त	9. लिप्त 5/1/32
10. छर्दित	10. छोटित	10. विमिश्र	10. छर्दित 5/1/28

• मूलाचार में संहृत दोष के स्थान पर संव्यवहरण तथा अनगार धर्मामृत में साधारण दोष का उल्लेख है।

• छर्दित दोष के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में छोटित दोष का उल्लेख मिलता है।

• उन्मिश्र दोष के स्थान पर अनगार धर्मामृत में विमिश्र और मिश्र दोष का उल्लेख मिलता है।

• दशवैकालिक सूत्र में एषणा के प्राय: दोष विकर्ण रूप से मिलते हैं। लिप्त नाम के दोष का उल्लेख नहीं है लेकिन पुर:कर्म और पश्चात कर्म से सम्बन्धित गाथाओं में उस दोष को समाहित किया जा सकता है।

❖ श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मान्य मांडली दोषों में जो नामान्तर प्राप्त होता है वह निम्न रूप से दृष्टव्य है-

पिण्डनिर्युक्ति, (303) पंचाशक प्रकरण (13/48) प्रवचनसारोद्धार (67/734)	अनगार धर्मामृत (5/37-38)	मूलाचार (476-477)
1. संयोजना 2. परिमाण 3. अंगार 4. धूम 5. कारण	4. संयोजना 3. परिमाण 1. अंगार 2. धूम	1. संयोजना 2. परिमाण 3. अंगार 4. धूम

यदि जैन, हिन्दू एवं बौद्ध परम्पराओं की पारस्परिक तुलना की जाए तो भिक्षा विधि के मौलिक बिन्दुओं को पुनः रेखांकित करना आवश्यक है।

❁ जैन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'भिक्खु वा भिक्खुणी वा' तथा 'निग्गन्थो वा निग्गन्थी वा' शब्द दृष्टिगोचर होता है। इससे यह स्पष्ट है कि इस संघ में साधु-साध्वियों के आचार सम्बन्धी विधि नियम लगभग समान हैं। यद्यपि लिंग विशेष की अपेक्षा कुछेक मर्यादाएँ पृथक-पृथक भी बताई गई हैं।

• जैन मुनि के भिक्षाचर्या की तुलना भ्रमर से की गई है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को किसी तरह की पीड़ा न देते हुए सभी जगह से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण कर अपनी उदरपूर्ति कर लेता है उसी प्रकार जैन भिक्षु भी सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार लेते हुए अपनी संयम यात्रा का निर्वाह करे, किसी एक गृहस्थ के आश्रित न रहें।

• यदि वर्षा हो रही हो, घना कोहरा पड़ रहा हो, आंधी चल रही हो ऐसे समय में भिक्षा हेतु गमन न करें।

• शय्यातर का आहार किसी भी स्थिति में ग्रहण न करें।

• साध्वी एकाकी गमन न करें, वह दो या तीन साध्वियों के साथ कहीं भी आ-जा सकती है।

• मुनि भिक्षाचर्या करते समय युग प्रमाण भूमि को देखते हुए धीरे-धीरे चलें, हंसना, बोलना आदि न करें। मौन एवं शान्त चित्त से इस चर्या का पालन करें।

- राजकुल आदि निंदित कुलों में भिक्षार्थ न जाएं।
- उद्गम आदि 42 दोषों को टालते हुए आहार ग्रहण करें।
- वेदना, वैयावृत्य आदि छह कारणों के उपस्थित होने पर दिन में एक बार ही आहार ग्रहण करें।
- जिस गाँव में भोजन का जो समय हो, उसी समय भिक्षैषणा के लिए प्रस्थान करें।
- मुनि नवकोटि से परिशुद्ध आहार ग्रहण करें।

इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परागत भिक्षा विषयक अनेक नियमोपनियम साधु-साध्वी दोनों के लिए समान रूप से कहे गये हैं।

❁ यदि श्वेताम्बर मान्य भिक्षा विधि एवं तत्सम्बन्धी नियमों की तुलना दिगम्बर परम्परा मान्य भिक्षा विधि के साथ की जाए तो कुछ नियमों में पूर्ण समानता देखी जाती है जैसे कि–

1. श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों वर्ग के साधु-साध्वी ईर्यासमिति का पालन करते हुए भिक्षाटन करते हैं।

2. भिक्षाचर्या करते समय लगने वाले बयालीस दोषों का परिहार करते हैं।

3. आहार करने से पूर्व एवं आहार करने के पश्चात अर्हत वन्दना करते हैं।

4. आहार पूर्ण होने के बाद भिन्न-भिन्न विधिपूर्वक मुख-हाथ आदि की शुद्धि करते हैं।

❁ इन दोनों परम्पराओं में कुछ नियमों को लेकर असमानताएँ भी परिलक्षित होती है जैसे कि

1. श्वेताम्बर मुनि उपाश्रय में आहार करते हैं और दिगम्बर मुनि गृहस्थ के घर पर आहार करते हैं।

2. श्वेताम्बर मुनि बैठकर आहार करते हैं और दिगम्बर मुनि खड़े-खड़े आहार करते हैं।

3. श्वेताम्बर मुनि पात्रधारी होते हैं और दिगम्बर मुनि करपात्री होते हैं।

4. श्वेताम्बर मुनि अपवादत: एक से अधिक बार भी आहार ग्रहण करते हैं जबकि दिगम्बर मुनि एक बार ही आहार लेते हैं।

5. श्वेताम्बर मुनि नाना घरों से लाया हुआ आहार ग्रहण करते हैं जबकि दिगम्बर मुनि प्राय: एक घर का ही आहार करते हैं।

❁ यदि बौद्ध परम्परा के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर मनन किया जाए तो वहाँ कई नियम जैन परम्परा के सदृश देखे जाते हैं जैसे कि

1. सादा एवं सात्त्विक भोजन करना।
2. अभक्ष्य, विकृति कारक, तामसिक आहार ग्रहण नहीं करना।
3. अकाल वेला (मध्याह्न के बाद) में भोजन नहीं करना।
4. खाद्य पदार्थों का संग्रह नहीं करना।
5. सामान्य रूप से भिक्षु-भिक्षुणियों को एक साथ भोजन नहीं करना। विशेष परिस्थितियों में सामूहिक भोजन कर सकते हैं।
6. भोजन का ग्रास न छोटा हो और न अधिक बड़ा हो।
7. आहार करते समय मुँह से आवाज न हो, गाल को फुलाए नहीं, भिक्षा पात्र को हाथ या होठ से चाटे नहीं।

इस विषयक किंचिद असमानताएँ निम्नांकित हैं–

• बौद्ध भिक्षुओं के लिए बयालीस दोष रहित आहार ग्रहण करने का विधान नहीं है।

• अभिग्रह या विशिष्ट प्रतिज्ञा पूर्वक भिक्षाटन करने का नियम नहीं है।

• आहार के लिए काष्ठपात्र के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पात्रों का उपयोग कर सकते हैं।

• बौद्ध भिक्षुओं के लिए स्वयं के निमित्त बना हुआ आहार लेने का निषेध नहीं है जबकि जैन मुनियों के लिए औद्देशिक आहार ग्रहण करने का सर्वथा निषेध किया गया है।[52]

❁ वैदिक साहित्य में भिक्षाचर्या का निम्न स्वरूप उपलब्ध होता है जो तुलनात्मक दृष्टि से उल्लेखनीय है–

दक्ष ने संन्यासियों के लिए चार प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक कही हैं– 1. ध्यान 2. शौच 3. भिक्षा एवं 4. एकान्त शीलता।[53]

नारद के अनुसार यतियों के लिए छः प्रकार के कार्य राजदण्डवत अनिवार्य माने गये हैं– भिक्षाटन, जप, ध्यान, स्नान, शौच और देवार्चन।

इस परम्परा में भिक्षा स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं– शंखायन के अनुसार यति को बिना किसी पूर्व योजना या चुनाव के सात घरों से भिक्षा माँगनी चाहिए।[54] बौधायन धर्मसूत्र के मतानुसार ब्राह्मण गृहस्थों के यहाँ भिक्षार्थ

जाना चाहिए और वहाँ उतने समय ही रुकना चाहिए, जितने में एक गाय दुह ली जाये।[55] धर्मसूत्र में अन्य मतों को उद्धृत करते हुए यह भी कहा गया है कि संन्यासी किसी भी जाति के यहाँ भिक्षा मांग सकता है, किन्तु भोजन केवल द्विजातियों के यहाँ कर सकता है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार संन्यसी ब्राह्मण के यहाँ भिक्षा मांग सकता है।[56] वायु पुराण के अनुसार संन्यासी को कई व्यक्तियों के यहाँ से मांगकर खाना चाहिए।

भोज्य-अभोज्य के सम्बन्ध में यह निर्देश दिया गया है कि उसे मांस या मधु का सेवन नहीं करना चाहिए, अपक्व भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए और न ऊपर से नमक का प्रयोग करना चाहिए।[57]

वैदिक साहित्य में भोजन स्थान के सम्बन्ध में भी मतान्तर मिलते हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र कहता है कि ब्राह्मण संन्यासी को शुद्र के घर में भोजन नहीं करना चाहिए।[58] अपरार्क की व्याख्या के अनुसार ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य के यहाँ भोजन करना चाहिए।[59] पाराशर के अनुसार वृद्ध एवं रुग्ण संन्यासी हर किसी के घर में भिक्षाटन कर सकता है तथा एक ही व्यक्ति के यहाँ कई दिनों तक भोजन कर सकता है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार संन्यासी को भोजन देने से पूर्व उसके हाथ पर जल की धारा दी जाती है और भोजन देने के पश्चात भी जल धारा दी जाती है।[60]

धर्मशास्त्र के अनुसार संन्यासी को सन्ध्या के समय भिक्षा मांगनी चाहिए, जब रसोईघर से धूएँ का निकलना बन्द हो जाए, अग्नि बुझ जाए और बरतन आदि अलग रख दिये जाए।

मनु के अनुसार संन्यासी को भविष्यवाणी करके, शकुन बताकर, ज्योतिष का प्रयोगकर, विद्या ज्ञान आदि के सिद्धान्तों का उद्घाटन कर भिक्षा मांगने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उसे ऐसे घरों में भी भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए जहाँ पहले से ब्राह्मण, भिखारी या अन्य लोग आ गये हों।[61]

वसिष्ठ के अनुसार संन्यासी को भर पेट भोजन नहीं करना चाहिए। उसे अधिक या पर्याप्त मिलने पर न प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए और अपर्याप्त मिलने पर निराश भी नहीं होना चाहिए।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आहार का परिमाण बताते हुए कहा गया है कि

संन्यासी 8 ग्रास, वानप्रस्थी 16 ग्रास, गृहस्थी 32 ग्रास और ब्रह्मचारी इच्छानुसार खायें।[62]

यतिधर्मसंग्रह में भिक्षा प्राप्त भोजन पाँच प्रकार का बतलाया गया है– 1. माधुकर – जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न प्रकार के पुष्पों से मधु एकत्र करती है उसी प्रकार तीन, पाँच या सात घरों से भिक्षा प्राप्त करना माधुकर है। 2. प्राक्प्रणीत– शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों द्वारा निवेदित भोजन स्वीकार करना प्राक्प्रणीत है। 3. अयाचित– भिक्षाटन हेतु प्रस्थित होने के पूर्व किसी के द्वारा निमन्त्रित आहार लेना अयाचित है। 4. तात्कालिक – गृहस्थ के घर प्रविष्ट होते ही ब्राह्मण द्वारा भोजन करने की सूचना देना तात्कालिक है। 5. उपपन्न– शिष्यों या अन्य लोगों के द्वारा मठ में लाया गया भोजन स्वीकार करना उपपन्न है।[63]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दू परम्परा में भिक्षाचर्या को दैनिक चर्या के रूप में स्वीकारा गया है। इसी के साथ संन्यासी को एक बार भोजन करना, मद्य मांस आदि का भक्षण नहीं करना, नाना घरों से भिक्षा प्राप्त करना, परिमित भोजन करना, ज्योतिष आदि विद्याओं का प्रदर्शन न करते हुए भोजन की याचना करना, माधुकरी भिक्षा ग्रहण करना आदि कई नियम जैन धर्म के समान ही कहे गये हैं। इस प्रकार जैन एवं वैदिक दोनों की भिक्षा विधि में कुछ साम्य है।

सन्दर्भ-सूची

1. *सूत्रकृतांगसूत्र, 2/6/796*
2. *समवायो, 230/1-2*
3. *अन्तकृतदशा (अंगसुत्ताणि), 6/15/81*
4. *समवायो, समवाय-49,64,81,100*
5. *स्थानांगसूत्र, 7/13*
6. *संखडिं-संखडिं पडियाए अभिसंधारेमाणे आहाकम्मियं वा, उद्देसियं वा, मीसजायं वा, कीयगडं वा, पामिच्चं वा, अच्छेज्जं वा, अणिसिद्धं वा, अभिहडं वा, आहट्टु दिज्जमाणं भुंजेज्जा। आचारचूला, 1/2/29*
7. *सूत्रकृतांगसूत्र (अंगसुत्ताणि-2), 2/1/65*
8. *स्थानांगसूत्र (अंगसुत्ताणि-भा. 1), 9/62*

9. भगवतीसूत्र (अंगसुत्ताणि-2), 9/177
10. प्रश्नव्याकरणसूत्र (अंगसुत्ताणि-3), 10/7
11. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, 1/1/112
12. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/55
13. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 1-671
14. पंचवस्तुक, 286-398
15. पंचाशक-तेरहवाँ प्रकरण
16. अष्टकप्रकरण-पांचवाँ, छठा एवं सातवाँ
17. पिण्डविशुद्धिप्रकरण, 1-107
18. प्रवचनसारोद्धार, 1/563-568, 734
19. यतिदिनचर्या, गा. 175-227 उद्धृत-धर्मसंग्रह पृ. 110, भा. 3
20. विधिमार्गप्रपा, पृ. 81-86
21. दशवैकालिकसूत्र, 5/1/82-83
22. से भिक्खु वा... एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं..... जाव णो पडिगाहेज्जा।
आचारांगसूत्र, 2/1/1/331
23. सूत्रकृतांगसूत्र, 1/3/60-63
24. से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं णिग्गंथाणं आधाकम्मिएति वा उद्देसिएति वा मीसज्जा एति वा अज्झोयरएति वा पूतिए कीते पामिच्चे अच्छेज्जे अणिसट्ठे अभिहडेति वा। स्थानांगसूत्र, 9/62
25. भगवतीसूत्र, 7/1
26. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/1/110
27. निशीथसूत्र, 13/64-78
28. उद्देसियं कीयगडं, पूईकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं, मीसजायं च वज्जए॥
दशवैकालिकसूत्र, 5/1/70
29. उत्तराध्ययनसूत्र, 26/32
30. उद्दिष्टं साधिकं पूति, मिश्रं प्राभृतकं बलिः।
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं, प्रामित्यं परिवर्तितम्॥

निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नच, छेद्यारोहास्तथोद्गमाः।
दोषा हिंसानादरान्य, स्पर्श दैन्यादि योगतः।।

अनगार धर्मामृत, 5/5-6

31. *आधाकम्मुद्देसिय, अज्झोवज्झेय पूदिमिस्सेय ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे च पामिच्छे परियहे अभिहड मुब्भिण्ण मालआरोहे अणिसट्टे उग्गमदोसा दु सोलसमे।* *मूलाचार, 6/422-423*
32. *अनगार धर्मामृत, 5/7*
33. *वही, 5/8*
34. *मूलाचार, 6/6/429*
35. *अनगार धर्मामृत, 5/9*
36. *मूलाचार, 6/428*
37. *उत्पादनास्तु धात्री दूत, निमित्ते वनीपका जीवौ।*
क्रोधाद्याः प्रागनुनुति, वैद्यक विद्याश्च मन्त्र चूर्णवशाः ।।

अनगार धर्मामृत, 5/19

38. *धादीदूदणिमित्ते, अजीवं वणिवग्गे च तेगिछे।*
कोधी माणी मायी, लोभी य हवंति दस एदे।।
पुव्वी पच्छा संथुदि, विज्जामंते य चुण्ण जोगे य।
उत्पादणा य दोसो, सोलसमो मूलकम्मे च।।

मूलाचार, 6/445-446

39. *(क) अनगार धर्मामृत, 5/19*
(ख) मूलाचार, 6/446
40. *अनगार धर्मामृत, 5/22*
41. *मूलाचार, 6/451*
42. *वही, 6/452*
43. *शंकित पिहित म्रक्षित, निक्षिप्तच्छोटिता परिणताख्याः।*
दश साधारण दायक, लिप्त विमिश्रैः सहेत्यशन दोषाः ।।

अनगार धर्मामृत, 5/28

44. *संकिद मक्खिद णिक्खिद, पिहिदं संववहरणदाय गुम्मिस्से।*
अपरिणद लित्त छोडिद, एषणदोसाइं दस एदे।।

मूलाचार, 6/462

45. अनगार धर्मामृत, 5/31
46. वही, 5/33
47. मूलाचार, 6/468-471
48. अनगार धर्मामृत, 5/35
49. वही, 5/37-38
50. मूलाचार, 6/476
51. (क) अनगार धर्मामृत, 5/39
(ख) मूलाचार, 6/484
52. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, पृ. 38-44
53. दक्षस्मृति, 7/39
54. शंखायन, 7/3
55. बौधायन धर्मसूत्र, 3/10/57
56. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 10/24
57. वायुपुराण, 1/18/17
58. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 10/31
59. अपरार्क, पृ0 963
60. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1/107
61. मनुस्मृति, 6/50-51
62. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/4/9/13
63. यतिधर्मसंग्रह, पृ. 74-75
उद्धृत–धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ0 491-493

●

अध्याय-7

उपसंहार

जैन श्रमण अहिंसा का मूर्तिमान आदर्श है। संसार के समस्त स्थावर और त्रस, स्थूल और सूक्ष्म जीवों के लिए मुनि जीवन हितंकर एवं क्षेमंकर होता है। वह सर्वविरति चारित्र स्वीकार करते समय यह प्रतिज्ञा करता है कि त्रस जीव हो या स्थावर, सूक्ष्म जीव हो या बादर, किसी के प्राण का हनन न स्वयं करूंगा, न करवाऊंगा और न हनन करने वालों का अनुमोदन करूँगा। इसी के साथ भूतकाल में किए गए प्राणातिपात के पाप से विरत होता है और भविष्य कालिक समस्त प्राणातिपात (हिंसा) का त्रिकरण-त्रियोग से प्रत्याख्यान करता है। श्रमण इस महान प्रतिज्ञा का यावज्जीवन परिपालन करते हुए अनवरत मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्त रहता है।

यहाँ प्रश्न होता है अहिंसा प्रधान पंचयाम का आराधक मुनि स्वयं की देह यात्रा का निर्वहन किस तरह करता है? क्योंकि जब तक शरीर है तब तक उसका संपोषण आवश्यक है। वहीं लोक प्रवाह के विपरीत श्रमण पाक क्रिया का सर्वथा त्यागी होता है, क्रय-विक्रय का भी परित्यागी होता है और अपने पास एक कौड़ी तक नहीं रखता। इस स्थिति में उनकी देह-यात्रा कैसे चलती है? वह समस्त सावद्य (पापमय) प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यानी (त्यागी) भी होता है, तो ऐसी कौन सी असावद्य वृत्ति है जिसके द्वारा श्रमण की संयम यात्रा निर्दोष रूप से प्रवर्तित रहे और उसका देह भी साधना योग्य रहे?

सर्वज्ञ पुरुषों ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है जिस प्रकार भ्रमर फूलों में से थोड़ा-थोड़ा रसपान करता है जिससे न तो फूलों को पीड़ा होती है और उसकी तृप्ति भी हो जाती है उसी प्रकार साधु भी गृहस्थों द्वारा स्वयं एवं कुटुम्बिजनों के लिए तैयार किये गये भोजन में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे, जिससे गृहस्थों को किसी तरह की तकलीफ न हो और साधु के देह की परिपालना भी हो जाए, इसे माधुकरी वृत्ति कहते हैं। यह भिक्षाचर्या का श्रेष्ठ प्रकार है।

जिस प्रकार गाय थोड़ा-थोड़ा घास चरती हुई खेत को हानि पहुँचाए बिना अपना उदर निर्वाह कर लेती है उसी तरह साधु भी नाना घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करके गृहस्थों पर भार नहीं बनता और सहजतया अपना निर्वाह भी कर लेता है। साधुओं की इस वृत्ति को गोचरी या भिक्षाचरी कहा गया है। वस्तुत: माधुकरी वृत्ति ही वह निरवद्य प्रवृत्ति है जिससे संयम धर्म का निर्दोष परिपालन होने के साथ-साथ इस देह की धारणा या रक्षा भी हो जाती है।

जैन मुनि उदर पोषक नहीं होता। वह न खाने के लिए खाता है और न स्वाद के लिए खाता है। उसके आहार ग्रहण का उद्देश्य होता है और आहार त्याग का भी कारण होता है।

आहार ग्रहण के छह कारण बताये गये हैं– 1. क्षुधा वेदना की शान्ति के लिए 2. सेवा करने के लिए 3. ईर्या समिति का पालन करने के लिए 4. संयम के अनुष्ठान के लिए 5. प्राणों को टिकाए रखने के लिए और 6. धर्म चिन्तन के लिए आहार करना चाहिए।

निम्न कारणों के उपस्थित होने पर मुनि को आहार का परित्याग करना चाहिए–

1. रोग आने पर 2. उपसर्ग आने पर 3. भूख शान्त होने पर 4. ब्रह्मचर्य रक्षार्थ 5. प्राणिदयार्थ 6. शरीर व्युत्सर्गार्थ।

उक्त आगमिक उद्धरणों से ध्वनित होता है कि मुनि का आहार ग्रहण भी संयम के लिए है और आहार विसर्जन भी संयम के लिए होता है। उसका आहार करना भी संयम का उपकारक बनता है और आहार त्याग भी संयम का सहायक होता है।

●

आहार सम्बन्धी 47 दोषों की कथाएँ

आहारचर्या सम्बन्धी दोषों की चर्चा हमें अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है। परंतु लोकव्यवहार में कथानुयोग का विशेष महत्त्व रहा है। इसके माध्यम से किसी भी विषय का सुगमतापूर्वक प्रतिपादन हो सकता है। इसी कारण चार प्रकार के अनुयोग में कथानुयोग को स्थान प्राप्त हुआ। इसी पक्ष को ध्यान में रखकर आहार सम्बन्धी दोषों को कथाओं के माध्यम से बताया जा रहा है।

1. उद्गम : लड्डुकप्रियकुमार कथानक

श्रीस्थलक नामक नगर के राजा का नाम भानु था। उसकी पटरानी का नाम रुक्मिणी और पुत्र का नाम सुरूप था। पाँच धात्रियों के द्वारा राजकुमार का सुखपूर्वक पालन-पोषण हो रहा था। नागकुमार देवों की भाँति अनेक स्वजनों को आनंद देता हुआ कौमार्य अवस्था को प्राप्त हुआ। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भांति अनेक कलाओं से वृद्धिंगत होता हुआ, सुन्दर स्त्रियों के मन को प्रसन्न करता हुआ वह कुमार देखते ही देखते यौवन अवस्था को भी प्राप्त हो गया। उसे मोदक बहुत प्रिय थे अत: लोक में 'मोदकप्रिय' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन बसन्त ऋतु की प्रात: वेला में वह कुमार शयनकक्ष से उठकर सभामण्डप में गया। वहाँ सुंदर नृत्य आदि का आयोजन था। भोजन वेला आने पर उसकी माँ ने उसे मोदक भेजे। उसने परिजनों के साथ जी भर मोदक खाए। रात्रि में गीत-नृत्य आदि के कारण जागरण होने से वे मोदक पचे नहीं। अजीर्ण के प्रभाव से उसकी अपान वायु दूषित हो गई। वह दुर्गन्ध उसके नाक तक पहुँची। कुमार ने सोचा कि ये मोदक घृत, गुड़ और आटे से बने हैं। ये तीनों पदार्थ शुचि हैं लेकिन शरीर के सम्पर्क से ये अशुचि रूप में परिणत हो गए। कपूर आदि सुरभित पदार्थ भी शरीर के सम्पर्क से क्षण मात्र में दुर्गन्ध युक्त हो जाते हैं, इस प्रकार के अशुचि रूप तथा अनेक दोषों से युक्त इस शरीर के लिए जो व्यक्ति पाप कर्म का सेवन करते हैं, वे सचेतन होते हुए भी मोह निद्रा के कारण अचेतन जैसे ही होते हैं। वही विद्वत्ता प्रशंसनीय होती है जिसके माध्यम से हेय और उपादेय का चिन्तन किया जाए। वे व्यक्ति धन्य हैं, जो शरीर से निस्पृह होकर सम्यक् शास्त्र के अभ्यास से ज्ञानामृत के सागर में निमज्जन करते रहते हैं, शत्रु और मित्र के प्रति सम रहते हैं, परीषहों को जीतते हैं और कर्मों

के निर्मूलन के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। राजकुमार ने चिन्तन करते हुए सोचा कि मैं भी महान व्यक्तियों द्वारा आचीर्ण मार्ग का अनुगमन करूंगा। इस प्रकार उस मोदकप्रिय राजकुमार के मन में वैराग्य का उद्गम होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उद्गम हो गया और उसे कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[1]

2. आधाकर्म : पानक दृष्टांत

किसी गाँव में सारे कुएँ खारे पानी के थे। उस लवण प्रधान क्षेत्र में वसति निरीक्षण के लिए कुछ साधु आए। उन्होंने पूरे क्षेत्र की प्रतिलेखना की। तत्रस्थ निवासी श्रावकों के द्वारा सादर अनुरोध करने पर भी साधु वहाँ नहीं रुके। श्रावकों ने उनमें से किसी सरल साधु को वहाँ न रुकने का कारण पूछा। उसने सरलता से यथार्थ बात बताते हुए कहा– 'इस क्षेत्र में और सब गुण है' केवल खारा पानी है इसलिए साधु यहाँ नहीं रुकते। साधुओं के जाने पर श्रावक ने मीठे पानी का कूप खुदवाया। उसको खुदवाकर लोक प्रवृत्ति जनित पाप के भय से कूप का मुख फलक से तब तक ढँक दिया, जब तक कोई अन्य साधु वहाँ न आए। साधुओं के आने पर उसने सोचा कि केवल मेरे घर मीठा पानी रहेगा तो साधुओं को आधाकर्म की आशंका हो जाएगी, अत: उसने सब घरों में मीठा पानी भेज दिया। साधुओं ने बालकों के मुख से संलाप सुनकर जान लिया कि यह पानी आधाकर्मिक है। उन्होंने उस गाँव को छोड़ दिया।[2]

3. द्रव्यपूति : गोबर दृष्टांत

समिल्ल नामक नगर के बाहर उद्यान में मणिभद्र यक्ष था। एक दिन उस नगर में शीतलक नामक अशिव उत्पन्न हो गया। तब कुछ लोगों ने सोचा कि यदि इस अशिव से हम बच जायेंगे तो एक वर्ष तक अष्टमी आदि पर्व-तिथियों में उद्यापनिका करेंगे। नगर के सभी लोग उस अशिव से निस्तीर्ण हो गए। उन लोगों के मन में निश्चय हो गया कि यह सब यक्ष का चमत्कार है। तब देवशर्मा नामक व्यक्ति को वैतनिक रूप से पुजारी के रूप में नियुक्त करते हुए लोगों ने कहा– 'तुमको एक वर्ष तक अष्टमी आदि दिनों में प्रात:काल यक्ष-सभा को गोबर से लीपना है। उस स्वच्छ एवं पवित्र स्थान पर हम लोग आकर उद्यापनिका करेंगे।' देवशर्मा ने यह बात स्वीकार कर ली।

एक दिन उद्यापनिका के लिए सभा को लीपने हेतु वह सूर्योदय से पूर्व किसी कुटुम्बी के यहाँ गोबर लेने गया। वहाँ रात्रि में किसी कर्मचारी को मण्डक, वल्ल

और सुरा का पान करने से अजीर्ण हो गया था। पश्चिम रात्रि में उसने गाय के बाड़े में दुर्गन्ध युक्त अजीर्ण मल का विसर्जन किया। उसके ऊपर किसी भैंस ने आकर गोबर कर दिया। ऊपर गोबर होने से वह दुर्गन्ध युक्त मल ढँक गया। अत: देवशर्मा को अंधेरे में ज्ञात नहीं हो सका। वह गोबर सहित मल को लेकर गया और उससे सभा को लीप दिया। उद्यापनिका करने वाले लोग अनेकविध भोजन सामग्री लेकर वहाँ प्रविष्ट हुए। वहाँ उनको अत्यन्त दुर्गन्ध आने लगी, उन्होंने देवशर्मा से पूछा कि वह अशुचि पूर्ण दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है? उसने कहा– 'मुझे ज्ञात नहीं है।' उन लोगों ने सभा के आंगन को ध्यान से देखा तो वहाँ वल्ल आदि के अवयव दिखाई दिए तथा मदिरा की गंध भी आने लगी। उन लोगों को ज्ञात हुआ कि गोबर के मध्य में पुरीष भी था। सभी लोगों ने भोजन को अशुचि मानकर छोड़ दिया। आंगन के लेप को समूल उखाड़कर दूबारा दुसरे गोबर से सभा का लेप करवाया तथा भोजन भी दूसरा पकाकर खाया।[3]

4. क्रीतकृत दोष : मंख दृष्टांत

शालिग्राम नामक गाँव में देवशर्मा नामक मंख रहता था। उसके गृह के एक देश में कुछ साधुओं ने वर्षावास के लिए प्रवास किया। वह मंख उन साधुओं के राग-द्वेष रहित अनुष्ठान को देखकर उनका अत्यन्त भक्त बन गया। वह प्रतिदिन उनको आहार आदि के लिए निमंत्रित करता था। शय्यातर पिण्ड समझकर साधु सदैव उसका निषेध करते थे। मंख ने सोचा कि ये साधु मेरे घर से भक्त-पान आदि ग्रहण नहीं करते हैं, यदि मैं इनको अन्यत्र स्थान पर भिक्षा दूंगा तो भी ये ग्रहण नहीं करेंगे अत: जब ये विहार करके आगे जायेंगे तब मैं भी आगे जाकर किसी भी प्रकार इनको भिक्षा दूंगा। वर्षावास के कुछ दिन शेष रहने पर उसने साधुओं से पूछा– 'चातुर्मास के पश्चात आप किस दिशा में जायेंगे? साधुओं ने सहजता से उत्तर दिया कि अमुक दिशा में जायेंगे। वह मंख उसी दिशा में किसी गोकुल में अपने पट को दिखाकर वचन-कौशल से लोगों के चित्त को आकृष्ट करने लगा। लोग उसको घी, दूध आदि देने लगे। मंख ने कहा– 'जब मैं आप लोगों से मांगू, तब आप लोग घी, दूध आदि देना।'

चातुर्मास के पश्चात साधु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। मंख ने अपने आपको प्रकट न करते हुए पूर्व प्रतिषिद्ध घरों से दूध, घी आदि की याचना करके एक घर में उनको एकत्र कर लिया। उसने साधुओं को निमंत्रित किया। छद्मस्थ होने

के कारण साधु उसको पहचान नहीं सके। शुद्ध आहार समझकर उन्होंने दूध, घी आदि ग्रहण कर लिया। इस प्रकार क्रीत आहार ग्रहण करते हुए भी साधु दोष के भागी नहीं हुए क्योंकि उन्होंने यथाशक्ति भगवान की आज्ञा की आराधना की थी।[4]

5. लौकिक प्रामित्य : भगिनी दृष्टांत

कौशल जनपद के किसी गाँव में देवराज नामक कौटुम्बिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम सारिका था। उसके सम्मत आदि अनेक पुत्र तथा सम्मति आदि अनेक पुत्रियाँ थीं। पूरा कुटुम्ब अत्यन्त धार्मिक था। उसी गाँव में शिवदेव नाम का श्रेष्ठी और उसकी पत्नी शिवा रहती थी। एक बार उस गाँव में समुद्रघोष नामक आचार्य आए। आचार्य के मुख से जिनप्रणीत धर्म को सुनकर सम्मत के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु की कृपा से वह बहुश्रुत बन गया। एक बार उसके मन में चिन्तन उभरा कि यदि मेरा कोई स्वजन दीक्षा ले तो अच्छा रहेगा। यही वास्तविक उपकार है कि व्यक्ति को संसार-सागर से पार किया जाए। ऐसा सोचकर गुरु से पूछकर वह अपने बंधु के ग्राम में आया। गाँव के बाहर उसने किसी वृद्ध व्यक्ति से पूछा कि यहाँ देवराज नामक कौटुम्बिक के परिवार वाले कोई व्यक्ति रहते हैं क्या? वृद्ध ने उत्तर दिया–' उस परिवार के सब व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं, केवल सम्मति नामक विधवा पुत्री जीवित है।' ऐसा सुनकर साधु उसके घर गया। भाई को आते देखकर वह मन में बहुत प्रसन्न हुई। आदर पूर्वक वंदना, भक्ति और पर्युपासना करके वह उनके निमित्त आहार बनाने के लिए उपस्थित हुई। साधु ने उसको रोकते हुए कहा–'हमारे निमित्त बनाया हुआ आहार अकल्पनीय है।'

गरीबी के कारण भिक्षा वेला में उसको कहीं भी तेल की प्राप्ति नहीं हुई। आखिर किसी भी प्रकार शिवदेव नामक वणिक् की दुकान से वह दो पलिका तेल प्रतिदिन दुगुने ब्याज की वृद्धि के आधार पर उधार लेकर आई। भाई मुनि को वह वृत्तान्त ज्ञात नहीं था अतः उन्होंने शुद्ध समझकर उसे ग्रहण कर लिया। उस दिन भ्राता साधु से प्रवचन सुनने में व्यस्त रहने के कारण वह पानी लाकर दो पलिका तेल का ब्याज नहीं उतार सकी। दूसरे दिन भाई का विहार होने से उसके वियोग में वह उस तेल के ब्याज की पूर्ति नहीं कर सकी। तीसरे दिन उसका

ऋण दो कर्ष हो गया। अत्यधिक ऋण होने के कारण वह उसकी पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो सकी। भोजन के लिए उसने पूरे दिन श्रम किया लेकिन ऋण को चुकाना संभव नहीं हो सका। दुगुने वृद्धि के क्रम में ऋण अपरिमित हो गया। तब श्रेष्ठी ने सम्मति से कहा– 'या तो तुम मेरा तेल दो अन्यथा मेरा दासत्व स्वीकार करो।' तेल देने में असमर्थ उसने सेठ का दासत्व स्वीकार कर लिया।

कुछ वर्ष बीतने पर सम्मत नामक साधु पुन: उसी गाँव में विहार करते हुए पहुँचा। उसने अपनी बहिन को घर पर नहीं देखा। बहिन के आने पर उसने घर छोड़ने का कारण पूछा। बहिन ने पुराना सारा घटना क्रम बताकर शिवदेव वणिक के यहाँ दासत्व की बात बताई और दु:ख के कारण रोने लगी। साधु ने कहा–'तुम रुदन मत करो, मैं शीघ्र ही तुमको दासत्व से मुक्त करवा दूंगा।' बहिन को दासत्व से मुक्त करने का उपाय सोचते हुए वह सर्वप्रथम शिवदेव सेठ के घर में पहुँचा। उसकी पत्नी शिवा भिक्षा देने हेतु हाथ धोने के लिए उद्यत हुई। साधु ने हाथ धोने के लिए उसको निवारित करते हुए कहा– 'हाथ धोने से हमको भिक्षा नहीं कल्पती।' पास में बैठे सेठ ने कहा– 'इसमें क्या दोष है?' तब साधु ने हाथ धोने से होने वाली षट्काय विराधना की बात विस्तार से कही। साधु की बात सुनकर उसने आदरपूर्वक पूछा–"भगवन्! आपकी वसति कहाँ है? मैं आपके पास आकर धर्म सुनूंगा।" साधु ने कहा–'अभी तक मेरा कोई उपाश्रय निश्चित नहीं हुआ है।' तब सेठ ने अपने घर के एक कोने में साधु को रहने के लिए स्थान दे दिया।

सेठ साधु से प्रतिदिन धर्म सुनता था। सेठ ने सम्यक्त्व एवं अणुव्रत स्वीकार कर लिए। साधु ने एक दिन वासुदेव आदि पूर्वज पुरुषों द्वारा आचीर्ण अभिग्रहों का वर्णन किया। साधु ने बताया कि वासुदेव कृष्ण ने यह अभिग्रह स्वीकार किया था कि यदि मेरा कोई पुत्र भी प्रव्रज्या ग्रहण करेगा तो मैं उसमें बाधक नहीं बनूंगा। इस बात को सुनकर शिवदेव ने भी अभिग्रह ग्रहण कर लिया–'यदि मेरे घर का कोई सदस्य दीक्षा ग्रहण करेगा तो मैं उसको नहीं रोकूंगा।' कुछ समय पश्चात शिवदेव का ज्येष्ठ पुत्र और मुनि की बहिन सम्मति दीक्षा के लिए तैयार हो गए। सेठ ने दोनों को दीक्षा की अनुमति दे दी और उन्होंने प्रव्रज्या स्वीकृत कर ली।[5]

6. परिवर्तित दोष : लौकिक दृष्टांत

बसन्तपुर नगर में निलय नामक श्रेष्ठी था। उसकी पत्नी का नाम सुदर्शना था। उसके दो पुत्र थे– क्षेमंकर और देवदत्त। उसकी पुत्री का नाम लक्ष्मी था। उसी नगर में तिलक नामक सेठ रहता था, जिसकी पत्नी का नाम सुन्दरी था। उसके धनदत्त नामक पुत्र बंधुमती नामक पुत्री थी। क्षेमंकर ने समित आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। देवदत्त के साथ बंधुमती तथा धनदत्त के साथ लक्ष्मी का विवाह हुआ।

एक बार कर्मयोग से धनदत्त को दरिद्रता का सामना करना पड़ा। दारिद्रय के कारण वह प्राय: कोद्रव धान्य का भोजन करता था। देवदत्त धनाढ्य था अत: वह सदैव शाल्योदन का भोजन करता था। एक बार क्षेमंकर साधु ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ आए। उन्होंने सोचा कि यदि मैं देवदत्त भाई के घर जाऊंगा तो मेरी बहिन के मन में चिन्तन आएगा कि मैं दारिद्रय से अभिभूत हूँ इसलिए मेरा दीक्षित भाई मेरे घर नहीं आया। वह पराभव का अनुभव करेगी अत: अनुकम्पा वश उसने उसके घर में प्रवेश किया। भिक्षा वेला आने पर लक्ष्मी ने चिन्तन किया– 'प्रथम तो यह मेरा भाई है, दूसरा यह साधु है और अभी अतिथि भी है। मेरे घर शाल्योदन नहीं है' अत: कोद्रव देकर ओदन लेकर आ गई।

इसी बीच देवदत्त भोजन हेतु अपने घर आ गया। भोजन परिवर्तन की बात अज्ञात होने से कोद्रव भोजन को देखकर उसने सोचा कि बंधुमती ने कृपणता से आज शाल्योदन न बनाकर कोद्रव का भोजन तैयार किया है। उसने बंधुमती को मारना शुरु कर दिया। प्रताड़ित होती हुई वह बोली– 'मुझे क्यों मार रहे हो? तुम्हारी बहिन कोद्रव को छोड़कर शाल्योदन ले गई है।' धनदत्त भी जब भोजन के लिए बैठा तो बंधुमती ने क्षेमंकर मुनि को भिक्षा देकर बचे हुए शाल्योदन परोसे। उसने पूछा– 'शाल्योदन कहाँ से आया?' सारा वृत्तान्त सुनकर धनदत्त कुपित होकर बोला–'पापिनी! तुमने अपने घर से शाल्योदन पकाकर साधु को क्यों नहीं दिए? दूसरे घर से शाल्योदन मांगकर तुमने मेरा अपमान किया है।' उसने भी बंधुमती को प्रताड़ित किया। साधु ने दोनों घरों में होने वाले वृत्तान्त को लोगों से सुना। रात्रि में क्षेमंकर मुनि ने सबको प्रतिबोध देते हुए कहा– 'इस प्रकार का परिवर्तित भोजन हमारे लिए कल्पनीय नहीं है। अज्ञानतावश मैंने ग्रहण कर लिया। कलह आदि दोष के कारण भगवान ने इसका प्रतिषेध किया

है।' क्षेमंकर मुनि ने जिनप्रणीत धर्म का विस्तार से प्ररूपण किया। सबको वैराग्य पैदा हो गया। मुनि ने सबको दीक्षा प्रदान कर दी।[6]

7. अभ्याहृत दोष : मोदक दृष्टांत

किसी गाँव में धनावह आदि अनेक श्रावक तथा धनवती आदि अनेक श्राविकाएँ रहती थी। वे सब एक कुटुम्ब से सम्बन्धित थे। एक बार उनके यहाँ किसी का विवाह था। विवाह सम्पन्न होने पर अनेक मोदक बच गए। उन लोगों ने सोचा कि मोदक साधु को भिक्षा में देने चाहिए, जिससे हमको बड़े पुण्य की प्राप्ति होगी। कुछ साधु दूर हैं, कुछ पास है, लेकिन बीच में नदी है। वे अप्काय की विराधना के भय से यहाँ नहीं आयेंगे। आ भी जायेंगे तो प्रचुर मोदकों को देखकर उन्हें आधाकर्म की शंका हो जाएगी अत: वे इनको ग्रहण नहीं करेंगे। इसलिए जिस गाँव में साधु रहते हैं वहीं प्रच्छन्न रूप से मोदक ले जायेंगे। उन्होंने वैसा ही किया।

वहाँ जाने पर पुन: उन्होंने चिन्तन किया कि यदि साधु को बुलाकर दूंगा तो वह अशुद्ध की आशंका से ग्रहण नहीं करेंगे अत: कुछ मोदक ब्राह्मण आदि को भी देना चाहिए। यदि साधु ब्राह्मण आदि को देते हुए नहीं देखेंगे तो उनको अशुद्ध की आशंका हो जाएगी। साधु जिस मार्ग से पंचमी समिति (उच्चार आदि के लिए) जाते हैं, उस मार्ग में देने से साधु उसे देखेंगे। इस प्रकार चिन्तन करके उन्होंने किसी देवकुल के बहिर्भाग में द्विज आदि को थोड़े-थोड़े मोदक देने प्रारंभ कर दिए। उच्चार आदि के लिए निकले साधुओं ने उन्हें ब्राह्मणों को दान देते देखा। श्रावकों ने उनको निमंत्रित करते हुए कहा– 'हमारे यहाँ प्रचुर मात्रा में मोदक बच गए हैं, आप इन्हें ग्रहण करें।' साधुओं ने शुद्ध जानकर लड्डु ग्रहण कर लिए। उन साधुओं ने शेष साधुओं को भी कहा कि अमुक स्थान पर प्रचुर एषणीय मोदक आदि उपलब्ध हैं। तब वे भी उसे ग्रहण करने हेतु वहाँ गए। कुछ श्रावकों ने उन्हें प्रचुर मात्रा में मोदक आदि दिए। कुछ ने माया पूर्वक उन्हें रोकते हुए कहा– 'इनको इतने ही मोदक दो, अधिक नहीं। शेष हमारे भोजन के लिए चाहिए।' कुछ श्रावक पुन: उन्हें रोकते हुए कहने लगे– हम सब लोगों ने खा लिए अत: कोई भी नहीं खाएगा। साधु को यथेच्छ मात्रा में दो, शेष थोड़ा बचने से भी कार्य हो जाएगा।' जिन साधुओं को नवकारसी का प्रत्याख्यान था, उन्होंने मोदक खा लिए। जिनके पोरसी थी, वे खा रहे थे तथा जिन साधुओं के अजीर्ण आदि था, वे दिन के पूर्वार्द्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने कुछ नहीं खाया था।

श्रावकों ने चिन्तन किया कि अब तक सभी साधुओं ने खा लिया होगा अत: वंदना करके अपने स्थान पर चले जाना चाहिए। प्रहर से अधिक समय बीतने के बाद वे श्रावक साधु के उपाश्रय में गए और नैषिधिकी आदि श्रावकों की सारी क्रियाएँ की। साधुओं ने जाना कि ये श्रावक अत्यन्त विवेकी हैं। बातचीत के दौरान साधुओं को ज्ञात हुआ कि ये अमुक ग्राम के निवासी हैं। चिन्तन करने पर साधुओं ने निष्कर्ष निकाला कि वे अवश्य ही हमारे लिए अपने ग्राम से मोदक लेकर आए हैं। जिन साधुओं ने खा लिया, उनको छोड़कर जो पूर्वार्द्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे तथा जो खा रहे थे उन्होंने अपने हाथ का कवल पात्र में डाल दिया। जो कवल मुख में डाल दिया था, उसे निगला नहीं, मुख से निकालकर समीपवर्ती मल्लक पात्र में डाल दिया। पात्रगत सारा आहार और मोदक परिष्ठापित कर दिए। श्रावक और श्राविकाएँ क्षमायाचना करके अपने गाँव में वापस चले गए। जिन्होंने भोजन किया अथवा आधा किया, वे भी अशठभाव के कारण निर्दोष थे।[7]

8. मालापहृत दोष : भिक्षु दृष्टांत

जयन्तपुर[8] नामक नगर में यक्षदत्त नामक गृहपति था। उसकी पत्नी का नाम वसुमती था। एक बार उनके घर में धर्मरुचि नामक साधु ने भिक्षार्थ प्रवेश किया। उस साधु को संयतेन्द्रिय, राग-द्वेष रहित तथा एषणा समिति से युक्त देखकर यक्षदत्त के मन में दान देने की विशेष भावना जाग गई। उसने अपनी पत्नी वसुमती को कहा– 'इन साधुओं को मोदकों का दान दो' मोदक ऊपर के माले में छींके पर रखे गए मध्य घड़े में रखे हुए थे। वह उनको लेने के लिए उठी। साधु मालापहृत भिक्षा को जानकर घर से बाहर चले गए। तत्काल उसी घर में भिक्षार्थ किसी अन्य भिक्षु ने प्रवेश किया। यक्षदत्त ने उस भिक्षु से पूछा– 'अमुक साधु ने छींके से उतारकर दी गई भिक्षा को ग्रहण क्यों नहीं किया? प्रवचन-मात्सर्य के कारण भिक्षु ने कहा– 'इन लोगों ने कभी अपने जीवन में दान नहीं दिया अत: इनको पूर्व कर्म के कारण धनाढ्य घरों का स्निग्ध और मधुर भोजन नहीं मिलता है। ये गरीब घरों से अन्त-प्रान्त भोजन प्राप्त करते हैं।' यक्षदत्त ने भिक्षु को मोदक देने हेतु वसुमती को कहा। वह छींके पर रखे घट से मोदक लेने के लिए उठी। घट में उत्तम द्रव्य से निष्पन्न मोदक की गंध से कोई सर्प आकर बैठ गया। वसुमती ने एड़ी के बल पर खड़े होकर मोदक लेने के

लिए हाथों को अंदर डाला तो कामुक व्यक्ति की भाँति सर्प ने उसके हाथ को जकड़ लिया। 'हाय मुझे सर्प ने काट लिया' इस प्रकार चिल्लाती हुई वह भूमि पर गिर पड़ी। यक्षदत्त ने फुंकार करते हुए सर्प को देखा। उसने तत्काल सर्प का विष उतारने वाले मंत्रविदों को बुलाया। अनेक प्रकार की औषधियाँ लाई गई। आयुष्य बल शेष रहने के कारण मंत्र और औषधि के प्रभाव से वह स्वस्थ हो गई।

दूसरे दिन वही धर्मरुचि साधु भिक्षार्थ वहाँ आया। यक्षदत्त ने मुनि को उपालम्भ देते हुए कहा–'तुम्हारा धर्म दया प्रधान है फिर भी क्या वह तुम्हारे लिए उचित है कि सांप को देखते हुए भी आपने कल उसकी उपेक्षा कर दी।' मुनि ने कहा– मैंने उस समय सांप को नहीं देखा था। हमारे सर्वज्ञ का यह उपदेश है कि साधु को मालापहृत भिक्षा नहीं लेनी चाहिए इसलिए मैं आपके घर से वापस लौट गया था।' यक्षदत्त ने अपने मन में सोचा– 'भगवान ने भिक्षुओं के लिए दोष रहित धर्म का उपदेश दिया है।' इस प्रकार चिन्तन करके यक्षदत्त ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक धर्मरुचि साधु को वंदना की। वंदना करके उनसे जिनप्रणीत धर्म के बारे में पूछा। मुनि ने संक्षेप में धर्म का उपेदश दिया। उनको हेय और उपादेय का ज्ञान हो गया। मध्याह्न में गुरु के पास जाकर दम्पति ने धर्म का श्रवण किया। वैराग्य होने से उन्होंने वहीं दीक्षा ग्रहण कर ली।[9]

9. आच्छेद्य दोष : गोपालक दृष्टांत

बसन्तपुर नामक नगर में जिनदास नामक श्रावक था। उसकी पत्नी का नाम रुक्मिणी था। जिनदास के घर में वत्सराज नामक ग्वाला रहता था जो आठवें दिन सभी गाय एवं भैंसों का दूध अपने घर ले जाता था जिससे घी बनाता था। एक दिन एक साधु भिक्षार्थ वहाँ आया। उस दिन ग्वाले की पूरा दूध लेने की बारी थी। उसने सभी गाय और भैंसों का अच्छी तरह दोहन किया। जिनदास प्रवचन के प्रति अत्यन्त अनुरक्त था। साधु को आते हुए देखकर उसने भक्तिपूर्वक भोजन-पानी आदि दिया। 'भोजन के अंत में दूध लेना चाहिए' यह सोचकर भक्तिवश सेठ ने ग्वाले से दूध छीनकर थोड़ा दूध साधु को दे दिया। ग्वाले के मन में साधु के प्रति थोड़ा द्वेष आ गया लेकिन मालिक के भय से वह कुछ नहीं बोल सका। वह दूध के पात्र को घर लेकर गया।

न्यून दुग्ध पात्र को देखकर उसकी पत्नी ने रोष पूर्वक पूछा– 'यह दुग्ध

पात्र आज थोड़ा खाली कैसे है?' ग्वाले ने सारी बात यथार्थ रूप से बता दी। उसकी पत्नी को भी साधु के ऊपर क्रोध आ गया। उसके बच्चों ने कम दूध को देखकर रोना प्रारंभ कर दिया। अपने पूरे कुटुम्ब को आकुल-व्याकुल देखकर साधु के प्रति वह ग्वाला अत्यन्त कुपित हो गया। वह साधु को मारने के लिए घर से चला। उसने किसी स्थान पर भिक्षाटन करते हुए साधु को दूर से देखा। वह लकड़ी लेकर साधु को मारने के लिए उनके पीछे दौड़ा। साधु पीछे कुपित ग्वाले को देखकर समझ गए कि निश्चय ही जिनदास ने बल पूर्वक दूध छीनकर मुझे दिया है इसलिए यह मुझे मारने के लिए आ रहा है। साधु ने प्रसन्नता पूर्वक उसके सम्मुख खड़े रहना उचित समझा और ग्वाले से कहा– 'हे गोपालक! तुम्हारे स्वामी ने आग्रह पूर्वक दूध मुझे भिक्षा में दे दिया अब तुम अपने दूध को वापस ले लो।' साधु के इस प्रकार कहने से उसका क्रोध ठण्डा हो गया और वह शान्त होकर बोला– 'हे साधु! मैं तुम्हें मारने के लिए आया था लेकिन इस समय तुम्हारे वचनामृत के सिंचन से मेरा सारा क्रोध शान्त हो गया। तुम इस दूध को अपने पास रखो। आज मैं तुमको छोड़ता हूँ लेकिन भविष्य में कभी आच्छेद्य आहार को ग्रहण नहीं करना' ऐसा कहकर ग्वाला अपने घर लौट गया और साधु भी अपने उपाश्रय में पहुँच गया।[10]

10. अनिसृष्ट दोष : लड्डुक दृष्टांत

रत्नपुर नगर में मणिभद्र नामक युवक अपने 32 मित्रों के साथ रहता था। एक बार उन सभी ने किसी तप के उद्यापन के लिए साधारण मोदक बनवाए और समूह रूप से उद्यापनिका में गए। वहाँ उन्होंने एक व्यक्ति को मोदक की रक्षा के लिए छोड़ दिया। शेष 31 साथी नदी में स्नान करने हेतु चले गए। इसी बीच कोई लोलुप साधु वहाँ भिक्षार्थ उपस्थित हुआ। उसने मोदकों को देखा। लोलुपता के कारण उस साधु ने धर्मलाभ देकर उस पुरुष से मोदकों की याचना की। उस व्यक्ति ने उत्तर दिया– 'ये मोदक केवल मेरे अधीन नहीं है, अन्य 31 साथियों की भी इसमें सहभागिता है अत: मैं अकेला इन्हें कैसे दे सकता हूँ? ऐसा कहने पर साधु बोला– 'वे कहाँ गए हैं?' वह बोला– 'वे सब नदी में स्नान करने हेतु गए हैं।' ऐसा सुनकर साधु ने पुन: कहा–'क्या दूसरों के मोदकों को देकर तुम दान पुण्य नहीं कर सकते? तुम मूढ़ हो जो मेरे द्वारा मांगने पर भी दूसरों के लड्डुओं का दान देकर पुण्य नहीं कमा रहे हो? यदि मुझे 32 मोदक

देते हो तो भी तुम्हारे भाग में एक ही मोदक आता है। यदि 'अल्पवय और बहुदान' इस सिद्धान्त को सम्यक् रूप से जानते हो तो मुझे सारे मोदक दे दो। साधु के द्वारा ऐसा कहने पर उसने सारे मोदक साधु को दे दिए। लड्डुओं से पात्र भरने पर हर्ष से आप्लावित होकर वह साधु उस स्थान से जाने लगा।

इसी बीच साधु को मणिभद्र आदि साथी सम्मुख आते हुए मिल गए। उन्होंने साधु से पूछा–'भगवन्! आपको यहाँ किस वस्तु की प्राप्ति हुई?' साधु ने सोचा कि यदि ये मोदक के स्वामी हैं तो मोदक प्राप्ति की बात सुनकर पुनः मुझसे मोदक ग्रहण कर लेंगे, इसलिए 'मुझे कुछ भी प्राप्ति नहीं हुई' ऐसा कहूंगा। उसने वैसा ही कहा। मणिभद्र आदि साथियों को भार से आक्रांत पात्र देखकर शंका हो गई। उन्होंने कहा– 'हम आपका पात्र देखना चाहते हैं।' साधु ने पात्र नहीं दिखाया। तब उन्होंने बल पूर्वक साधु का पात्र देखा और कुपित होकर मोदक रक्षक पुरुष से पूछा– 'तुमने इस साधु को सारे मोदक कैसे दिए?' वह भय से कांपता हुआ बोला– 'मैंने इनको मोदक नहीं दिए।' यह सुनकर मणिभद्र आदि सभी साथी साधु से बोले–'तुम चोर हो तथा साधु-वेश की विडम्बना करने वाले हो। तुम्हारा मोक्ष कहाँ है' ऐसा कहकर उन्होंने साधु का वस्त्र खींचा। उसके बाद रजोहरण आदि सब कुछ लेकर उसको 'पच्छाकड़' यानी पूर्ववत गृहस्थ को बना दिया। फिर साधु राजकुल में ले गए और धर्माधिकारी को सारी बात बताई। उन्होंने साधु से सारी बात पूछी किन्तु लज्जा के कारण वह कुछ भी कहने में समर्थ नहीं हो सका। तब न्याय करने वाले अधिकारियों ने चिंतन किया– 'यह निश्चित ही चोर है लेकिन वेशधारी साधु है अतः उसे जीवित छोड़कर देश निकाला दे दिया।[11]

11. धात्रीदोष : संगमसूरि और दत्त की कथा

कोल्लकिर नगर में वृद्धावस्था के कारण जंघा बल से हीन संगम आचार्य प्रवास करते थे। एक बार दुर्भिक्ष होने पर सिंह नामक शिष्य को आचार्य बनाकर उसे सुभिक्ष क्षेत्र में भेजकर दिया। वे स्वयं एकाकी रूप से वहीं रहने लगे। क्षेत्र को नौ भागों में विभक्त करके यतनापूर्वक मासकल्प और चातुर्मास करने लगे। एक वर्ष बीतने पर सिंह आचार्य ने अपने गुरु संगम आचार्य की स्थिति जानने के लिए दत्त नामक शिष्य को भेजा। वह जिस क्षेत्र में आचार्य को छोड़कर गया था, आचार्य उसी वसति में प्रवास कर रहे थे। दत्त ने अपने मन में चिंतन

किया– 'आचार्य ने भाव रूप से मास कल्प का पालन नहीं किया है, अत: शिथिल आचार वालों के साथ नहीं रहना चाहिए। यह सोचकर वह वसति के बाहर मण्डप में रुक गया। उसने आचार्य को वंदना तथा कुशलक्षेम की पृच्छा की। दत्त ने सिंह द्वारा प्रदत्त संदेश आचार्य को बताया। भिक्षा वेला में वह आचार्य के साथ भिक्षार्थ गया। सामान्य घरों से भिक्षा ग्रहण करके उसका मुख म्लान हो गया। तब आचार्य ने उसके भावों को जानकर किसी धनाढ्य सेठ के घर प्रवेश किया। वहाँ व्यन्तर अधिष्ठित होने के कारण एक बालक सदैव रोता था। आचार्य ने एक चिमटी बजाकर कहा– 'वत्स! रोओ मत।' आचार्य के ऐसा कहने पर उनके प्रभाव से वह पूतना व्यन्तरी अट्टहास करती हुई वहाँ से अन्यत्र चली गई। बालक का रोना बंद हो गया। गृहस्वामी इस बात से अत्यन्त प्रसन्न हो गया। उसने साधु को भिक्षा में अनेक मोदक दिए। दत्त मोदक को ग्रहण कर प्रसन्न मन से अपनी वसति में आ गया।

आचार्य अपने शरीर के प्रति निस्पृह थे अत: आगम विधि के अनुसार अंत-प्रान्त कुलों में भिक्षा करके उपाश्रय में लौटे। प्रतिक्रमण वेला में आचार्य ने शिष्य दत्त से कहा–'वत्स! धात्री पिण्ड और चिकित्सा पिण्ड की आलोचना करो।' दत्त बोला–'मैं आपके साथ ही भिक्षार्थ गया अत: मुझे धात्री पिण्ड परिभोग का दोष कैसे लगा?' आचार्य ने कहा– 'लघु बालक को क्रीड़ा कराने से क्रीड़न धात्री पिण्ड तथा चिमटी बजाने से बालक पूतना से मुक्त हुआ, यह चिकित्सा पिण्ड हो गया।' तब द्वेष युक्त मन से दत्त ने चिन्तन किया–'आचार्य स्वयं तो भावत: मासकल्प नहीं करते और प्रतिदिन ऐसा पिण्ड लेते हैं। मैंने तो एक ही दिन ऐसा आहार लिया, फिर भी मुझे आलोचना करने की बात कह रहे हैं।' इस प्रकार चिन्तन करके प्रद्वेष पूर्वक वसति से बाहर चला गया।

आचार्य के प्रति द्वेष देखकर उनके गुणों के प्रति आकृष्ट एक देवता ने दत्त को शिक्षा देने के लिए वसति में अंधकार कर दिया और तेज वायु के साथ वर्षा की विकुर्वणा कर दी। भयभीत होकर उसने आचार्य से कहा– 'मैं कहाँ जाऊं?' तब निर्मल हृदय से आचार्य ने कहा– 'वत्स! यहाँ वसति में आ जाओ।' दत्त बोला– 'अंधकार के कारण मुझे द्वार दिखाई नहीं दे रहा है।' आचार्य ने अनुकम्पा से श्लेष्म लगाकर अंगुली को ऊपर किया। वह दीपशिखा की भांति प्रज्वलित हो गई। तब उस दुष्ट चित्त वाले दत्त ने चिन्तन किया–

'अहो! आचार्य के पास परिग्रह के रूप में अग्नि भी है।' इस प्रकार चिन्तन करने पर देवता ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा– 'हे अधम शिष्य! गुणों से युक्त आचार्य के बारे में भी तुम इस प्रकार का चिन्तन करते हो।' तब देवता ने मोदक-प्राप्ति की यथार्थ बात शिष्य को बताई। शिष्य के भावों में परिवर्तन हुआ। उसने आचार्य से क्षमा मांगी और सम्यक रूप से आलोचना की।[12]

12. दूती दोष : धनदत्त कथा

विस्तीर्ण ग्राम के पास गोकुल नामक गाँव था। वहाँ धनदत्त नामक कौटुम्बिक था। उसकी पत्नी का नाम प्रियमति तथा पुत्री का नाम देवकी था। उसी गाँव में सुंदर नामक युवक से उसका विवाह हुआ। उसके पुत्र का नाम बलिष्ठ और पुत्री का नाम रेवती था। पुत्री का विवाह गोकुल ग्राम में संगम के साथ हुआ। आयु पूर्ण होने पर प्रियमती कालगत हो गई। धनदत्त भी संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेकर गुरु के साथ विहरण करने लगा। कालान्तर में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धनदत्त अपनी पुत्री देवकी के गाँव में आया। उस समय उन दोनों गाँवों में परस्पर वैर चल रहा था। विस्तीर्ण ग्रामवासियों ने गोकुल ग्राम के ऊपर हमला करने की सोची। धनदत्त मुनि गोकुल ग्राम में भिक्षा के लिए प्रस्थित हुए तब शय्यातरी देवकी ने कहा– 'आप गोकुल ग्राम में जा रहे हैं। वहाँ अपनी दोहित्री रेवती को कहना कि तुम्हारी माँ ने संदेश भेजा है कि यह गाँव तुम्हारे गाँव के ऊपर दस्यु-दल के साथ प्रच्छन्न रूप से हमला करने आयेगा अत: अपने सभी कुटुम्बियों को एकान्त में सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दो।' साधु ने सारी बात रेवती को कह दी। रेवती ने अपने पति को सारी बात बताई। उसने सारे गाँव को यह सूचना दे दी। सारा गाँव कवच आदि पहनकर युद्ध के लिए तैयार हो गया।

दूसरे दिन सेना विस्तीर्ण गाँव में पहुँची और युद्ध प्रारंभ हो गया। सुन्दर और बलिष्ठ दोनों दस्युदल के साथ गए। संगम गोकुल में ही था। वे तीनों युद्ध में काल कवलित हो गए। देवकी ने पति, पुत्र और जंवाई के मरण को सुनकर विलाप करना प्रारंभ कर दिया। लोग उसे समझाने के लिए आए। उन्होंने कहा– 'यदि गोकुल ग्राम में सैन्य बल आने की सूचना नहीं होती तो वे सन्नद्ध होकर युद्ध नहीं करते और न ही तुम्हारे पति आदि की मृत्यु होती। किस दुरात्मा ने गोकुल गाँव में सूचना भेजी?' लोगों से इस प्रकार की बात सुनकर देवकी रूदन

करते हुए बोली– 'जानकारी के अभाव में मैने अपने पिता मुनि के साथ अपनी पुत्री को संदेश भेजा था।' इस कारण ग्रामवासी मुनि धनदत्त को धिक्कारने लगे। प्रवचन की भी अवहेलना होने लगी।[13]

13. निमित्त दोष : ग्रामभोजक दृष्टांत

एक गाँव में नैमित्तिक साधु रहता था। उस गाँव का नायक अपनी पत्नी को छोड़कर दिग्यात्रा पर गया हुआ था। उस पत्नी को नैमित्तिक ने अपने निमित्त ज्ञान से आकृष्ट कर लिया। दूरस्थ ग्राम नायक ने सोचा– 'मैं प्रच्छन्न रूप से अकेला जाकर अपनी पत्नी की चेष्टाएँ देखूंगा कि वह दुःशीला है अथवा सुशीला?' उस नैमित्तिक साधु से अपने पति के आगमन की बात जानकर उसने अपने परिजनों को सामने भेजा। ग्रामनायक ने परिजनों से पूछा–'तुम लोगों को मेरे आगमन की बात कैसे ज्ञात हुई?' उन्होंने कहा– 'तुम्हारी पत्नी ने यह बात बताई है।' उसने मन में चिन्तन किया कि मेरी पत्नी ने मेरे आगमन की बात कैसे जानी?

साधु उस समय ग्राम भोजक के घर आ गया। उसने विश्वासपूर्वक पति के साथ हुए वार्तालाप, चेष्टा, स्वप्न तथा शरीर के मष, तिलक आदि के बारे में बताया। इसी बीच ग्राम भोजक अपने घर आ गया। उसने पति का यथोचित सत्कार किया। उसने पूछा– 'तुमने मेरे आगमन की बात कैसे जानी? वह बोली– 'साधु के निमित्त ज्ञान से मुझे जानकारी मिली।' भोजक ने कहा–'क्या उसकी और भी कोई विश्वास पूर्ण बात है?' तब उसने बताया कि आपके साथ जो भी वार्तालाप, चेष्टाएँ आदि की हैं, जो मैंने स्वप्न आदि देखें हैं, मेरे गुह्य प्रदेश में जो तिलक है, वह भी इस नैमित्तिक साधु ने यथार्थ बता दिए हैं, तब भोजक ने ईर्ष्या और क्रोध वश उस साधु से पूछा– 'इस घोड़ी के गर्भ में क्या है?' साधु ने बताया– 'पंचपुंड वाला घोड़ी का बच्चा।' तब उसने सोचा–'यदि यह बात सत्य होगी तो मेरी भार्या को बताए गए मष, तिलक आदि का कथन भी सत्य होगा। अन्यथा अवश्य ही यह विरुद्ध कर्म करने वाला व्यभिचारी है अतः मारने योग्य है।' इस प्रकार चिन्तन करके उसने घोड़ी का पेट चीरा, उसमें से परिस्पंदन करता हुआ पंचपुंड किशोर निकला। उसको देखकर उसका क्रोध शांत हो गया। वह साधु से बोला– 'यदि यह बात सत्य नहीं होती तो तुम भी इस दुनिया में नहीं रहते।[14]

14. चिकित्सा दोष : सिंह दृष्टांत

एक अटवी में एक व्याघ्र अंधा हो गया। अंधेपन के कारण उसे भक्ष्य मिलना दुर्लभ हो गया। एक वैद्य ने उसका अंधापन मिटा दिया। स्वस्थ होते ही व्याघ्र ने सबसे पहले उसी वैद्य का घात किया, फिर वह जंगल में अन्य पशुओं को भी मारने लगा।[15]

15. क्रोधपिण्ड : क्षपक दृष्टांत

हस्तकल्प नगर में किसी ब्राह्मण के घर में मृतभोज था। उस भोज में एक मासक्षमण की तपस्या वाला साधु पारणे के लिए भिक्षार्थ पहुँचा। उसने ब्राह्मणों को घेवर का दान देते हुए देखा। उस तपस्वी साधु को द्वारपाल ने रोक दिया। साधु कुपित होकर बोला–'आज नहीं दोगे तो कोई बात नहीं, अगले महीने तुम्हें मुझको देना होगा।' ऐसा कहते हुए वह घर से निकल गया। देव योग से उसका कौटुम्बिक व्यक्ति पाँच-छह दिन के बाद दिवंगत हो गया। उसके मृत भोज वाले दिन वही साधु मासक्षमण के पारणे हेतु वहाँ पहुँचा। उस दिन भी द्वारपाल ने उसको रोक दिया। मुनि कुपित होकर पुन: बोला–'आज नहीं तो फिर कभी देना होगा।' मुनि की यह बात सुनकर स्थविर द्वारपाल ने चिन्तन किया कि पहले भी इस साधु ने दो बार इसी प्रकार श्राप दिया था। घर के दो व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो गए। इस बार तीसरा अवसर है। अब घर का कोई व्यक्ति न मरे, अत: उसने गृहनायक को सारी बात बताई। गृहनायक ने आदर पूर्वक साधु से क्षमायाचना की तथा घेवर आदि वस्तुओं की भिक्षा दी।[16]

16. मानपिण्ड : सेवई दृष्टांत

कौशल जनपद के गिरिपुष्पित नगर[17] में सिंह नामक आचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ आए। एक बार वहाँ सेवई बनाने का उत्सव आया। उस दिन सूत्र पौरुषी के बाद सब तरुण साधु एकत्रित हुए। उनका आपस में वार्तालाप होने लगा। उनमें से एक साधु बोला–'इतने साधुओं में कौन ऐसा है, जो प्रात:काल ही सेवई लेकर आएगा।' गुणचन्द्र नामक क्षुल्लक बोला– 'मैं लेकर आऊंगा।' साधुओं ने कहा– 'यदि सेवई सब साधुओं के लिए पर्याप्त नहीं होगी अथवा घृत या गुड़ से रहित होगी तो हम उसका प्रयोग नहीं करेंगे, तुम्हें घृत और गुड़ से युक्त पर्याप्त सेवई ही लानी होगी।' क्षुल्लक बोला– 'जैसी तुम्हारी इच्छा होगी, वैसी ही सेवई लेकर आऊंगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह नंदीपात्र

लेकर भिक्षार्थ गया। उसने किसी कौटुम्बिक के घर में प्रवेश किया। साधु ने वहाँ पर्याप्त सेवई देखी। वह प्रचुर घी और गुड़ से संयुक्त थी। साधु ने अनेक वचोविन्यास पूर्वक सुलोचना नामक गृहिणी से सेवई की याचना की। गृहस्वामिनी ने साधु को भिक्षा देने के लिए सर्वथा प्रतिषेध करते हुए कहा– 'मैं तुमको कुछ भी नहीं दूंगी।' तब क्रोध पूर्वक क्षुल्लक मुनि ने कहा– 'मैं निश्चित्त रूप से घी और गुड़ से युक्त इस सेवई को ग्रहण करूंगा।' क्षुल्लक के वचनों को सुनकर सुलोचना भी क्रोधावेश में आकर बोली–'यदि तुम इस सेवई को किसी भी प्रकार प्राप्त करोगे तो मैं समझूंगी कि तुमने मेरे नासापुट में प्रस्रवण किया है।' तब क्षुल्लक ने सोचा–'मुझे अवश्य ही इस घर से सेवई प्राप्त करना है।' दृढ़ निश्चय करके वह घर से निकला और पार्श्व के किसी व्यक्ति से पूछा–'यह किसका घर है?' व्यक्ति ने बताया कि यह विष्णु मित्र का घर है। क्षुल्लक ने पुनः पूछा कि वह विष्णु मित्र इस समय कहां है? व्यक्ति ने उत्तर दिया–'वह अभी परिषद् के बीच है।'

क्षुल्लक ने परिषद् के बीच में जाकर पूछा–'तुम लोगों के बीच में विष्णुमित्र कौन है?' लोगों ने कहा–'विष्णुमित्र से आपको क्या प्रयोजन है?' साधु ने कहा–'मैं उससे कुछ याचना करूँगा।' विनोद करते हुए उन्होंने कहा– 'वह बहुत कृपण है अतः आपको कुछ नहीं देगा। आपको जो मांगना है, वह हमसे मांगो।' तब विष्णुमित्र ने सोचा कि इतने लोगों के बीच मेरी अवहेलना न हो अतः उनके सामने बोला–'मैं ही विष्णुमित्र हूँ मुझसे कुछ भी मांगो।'

तब क्षुल्लक बोला–'यदि तुम छह प्रकार के महिला आधीन व्यक्तियों में से नहीं हो तो मैं याचना करूंगा।' तब परिषद् के लोगों ने पूछा–'वे छह महिला प्रधान पुरुष कौन हैं? क्षुल्लक ने कहा कि उन छह पुरुषों के नाम इस प्रकार हैं– 1. श्वेताङ्गुलि 2. बकोड्डायक 3. किंकर 4. स्नायक 5. गृध्रइवरिङ्खी और 6. हदज्ञ। इस प्रकार क्षुल्लक द्वारा छहों व्यक्तियों का वर्णन सुनकर परिषद् के लोगों ने अट्टहास करते हुए कहा– 'इसमें छहों पुरुषों के गुण हैं इसलिए इस महिला प्रधान पुरुष से मांग मत करो।' विष्णुमित्र[18] बोला–'मैं इन छह पुरुषों के समान नहीं हूँ अतः तुम मांग करो।' उसके आग्रह पर क्षुल्लक बोला–'मुझे घृत और गुड़ संयुक्त पात्र भरकर सेवई दो।' विष्णुमित्र बोला– मैं तुमको यथेच्छ सेवई दूंगा।' तब वह विष्णुमित्र क्षुल्लक को लेकर अपने घर की ओर गया। घर

के द्वार पर पहुँचने पर क्षुल्लक ने कहा–'मैं पहले भी तुम्हारे घर आया था लेकिन तुम्हारी भार्या ने कहा कि मैं तुमको कुछ भी नहीं दूंगी इसलिए तुमको जो उचित लगे, वह करो।' क्षुल्लक के ऐसा कहने पर विष्णुमित्र बोला– 'यदि ऐसी बात है तो तुम कुछ समय के लिए घर के बाहर रुको, मैं स्वयं तुमको बुला लूंगा।

विष्णुमित्र घर में प्रविष्ट हुआ। उसने अपनी पत्नी से पूछा–'क्या सेवई पका ली?' उसको घी और गुड़ से युक्त कर दिया? पत्नी ने कहा– 'मैंने सारा कार्य पूर्ण कर दिया।' विष्णुमित्र ने गुड़ को देखकर कहा– 'यह गुड़ थोड़ा है, इतना गुड़ पर्याप्त नहीं होगा, अत: माले पर चढ़कर अधिक गुड़ लेकर आओ, जिससे मैं ब्राह्मणों को भोजन करवाऊंगा।' पति के वचन सुनकर वह नि:श्रेणी के माध्यम से माले पर चढ़ी। चढ़ते ही विष्णुमित्र ने नि:श्रेणी वहाँ से हटा दी। विष्णुमित्र ने क्षुल्लक को बुलाकर पात्र भरकर सेवई का दान दिया। उसके बाद उसने घी और गुड़ आदि देना प्रारंभ किया। इसी बीच गुड़ लेकर सुलोचना माले से उतरने के लिए तत्पर हुई लेकिन वहाँ नि:श्रेणी को नहीं देखा। उसने आश्चर्यचकित होकर क्षुल्लक को घृत, गुड़ से युक्त सेवई देते हुए देखकर सोचा कि मैं इस क्षुल्लक से पराजित हो गई अत: उसने ऊपर खड़े-खड़े ही चिल्लाते हुए कहा– 'इस क्षुल्लक को दान मत दो।' क्षुल्लक ने भी उसकी ओर देखकर अपनी नाक पर अंगुली रखकर यह प्रदर्शित किया कि मैंने तुम्हारे नासापुट में प्रस्रवण कर दिया है। क्षुल्लक घृत और गुड़ से युक्त सेवई का पात्र लेकर अपने उपाश्रय में चला गया।[19]

17. मायापिण्ड : आषाढ़भूति कथानक

राजगृह नगरी में सिंहरथ नामक राजा राज्य करता था। वहाँ विश्वकर्मा नामक नट की दो पुत्रियाँ थीं। वे अत्यन्त सुरूप एवं सुघड़ देहयष्टि वाली थीं। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्मरुचि आचार्य वहाँ आए। उनके एक अंत:वासी शिष्य का नाम आषाढ़भूति था। वे भिक्षार्थ घूमते हुए विश्वकर्मा नट के घर में प्रविष्ट हुए। वहाँ उसने विशिष्ट मोदक प्राप्त किया। नट के गृह द्वार से बाहर निकल आषाढ़भूति मुनि ने सोचा– 'यह मोदक तो आचार्य के लिए होगा अत: रूप-परिवर्तन करके अपने लिए भी एक मोदक प्राप्त करूंगा।' उसने आँख से काने मुनि का रूप बनाया और दूसरा मोदक प्राप्त किया। बाहर निकलकर पुन: चिन्तन किया– 'यह उपाध्याय के लिए होगा' अत: पुन: कुब्ज

का रूप बनाकर नट के घर में प्रवेश किया। तीसरा मोदक प्राप्त करके मुनि ने सोचा कि यह सामुदायिक मुनि के लिए होगा अत: इस बार कुष्ठी का रूप धारण करके घर में प्रवेश किया। मुनि को चौथा मोदक प्राप्त हो गया। माले के ऊपर बैठे विश्वकर्मा ने इतने रूपों का परिवर्तन करते हुए देखा। उसने सोचा कि यदि यह हमारे बीच रहे तो अच्छा रहेगा लेकिन इसको किस विधि से आकृष्ट करना चाहिए, यह सोचते हुए नट के मन में एक युक्ति उत्पन्न हुई। उसने सोचा– मुनि के मन को पुत्रियों के द्वारा विचलित करके ही संसार की और खींचा जा सकता है।

नट माले से उतरकर मुनि के पास गया और आदरपूर्वक पात्र भरकर मोदकों का दान दिया। नट ने कहा–'मैं आपसे प्रतिदिन हमारे घर भोजन-पानी ग्रहण करने का अनुग्रह करता हूँ।' वह अपने उपाश्रय में चला गया। विश्वकर्मा ने अपने परिवार के समक्ष आषाढ़भूति की रूप परिवर्तन विद्या के बारे में बताया तथा अपनी दोनों पुत्रियों से कहा कि तुमको स्नेहयुक्त दृष्टि से दान करते हुए मुनि को अपनी ओर आकृष्ट करना है। मुनि आषाढ़भूति प्रतिदिन भिक्षार्थ आने लगे। दोनों पुत्रियों ने वैसा ही किया। मुनि को अपनी ओर अनुरक्त देखकर एक बार एकान्त में उन्होंने मुनि से कहा– 'हमारा मन आपके प्रति अत्यधिक आकृष्ट है अत: हमारे साथ विवाह करके भोगों का सेवन करो।'

यह सुनकर मुनि आषाढ़भूति के चारित्रमोहनीय कर्म का उदय हुआ, जिससे गुरु का उपदेश हृदय से निकल गया। कुल और जाति का अभिमान समाप्त हो गया। मुनि ने दोनों नट-कन्याओं को कहा– 'ऐसा ही होगा, लेकिन पहले मैं गुरु चरणों में मुनि वेश छोड़कर आऊंगा।' आषाढ़भूति मुनि गुरु चरणों में प्रणत हुए और अपने अभिप्राय को प्रकट कर दिया। गुरु ने प्रेरणा देते हुए कहा– 'वत्स! तुम जैसे विवेकी, शास्त्रज्ञ व्यक्ति के लिए दोनों लोक में निंदनीय यह आचरण उचित नहीं है। दीर्घकाल तक शील का पालन करके अब विषयों में रमण मत करो। क्या समुद्र को बाहों से तैरने वाला व्यक्ति गोपद जितने स्थान में डूब सकता है? आषाढ़भूति ने कहा– 'आपका कथन सत्य है लेकिन प्रतिकूल कर्मों के उदय से प्रतिपक्ष भावना रूप कवच के दुर्बल होने पर, कामदेव का आघात होने से तथा मृगनयनी रमणी की कटाक्ष से मेरा हृदय पूर्ण रूपेण जर्जर हो गया है।' इस तरह कहकर उसने गुरु-चरणों में रजोहरण छोड़

दिया। उपकारी गुरु को पीठ न हो इन भावों से वह पैरों को पीछे करता रहा। 'किस प्रकार गुरु के चरण-कमलों को प्राप्त करूंगा' इस प्रकार अनेकों विकल्पों के साथ वसति से निकलकर वह विश्वकर्मा के भवन में आ गया।

नट कन्याओं ने आदरपूर्वक मुनि के शरीर को अनिमिष दृष्टि से देखा। उन्होंने अनुभव किया कि मुनि का रूप आश्चर्यजनक है। शरद चन्द्रमा के समान मनोहर इसका मुख मण्डल है। कमलदल की भांति दोनों आँखें हैं, नुकीली नाक तथा कुंद के फूलों की भांति श्वेत और स्निग्ध दाँतों की पंक्ति है। कपाट की भांति विशाल और मांसल वक्षस्थल है। सिंह की भांति कटि प्रदेश तथा कूर्म की भांति चरण युगल हैं।

विश्वकर्मा ने आदर सहित मुनि को कहा– 'अहो भाग! ये मेरी दोनों कन्याएँ आपको समर्पित हैं। आप इन्हें स्वीकार करें।' नट ने दोनों कन्याओं के साथ आषाढ़भूति का विवाह कर दिया। विश्वकर्मा ने अपनी दोनों कन्याओं को कहा– 'जो व्यक्ति मन की ऐसी स्थिति को प्राप्त करके भी गुरु-चरणों की स्मृति करता है, वह नियम से उत्तम प्रकृति वाला होता है अत: इसके चित्त को आकृष्ट करने के लिए तुम्हें सदा मद्यपान से रहित रहना है अन्यथा यह तुमसे विरक्त हो जाएगा।'

आषाढ़भूति सकल कलाओं के ज्ञान में कुशल तथा नाना प्रकार के विज्ञानातिशय से युक्त था अत: सभी नटों में अग्रणी हो गया। वह सर्वत्र प्रभूत धन तथा वस्त्र-आभरण आदि प्राप्त करता था। एक बार राजा ने नटों को बुलाया और आदेश दिया कि आज बिना महिलाओं का नाटक करना है। सभी नट अपनी युवतियों को घर पर छोड़कर राजकुल में गए। आषाढ़भूति की पत्नियों ने सोचा कि हमारा पति राजकुल में गया है अत: सारी रात वहीं बीत जाएगी। तो क्यों न आज हम इच्छानुसार मदिरा-पान करें, उन्होंने वैसा ही किया परन्तु उन्मत्तता के कारण वस्त्र रहित होकर घर की दूसरी मंजिल पर सो गई।

इधर राजकुल में किसी दूसरे राष्ट्र का दूत आने के कारण राजा का चित्त विक्षिप्त हो गया।' 'यह नाटक का समय नहीं है' यह सोचकर राजा ने सारे नटों को वापस लौटा दिया। जब आषाढ़भूति ने दूसरी मंजिल में पहुँचकर अपनी दोनों पत्नियों को वस्त्र रहित वीभत्स रूप में देखा तो उसने चिन्तन किया– अहो! मेरी कैसी मूढ़ता है? विवेक वैकल्य है, जो मैंने इस प्रकार की अशुचि

युक्त तथा अधोगति की कारणभूत स्त्रियों के लिए मुक्तिपद के साधन संयम को छोड़ दिया। अभी भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ा है। मैं गुरु चरणों में जाकर पुनः चारित्र ग्रहण करूंगा और पाप-पंक का प्रक्षालन करूंगा।' यह सोचकर आषाढ़भूति अपने घर से निकलने लगा। विश्वकर्मा ने उसको देख लिया। आषाढ़भूति के चेहरे के हाव-भाव से उसने जान लिया कि यह संसार से विरक्त हो चुका है। उसने अपनी दोनों पुत्रियों को उठाकर उपालम्भ देते हुए कहा– 'तुम्हारी इस प्रकार की उन्मत्त चेष्टाओं को देखकर सकल निधान का कारण तुम्हारा पति तुमसे विरक्त हो गया है। यदि तुम उसे लौटा सको तो प्रयत्न करो, अन्यथा जीवन चलाने के लिए धन की याचना करो।'

दोनों पत्नियाँ वस्त्र पहनकर आषाढ़भूति के लिए दौड़ीं और पैरों में गिर पड़ीं। उन्होंने निवेदन करते हुए कहा– 'स्वामिन्! हमारे एक अपराध को क्षमा करके आप पुनः घर लौट आओ। विरक्त होकर इस प्रकार हमें मझधार में मत छोड़ो।' उनके द्वारा ऐसा कहने पर भी उसका मन विचलित नहीं हुआ। पत्नियों ने कहा–'यदि आप गृहस्थ जीवन नहीं जीना चाहते हैं तो हमें जीवन चलाने जितना धन दो, जिससे आपकी कृपा से हम अपना शेष जीवन भलीभांति बिता सकें।' अनुकम्पावश आषाढ़भूति ने उनके इस निवेदन को स्वीकार कर लिया और पुनः घर आ गया।

आषाढ़भूति ने भरत चक्रवर्ती के चरित्र को प्रकट करने वाले 'राष्ट्रपाल' नामक नाटक की तैयारी की। विश्वकर्मा ने राजा सिंहरथ को निवेदन किया कि आषाढ़भूति ने 'राष्ट्रपाल' नामक नाटक की रचना की है। आप उसका आयोजन करवाएँ। नाटक के मंचन हेतु उनको आभूषण पहने हुए 500 राजपुत्र चाहिए। राजा ने 500 राजपुत्रों को आज्ञा दे दी। आषाढ़भूति ने उनको सम्यक प्रकार से प्रशिक्षित किया। नाटक प्रारंभ हुआ। आषाढ़भूति ने भरत चक्रवर्ती का रोल प्रस्तुत किया और राजपुत्रों ने भी यथायोग्य अभिनय किया।

नाटक के दौरान आषाढ़भूति ने 500 राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की। नाटक से संतुष्ट राजा ने तथा सभी लोगों ने यथाशक्ति हार, कुंडल आदि आभूषण प्रभूत मात्रा में फेंके। सब लोगों को धर्मलाभ देकर आषाढ़भूति 500 राजकुमारों के साथ राजकुल से बाहर जाने लगे। राजा ने उनको रोका। तब उन्होंने उत्तर दिया– 'क्या भरत चक्रवर्ती प्रव्रज्या लेकर वापिस संसार में लौटे

थे, जब वे वह नहीं लौटा तो मैं भी नहीं लौटूंगा।' सपरिवार आषाढ़भूति गुरु के समीप गये। वस्त्र-आभरण आदि सब अपनी दोनों पत्नियों को दे दिए और पुन: दीक्षा ग्रहण कर ली। वही नाटक विश्वकर्मा ने कुसुमपुर नगर में भी प्रस्तुत किया। वहाँ भी 500 क्षत्रिय प्रव्रजित हो गए। लोगों ने सोचा–इस प्रकार क्षत्रियों द्वारा प्रव्रज्या लेने पर यह पृथ्वी क्षत्रिय रहित हो जाएगी अत: उन्होंने नाटक की पुस्तक को अग्नि में जला दिया।[20]

18. लोभपिण्ड : सिंहकेशरक मोदक दृष्टांत

चम्पा नगरी में सुव्रत नामक साधु प्रवास कर रहा था। एक बार वहाँ मोदकोत्सव का आयोजन हुआ। उस दिन सुव्रत मुनि ने सोचा कि मुझे आज किसी भी प्रकार सिंहकेशरक मोदक प्राप्त करने हैं। लोगों के प्रतिषेध करने पर भी वह दो प्रहर तक घूमता रहा। मोदक की प्राप्ति न होने पर उसका चित्त विक्षिप्त हो गया। अब वह हर घर के द्वार पर प्रवेश करके 'धर्मलाभ' के स्थान पर 'सिंहकेशरक मोदक' कहने लगा। पूरे दिन और रात्रि के दो प्रहर बीतने पर भी मोदक के लिए घूमता रहा। अर्ध रात्रि में उसने एक श्रावक के घर प्रवेश किया। 'धर्मलाभ' के स्थान पर उसने सिंहकेशरक शब्द का उच्चारण किया। वह श्रावक बहु गीतार्थ और दक्ष था। उसने सोचा–निश्चय ही इस मुनि को सिंहकेशरक मोदक की तीव्र इच्छा है, इसलिए इसका चित्त विक्षिप्त हो गया है। मुनि की चैतसिक स्थिरता हेतु श्रावक बर्तन भरकर सिंहकेशरक मोदक लेकर आया और निवेदन किया–'मुने! इन मोदकों को आप ग्रहण करो।' मुनिसुव्रत ने उनको ग्रहण कर लिया। मोदक ग्रहण करते ही उसका चित्त स्वस्थ हो गया। श्रावक ने पूछा–'आज मैंने पूर्वार्द्ध का प्रत्याख्यान किया था, वह पूर्ण हुआ या नहीं?' मुनिसुव्रत ने काल ज्ञान हेतु उपयोग लगाया। मुनि ने आकाश-मण्डल को तारागण से परिमण्डित देखा। उसको चैतसिक भ्रम का ज्ञान हो गया। मुनि ने पश्चात्ताप करना प्रारंभ कर दिया–'हा! मूढ़तावश मैंने गलत आचरण कर लिया। लोभ से अभिभूत मेरा जीवन व्यर्थ है।' श्रावक को संबोधित करते हुए मुनि ने कहा– 'तुमने पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान की बात कहकर मुझे संसार में डूबने से बचा लिया। तुम्हारी प्रेरणा मेरे लिए संबोध देने वाली रही।' आत्मा की निंदा करते हुए उसने विधि पूर्वक मोदकों का परिष्ठापन किया तथा ध्यानाग्नि के द्वारा क्षण मात्र में घाति कर्मों का नाश कर दिया। आत्मचिंतन से मुनि को कैवल्य की प्राप्ति हो गई।[21]

19. विद्या प्रयोग : भिक्षु-उपासक की कथा

गंधसमृद्ध नगर में धनदेव नामक भिक्षु उपासक रहता था। साधुओं के घर आने पर वह उनको भिक्षा में कुछ नहीं देता था। एक बार कुछ तरुण साधु एक साथ एकत्रित होकर वार्तालाप करने लगे। एक युवक साधु ने कहा– 'यह धनदेव अत्यन्त कंजूस है, साधुओं को कुछ भी नहीं देता है। क्या कोई साधु ऐसा है, जो इससे घृत, गुड़ आदि का दान ले सके?' उनमें से एक साधु बोला– 'यदि तुम लोगों की इच्छा है तो मुझे विद्यापिंड की आज्ञा दो, मैं उससे दान दिलवाऊंगा।' साधु उसके घर गया। घर को अभिमंत्रित करके वह साधुओं से बोला–'क्या दिलवाऊं?' साधुओं ने कहा–'घृत, गुड़ और वस्त्र आदि।' धनदेव ने प्रचुर मात्रा में साधुओं को घृत, गुड़ आदि दिया। उसके बाद क्षुल्लक ने विद्या प्रतिसंहृत कर ली। भिक्षु उपासक धनदेव के ऊपर से मंत्र का प्रभाव समाप्त हो गया। वह स्वाभावस्थ हो गया। जब उसने घृत, गुड़ आदि को देखा तो उसे वे मात्रा में कम दिखाई दिए। उसने पूछा– 'मेरे घी, गुड़ आदि की चोरी किसने की?' इस प्रकार कहते हुए उसने विलाप करना प्रारंभ कर दिया। तब परिजनों ने उसे समझाते हुए कहा–'तुमने स्वयं अपने हाथों से साधुओं को घी, गुड़ आदि का दान दिया है, फिर तुम इस प्रकार विलाप क्यों कर रहे हो?' उनकी बात सुनकर वह मौन हो गया।[22]

20. मंत्र प्रयोग : मुरुण्ड राजा एवं पादलिप्तसूरि कथानक

प्रतिष्ठानपुर नगर[23] में मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। वहाँ पादलिप्त आचार्य का प्रवास था। एक बार मुरुण्ड राजा के सिर में वेदना उत्पन्न हो गई। विद्या, मंत्र आदि के द्वारा भी कोई उसे शान्त नहीं कर सका। राजा ने पादलिप्त आचार्य को बुलाया, उनका स्वागत करते हुए राजा ने अकारण होने वाली शिरोवेदना के बारे में बताया। लोगों को ज्ञात न हो इस प्रकार मंत्र का ध्यान करते हुए वस्त्र के मध्य में अपनी दाहिनी जंघा के ऊपर दाहिने हाथ की प्रदेशिनी अंगुली को जैसे-जैसे घुमाया, वैसे-वैसे राजा की शिरोवेदना दूर होने लगी। धीरे-धीरे पूरे सिर का दर्द दूर हो गया। मुरुण्ड राजा आचार्य पादलिप्त का भक्त बन गया। उसने आचार्य को विपुल भोजन आदि का दान दिया।[24]

21. चूर्ण प्रयोग : क्षुल्लकद्वय एवं चाणक्य कथानक

कुसुमपुर नगर[25] में चन्द्रगुप्त नामक राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम चाणक्य था। वहाँ जंघाबल से क्षीण सुस्थित[26] नामक आचार्य प्रवास करते थे। एक बार भयंकर दुर्भिक्ष हो गया। आचार्य ने सोचा– 'समृद्ध नामक शिष्य को आचार्य पद पर स्थापित करके सकल गच्छ के साथ इसे किसी सुभिक्ष वाले स्थान में भेज दूंगा।' आचार्य ने उसको एकान्त में योनिप्राभृत की वाचना देनी प्रारंभ की। किसी प्रकार दो क्षुल्लकों ने अदृश्य करने वाले अंजन बनाने की व्याख्या सुन ली। उस अंजन को आंखों में लगाने से व्यक्ति किसी को दिखाई नहीं देता।

योनिप्राभृत की व्याख्या में समर्थ होने के बाद आचार्य ने अपने शिष्य समृद्ध को आचार्यपद पर स्थापित कर दिया। आचार्य ने सकल गच्छ के साथ उसको देशान्तर में भेज दिया। आचार्य स्वयं एकाकी रूप से वहाँ रहने लगे। कुछ दिनों के बाद आचार्य के स्नेह से अभिभूत होकर वे दोनों क्षुल्लक आचार्य के पास आए। जो कुछ भी प्राप्त होता, आचार्य उसे क्षुल्लक भिक्षुओं को बांटकर आहार करते थे। वे स्वयं कम आहार लेते भिक्षुओं को अधिक देते थे। आहार की कमी से आचार्य का शरीर दुर्बल हो गया। तब क्षुल्लकद्वय ने सोचा आचार्य हमारी वजह से ऊणोदरी कर रहे है अत: हम पूर्व श्रुत अंजन का प्रयोग करके चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करेंगे। उन्होंने वैसा ही किया। आहार की कमी से चन्द्रगुप्त का शरीर कृश होने लगा। चाणक्य ने उनसे पूछा–'आपका शरीर दुर्बल क्यों दिखाई दे रहा है?' राजा चन्द्रगुप्त ने कहा– 'परिपूर्ण आहार की प्राप्ति न होने से।' तब चाणक्य ने चिन्तन किया– 'इतना आहार परोसने पर भी आहार की कमी कैसे हो सकती है? ऐसा लगता है कि निश्चित ही कोई अंजन सिद्ध व्यक्ति राजा के साथ भोजन करता है।' तब उसने अंजन सिद्ध को पकड़ने के लिए भोजन मण्डप में अत्यन्त सूक्ष्म इष्टक चूर्ण विकीर्ण कर दिया। चाणक्य ने चूर्ण पर चिह्नित मनुष्य के पैरों के चिह्नों को अंकित देखा। चाणक्य को निश्चय हो गया कि दो अंजन सिद्ध व्यक्ति यहाँ आते हैं। चाणक्य ने द्वार को ढँककर भोजन-मण्डप में चारो ओर धूम कर दिया। धूम से बाधित नयनों से आँसू बहने के साथ अंजन भी साफ हो गया। अञ्जन का प्रभाव समाप्त होने पर दोनों क्षुल्लक प्रकट हो गए। चन्द्रगुप्त ने जुगुप्सा के साथ कहा– 'अहो! इनका झूठा भोजन करने से मैं दूषित हो गया।' चाणक्य ने शासन और प्रवचन की अवहेलना न हो इसलिए एक समाधान खोजा। उसने राजा को कहा–'राजन्!

तुम धन्य हो। इन बाल ब्रह्मचारी यतियों ने तुमको पवित्र कर दिया है लेकिन तुम्हारे उच्छिष्ट भोजन से ये अपवित्र हो गए हैं।' चाणक्य ने क्षुल्लकद्वय को वंदना करके भेज दिया।

रात्रि में चाणक्य आचार्य के पास गया और आचार्य को उपालम्भ देते हुए कहा– 'ये तुम्हारे दोनों क्षुल्लक प्रवचन की अप्रभावना कर रहे हैं।' तब आचार्य ने चाणक्य को उपालम्भ देते हुए कहा–'इसके लिए तुम ही अपराधी हो क्योंकि श्रावक होते हुए भी तुम दोनों क्षुल्लकों के जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं करते हो। इस दुर्भिक्ष काल में साधु का जीवन भलीभांति कैसे चल सकता है, क्या तुमने इसके बारे में कभी सोचा?' 'भगवन्! आपका कथन सत्य है' ऐसा कहते हुए चाणक्य उनके पैरों मे गिर पड़ा और क्षमायाचना की। इसके बाद चाणक्य ने सकल संघ की भिक्षा हेतु यथायोग्य चिन्ता की।[27]

22. योग प्रयोग : कुलपति एवं आर्य समित कथानक

अचलपुर[28] नामक नगर के पास कृष्णा और वेन्ना नामक दो नदियाँ थीं। दोनों नदियों के बीच ब्रह्मा नामक द्वीप था। वहाँ पाँच सौ तापसों के साथ देवशर्मा नामक कुलपति निवास करता था। वह संक्रांति आदि पर्व दिनों में अपने तीर्थ की प्रभावना के लिए सब तापसों के साथ पाद लेप करके कृष्णा नदी पर पैरों से चलकर अचलपुर जाता था। लोग उसके इस अतिशय को देखकर विस्मित हो जाते और विशेष रूप से भोजन आदि द्वारा सत्कार करते थे। लोग साधुओं की निंदा करते हुए श्रावकों को कहते थे–'तुम लोगों के पास ऐसी शक्ति नहीं हो सकती।' श्रावकों ने यह बात वज्रस्वामी के मामा आचार्य समित को बताई। उन्होंने चिन्तन करके श्रावकों से कहा– 'यह कुलपति माया पूर्वक पादलेप करके नदी पार करता है, तप-शक्ति के प्रभाव से नहीं। यदि गर्म जल से उसके पैर धो दिए जाएं तो वह नदी पार नहीं कर सकेगा।' तब श्रावकों ने उसकी माया को प्रकट करने के लिए कुलपति को सपरिवार भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजन-वेला में कुलपति वहाँ पहुँचा। श्रावकों ने उसका पाद-प्रक्षालन करना प्रारंभ किया लेकिन पाद-लेप दूर होने के भय से उसने पैरों को आगे नहीं किया। तब श्रावकों ने कहा– 'बिना पाद-प्रक्षालन किए आपको भोजन करवाने से हमको अविनय दोष लगेगा। विनय पूर्वक दिया गया दान अधिक फलदायी होता है।' श्रावकों ने बल पूर्वक पैर आगे करके उनको प्रक्षालित कर

दिया। भोजन के बाद कुलपति अपने स्थान पर जाने के लिए तैयार हुआ। श्रावक भी सब लोगों को बुलाकर उनके पीछे-पीछे चलने लगे। कुलपति ने सपरिवार कृष्णा नदी को पार करने हेतु नदी में पैर रखा लेकिन पादलेप के अभाव में वह डूबने लगा। लोगों में उसकी निंदा होने लगी।

इसी बीच उसे बोध देने के लिए आचार्य समित वहाँ आए। उन्होंने सब लोगों के सामने नदी से कहा– 'हे कृष्णे! हम उस पार जाना चाहते हैं।' तब कृष्णा नदी के दोनों किनारे आपस में मिल गए। नदी की चौड़ाई उनके पैरों जितनी हो गई। आचार्य कदम रखकर नदी के उस पार चले गये। पीछे से नदी चौड़ी हो गई पुन: उसी प्रकार वे वापस आ गए। यह देखकर कुलपति एवं सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। कुलपति ने अपने पाँच सौ तापसों के साथ आर्य समित के पास दीक्षा ग्रहण की और वह आगे जाकर ब्रह्मशाखा के रूप में प्रसिद्ध हुई।[29]

23. मूलकर्म प्रयोग : भिन्नयोनिका कन्या का दृष्टांत

किसी नगर में धन नामक श्रेष्ठी अपनी भार्या धनप्रिया के साथ रहता था। उसकी पुत्री का नाम सुन्दरी था। वह भिन्नयोनिका (खुली हुई योनि वाली) थी। यह बात उसकी माँ को ज्ञात थी, पिता को नहीं। उसके पिता ने किसी धनाढ्य श्रेष्ठी के पुत्र के साथ उसका विवाह निश्चित कर दिया। विवाह का समय निकट आने लगा। माँ को चिन्ता हुई कि यदि शादी के बाद इसका पति इसे भिन्नयोनि का जानकर छोड़ देगा तो यह बेचारी दु:ख का अनुभव करेगी। इसी बीच किसी साधु का वहाँ भिक्षार्थ आगमन हुआ। मुनि ने उदासी का कारण पूछा। माँ ने सारी बात बता दी। साधु ने कहा– 'तुम डरो मत, मैं इसे अक्षतयोनि वाली बना दूंगा।' तब मुनि ने उसे आचमन औषध और पान औषध बताई। औषध के प्रभाव से वह अक्षतयोनिका बन गई और यावज्जीवन भोग भोगने में समर्थ हो गई।[30]

24. छर्दित दोष : मधु-बिन्दु दृष्टांत

वारत्तपुर[31] नामक नगर में अभयसेन नामक राजा रहता था। उसके मंत्री का नाम वारत्रक था। एक बार एषणा समिति से धीरे-धीरे चलते हुए धर्मघोष नामक साधु भिक्षार्थ किसी घर में प्रविष्ट हुए। मंत्री की पत्नी ने साधु को भिक्षा देने के लिए घृत शर्करा युक्त पायस के पात्र को उलटा। शर्करा मिश्रित एक घृत बिंदु

भूमि पर गिर गया। तब सागर की भांति गंभीर, मेरु की भांति निष्प्रकम्प, वसुधा की भांति सर्वंसह, शंख की भांति राग आदि से निर्लेप, महासुभट की भांति कर्मविदारण में कटिबद्ध मुनि धर्मघोष ने सोचा कि छर्दित दोष वाला आहार मेरे लिए कल्पनीय हीं है अत: बिना भिक्षा लिए वे घर से बाहर निकल गए।

मदोन्मत्त हाथी पर बैठे मंत्री वारत्रक ने मुनि को बाहर निकालते हुए देखा तो सोचा कि मुनि ने मेरे घर से भिक्षा क्यों नहीं ग्रहण की? मंत्री के चिन्तन करते-करते ही उस शर्करा युक्त घी के बिन्दु पर अनेक मक्खियाँ आ गई। उनको खाने के लिए छिपकली आ गई। छिपकली को मारने के लिए शरट आ गया। शरट का भक्षण करने हेतु मार्जारी दौड़ी और उसके वध हेतु प्राघूर्णक कुत्ता दौड़ा। उसे मारने के लिए भी कोई दूसरा श्वान दौड़ा। दोनों कुत्तों में लड़ाई होने लगी। अपने-अपने कुत्ते के पराभव से चिन्तित मन वाले उनके मालिकों में युद्ध छिड़ गया। यह सारा दृश्य अमात्य वारत्रक ने देखा और मन में चिन्तन किया– 'घृत आदि का बिन्दु मात्र भी भूमि पर गिरने से कलह हो गया इसीलिए हिंसा से डरने वाले मुनि ने घृत बिन्दु को भूमि पर देखकर भिक्षा ग्रहण नहीं की। अहो! भगवान का धर्म बहुत सुदृष्ट है। सर्वज्ञ के अलावा कौन व्यक्ति ऐसे दोष रहित धर्म का उपदेश दे सकता है?' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह संसार से विमुख चित्त वाला हो गया। सिंह जैसे गिरिकन्दरा से निकलता है, वैसे ही अपने प्रासाद से बाहर निकलकर मंत्री वारत्रक ने धर्मघोष साधु के पास आकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उस महात्मा ने शरीर से अनासक्त रहकर संयम-अनुष्ठान एवं स्वाध्याय से भावित अंत:करण से दीर्घकाल तक संयम पर्याय का पालन किया। फिर क्षपक श्रेणी में आरोहण कर घाति कर्मों का समूल नाश करते हुए केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी एवं काल क्रम से सिद्धि गति को प्राप्त किया।[32]

25. द्रव्य ग्रासैषणा : मत्स्य दृष्टांत

एक मच्छीमार मत्स्य को ग्रहण करने के लिए सरोवर के पास गया। सरोवर के निकट जाकर उसने एक मांसपेशी से युक्त जाल सरोवर के बीच में फेंका। उस सरोवर में दक्ष एवं परिणत बुद्धि वाला एक वृद्ध मत्स्य रहता था। कांटे में लगे मांस की सुगंध का भक्षण करने हेतु वृद्ध मत्स्य कांटे के पास गया और यत्ना पूर्वक आस-पास का सारा मांस खा गया। फिर पूंछ से कांटे को दूर कर दिया। मच्छीमार ने सोचा कि मत्स्य जाल में फंस गया है, अत: उसने कांटे

को अपनी ओर खींचा तो देखा कि वह मत्स्य और मांसपेशी से रहित है। मच्छीमार ने पुनः मांसपेशी लगाकर कांटे को सरोवर में फेंका। पुनः वह मत्स्य मांस खाकर पूंछ से कांटे को धकेलकर पलायन कर गया। इस प्रकार उसने तीन बार मांस खाया लेकिन मच्छीमार उसको पकड़ नहीं सका।

मांस समाप्त होने पर चिंता करते हुए मच्छीमार को मत्स्य ने कहा–'तुम इस प्रकार क्या चिन्तन कर रहे हो? तुम मेरी कथा सुनो, जिससे तुमको लज्जा का अनुभव होगा। मैं तीन बार बला का के मुख में जाकर भी उससे मुक्त हो गया। एक बार मैं बलाका के द्वारा पकड़ा गया तब उसने मुझे मुख में डालने के लिए ऊपर की ओर फेंका। मैंने सोचा कि यदि सीधा इसके मुख में गिर जाऊंगा तो मेरे प्राणों की रक्षा संभव नहीं है। इसलिए इसके मुख में तिरछा गिरूंगा। ऐसा सोचकर मैंने फुर्ती से वैसा ही किया। मैं उसके मुख से बाहर निकल गया। पुनः दूसरी बार भी उसके मुख में जाकर बाहर निकल गया। तीसरी बार जल में गिरने से दूर चला गया। तीन बार समुद्री तट पर भट्टी के रूप में चलती बालू में गिरा, लेकिन शीघ्र ही लहरों के साथ वापस समुद्र में चला गया। इसी प्रकार मच्छीमार द्वारा बिछे जाल में इक्कीस बार फंसने पर भी जब तक मात्स्यिक ने जाल का संकोच किया, उससे पहले मैं जाल से निकल गया। एक बार मात्स्यिक ने ह्रद के जल को बाहर निकालकर उसे खाली करके अनेक मत्स्यों के साथ मुझे पकड़ा। वह सभी मत्स्यों को एकत्र करके तीक्ष्ण लोहे की शलाका में उनको पिरो रहा था। तब मैं दक्षता से मात्स्यिक की दृष्टि बचाकर स्वयं ही उस लोहे के शलाका के मुख पर स्थित हो गया। जब वह मच्छीमार कर्दम लिप्त मत्स्यों को धोने के लिए सरोवर पर गया तब शीघ्र ही मैं जल में निमग्न हो गया। इस प्रकार मुझ शक्ति सम्पन्न को तुम कांटे से पकड़ना चाहते हो, यह तुम्हारी निर्लज्जता है।' इस कथा का निगमन करते हुए कथाकार कहते हैं कि एषणा के 42 दोषों से बचने पर भी हे जीव! यदि तुम ग्रासैषणा के दोषों में लिप्त होते हो तो यह तुम्हारी निर्लज्जता है।[33]

प्रस्तुत अध्याय में उक्त कथाओं के माध्यम से आहारचर्या के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों को सोदाहरण समझाने का प्रयास किया है। यह कथाएं हमें 47 दोषों के यथार्थ स्वरूप से परिचित करवाते हुए वर्तमान जीवन शैली में मुनि आहार के प्रति बढ़ती हुई लापरवाही एवं उपेक्षाभाव को कम कर पाएं तो इस कृति की सार्थकता होगी।

सन्दर्भ सूची

1. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 88-90 की टीका 33, 34
2. वही, गा. 168 की टीका 65
3. वही, गा. 245-46 की टीका 83
4. (क) वही गा. 310-11 की टीका, पृ. 97
   (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ.40
5. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 317-19 की टीका, पृ. 98-99
   (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 41
6. (क) वही, गा. 324-26 की टीका 100-101
   (ख) वही, पृ. 43
7. पिण्डनिर्युक्ति, गा. 337-40 की टीका, पृ. 103, 104
8. पिण्डविशुद्धिप्रकरण की टीका में जयन्तपुर के स्थान पर जयपुर नगर का उल्लेख है।
9. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 359-600 की टीका, पृ. 108
   (ख) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 46
10. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 368-69 की टीका, पृ. 111
    (ख) निशीथ चूर्णि के अनुसार एक ग्वाला दूध का विभाग लेकर गाय की रक्षा करता था। वह प्रतिदिन दूध देने वाली गायों का चौथाई भाग स्वयं लेता था और चौथे दिन गायों का पूरा दूध स्वयं ग्रहण करता था।
    निशीथ भाष्य, 4502 की चूर्णि, पृ. 433
    (ग) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 47
11. (क) पिण्डनिर्युक्ति, गा. 378-81 की टीका, पृ. 113, 114
    (ख) निशीथभाष्य, 4517-19 चूर्णि, पृ. 437
    (ग) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 47-48
12. (क) पिण्डनिर्युक्ति, 427 की टीका, पृ. 125, 126
    (ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 107
    (ग) आवश्यक निर्युक्ति, 778
    (घ) आवश्यक चूर्णि, भा-2. पृ. 35
    (च) निशीथभाष्य, 4392-94 चूर्णि, पृ. 408

(छ) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 52, 53*

13. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 433-34 की टीका, पृ. 127*
    (ख) *निशीथभाष्य, 4401, 4402 की चूर्णि, पृ. 410*
    (ग) *जीतकल्पभाष्य, 1335-39*
    (घ) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 54*
14. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 436*
    (ख) *पिण्डनिर्युक्तिभाष्य 33-34 की टीका, पृ. 128*
    (ग) *निशीथभाष्य, 4406-4408 की चूर्णि, पृ. 411*
    (घ) *निशीथभाष्य, 2694-96 की टीका, पृ. 20*
    (च) *जीतकल्पभाष्य, 1342-47*
    (छ) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 54-55*
15. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 460 की टीका, पृ. 133*
    (ख) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 57*
16. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 465 टीका, पृ. 135-136*
    (ख) *निशीथभाष्य, 4451 की चूर्णि, पृ. 421*
    (ग) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 60*
17. *जीतकल्पभाष्य के अनुसार गिरिपुष्पित नगर कौशल देश में था।*
    जीतकल्पभाष्य, 1395
18. (क) *निशीथ चूर्णि (पृ. 420) में इंद्रदत्त नाम का उल्लेख मिलता है।*
    (ख) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 58-60*
19. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 466-73 की टीका, पृ. 134-136*
    (ख) *निशीथभाष्य, 4446-53 की चूर्णि, पृ. 419-421*
    (ग) *जीतकल्पभाष्य, 1395-97*
20. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 474-480 की टीका, पृ. 137-139*
    (ख) *जीतकल्पभाष्य, 1398-1410*
    (ग) *पिण्डविशुद्धि टीका, पृ. 60-63*
    (घ) *निशीथभाष्य एवं उसकी चूर्णि में केवल क्रोधपिण्ड और मानपिण्ड से सम्बन्धित कथाएँ हैं। निशीथसूत्र में मायापिण्ड और लोभपिण्ड से संबंधित सूत्र का उल्लेख है लेकिन उसकी व्याख्या एवं कथा नहीं है।*

यह अन्वेषण का विषय है कि ऐसा कैसे हुआ? इस संदर्भ में ये संभावना की जा सकती है कि संपादित निशीथ भाष्य एवं चूर्णि में वह प्रसंग छूट गया हो अथवा ग्रंथकार ने उसे सरल समझकर छोड़ दिया हो।

21 *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 482-83 की टीका, पृ. 139*
(ख) जीतकल्पभाष्य, 1414-17
(ग) पिण्डविशुद्धि टीका, पृ. 65

22 *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 495-96 की टीका, पृ. 141-142*
(ख) निशीथभाष्य, 4457-4458 की चूर्णि, पृ. 422
(ग) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 67
(घ) जीतकल्पभाष्य, 1439-42

23 *जीतकल्पभाष्य (1444) में प्रतिष्ठानपुर के स्थान पर पाटलिपुत्र का उल्लेख मिलता है।*

24. *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 498 की टीका, पृ. 142*
(ख) निशीथभाष्य, 4460 की चूर्णि, पृ. 423
(ग) जीतकल्पभाष्य, 1444-1445
(घ) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 67

25 *निशीथचूर्णि (भा. 3 पृ. 423) एवं पिण्डविशुद्धिप्रकरण में पाटलिपुत्र नाम का उल्लेख है। पाटलिपुत्र का पुराना नाम कुसुमपुर था।*

26. *पिण्डविशुद्धिप्रकरण में आचार्य का नाम संभूतविजय है।*

27. *(क) पिण्डनिर्युक्ति 500, पिण्डनिर्युक्ति भाष्य 35-37 की टीका, पृ. 143*
(ख) निशीथभाष्य, 4463-65 की चूर्णि, पृ. 423-424
(ग) जीतकल्पभाष्य, 1450-55
(घ) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 67-68

28. *निशीथचूर्णि (भा. 3 पृ. 445) तथा जीतकल्पभाष्य (1460) में आभीर जनपद का उल्लेख मिलता है।*

29. *(क) पिण्डनिर्युक्ति, 503-505 की टीका, पृ. 144*
(ख) निशीथभाष्य, 4470-72 की चूर्णि, पृ. 425
(ग) जीतकल्पभाष्य, 1460-66
(घ) पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 68

30. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 506 की टीका, पृ. 144*
    (ख) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 70*
31. *पिण्डविशुद्धिप्रकरण में यह कथा विस्तृत रूप में दी गई है।*
32. (क) *पिण्डनिर्युक्ति, 628 की टीका, पृ. 169-170*
    (ख) *पिण्डविशुद्धिप्रकरण टीका, पृ. 82-83*
33. *पिण्डनिर्युक्ति, गा. 631-33 की टीका, पृ. 170-171*
    ये सभी कथाएँ पिण्डनिर्युक्ति, अनु. मुनि दुलहराज से उद्धृत की गई है।

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अन्तकृतदशा (अंग सुत्ताणि, भाग-3)	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2031
2.	अनगार धर्मामृत	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1977
3.	अष्टक प्रकरण	संपा.डॉ.सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस	2000
4.	आचारांगसूत्र (भा. 1-2)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1980
5.	आचारांगसूत्र (भा.2)	मुनि सौभाग्यमल जी	धर्मदास जैन मित्र मंडल, रतलाम	1982
6.	आयारचूला (अंगसुत्ताणि भा.1)	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनूं,	वि.सं. 2031
7.	आचारांगसूत्र	टीका.शीलांकाचार्य	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1962 -63
8.	आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति (भा.1-2)	टीका. आचार्य हरिभद्रसूरि	श्री भैरूलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
9.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा.मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
10.	उत्तराध्ययनसूत्र	टीका. शान्त्याचार्य	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई	1973
11.	ओघनिर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	श्री आगमोदय समिति, महेसाणा	1919

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
12.	ओघनिर्युक्ति भाष्य		श्री आगमोदय समिति, महेसाणा	1919
13.	औपपातिकसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
14.	चरणानुयोग (भा.2)	संपा.मुनि कन्हैयालाल	आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद	1990
15.	चारित्रसार	चामुण्डराय	माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुंबई	1974
16.	जिनभाषित	संपा. रतनचन्द जैन	सर्वोदय जैन विद्यापीठ, आगरा	2006
17.	जीतकल्पभाष्य	संपा. मुनि पुण्यविजय	बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद	वि.सं. 1994
18.	जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ	डॉ. अरुण प्रताप सिंह	पार्श्वनाथ विद्यापीठ,बनारस	1986
19.	ज्ञाताधर्मकथासूत्र	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2003
20.	दशवैकालिकसूत्र	संपा.मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1985
21.	दशवैकालिकचूर्णि	रचित अगस्त्यसिंह संपा. मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद	1973
22.	दशवैकालिकचूर्णि	रचित जिनदासगणि	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम	1933
23.	दशवैकालिक निर्युक्ति	संपा.मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, अहमदाबाद	1973
24.	दशवैकालिकवृत्ति	टीका.आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई	1918

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
25.	दशाश्रुतस्कन्ध (त्रीणिछेद सूत्राणि)	संपा.मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
26.	धर्मसंग्रह (भा.3)	उपा. मानविजयजी	जिनशासन आराधना ट्रस्ट भुलेश्वर, मुम्बई	1984
27.	निशीथसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
28.	निशीथभाष्यचूर्णि (भा.1-4)	संपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
29.	पिण्डनिर्युक्ति	—	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई	1918
30.	पिण्डनिर्युक्ति	अनु. मुनि हेमसागर	शासन कंटकोद्धार ज्ञानमंदिर, उलिया (भावनगर)	
31.	पिण्डनिर्युक्ति(सानुवाद)	समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2008
32.	पिण्डनिर्युक्ति मलयगिरि टीकासहित	टीका. आचार्य मलयगिरि	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, मुंबई	1918
33.	पिण्डविशुद्धि प्रकरण	रचित जिन वल्लभसूरि	श्री जिनवल्लभसूरि ज्ञान भंडार,शीतलवाड़ी उपाश्रय, सूरत	वि.सं. 2011
34.	पंचवस्तुक	रचित आचार्य हरिभद्रसूरि	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	1927
35.	पंचवस्तुक (गुज.अनु. भा. 1-2)	अनु.राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, भिवंडी, बम्बई	वि.सं. 2060
36.	पंचाशक प्रकरण	संपा. डॉ. दीनानाथ शर्मा	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1997

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
37.	प्रवचनसारोद्धार (भा.1-2)	अनु.साध्वी हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
38.	प्रवचनसारोद्धार टीका	—	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत	1926
39.	प्रश्नव्याकरण	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1983
40.	प्रश्नव्याकरण (अंगसुत्ताणि भा.3)	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2031
41.	बृहत्कल्पभाष्य चूर्णि-टीकायुत (भा.1-6)	संपा. मुनि पुण्यविजय	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1933 1942
42.	भगवतीसूत्र (अंगसुत्ताणि भाग.2)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
43.	भगवती टीका (भा.1)	टीका.अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, मुम्बई	1918
44.	भगवती आराधना (विजयोदया टीका)	आचार्य अपराजितसूरि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1978
45.	मनुस्मृति	संपा. गोपाल शास्त्री नेने	चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी	वि.सं. 2063
46.	मूलाचार (भा.1-2)	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1992
47.	मूलाचार टीका	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1992
48.	याज्ञवल्क्यस्मृति	विश्वरूपाचार्य संपा. गणपति शास्त्री	राजकीय मुद्रण यंत्रालय, त्रिवेन्द्रम	1924

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
49.	योगसार प्राभृत	संपा. जुगलकिशोर मुख्तार	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस	1968
50.	रयणसार	अनु. स्याद्वादमती माताजी	भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्	
51.	राजप्रश्नीयसूत्र (उवंगसुत्ताणि खं.1)	संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1989
52.	वायुपुराण (भा.1-2)	संपा. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	
53.	श्रमणसूत्र	उपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1966
54.	श्रमणाचार	संपा.पं.लाडली प्रसाद जैन	ताराचन्द अजमेरा म. 5/5 कृष्णानगर, दिल्ली	1989
55.	समवाओ	संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1984
56.	सूयगडो	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2006
57.	सूत्रकृतांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1966
58.	सानुवाद विधिमार्गप्रपा	अनु.साध्वी सौम्यगुणाश्री	श्री महावीर स्वामी देरासर, पायधुनी, मुंबई	2006
59.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981
60.	स्थानांग (ठाणं)	संपा. मुनि नथमल	जैन विश्व भारतीय, लाडनूं	1976

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

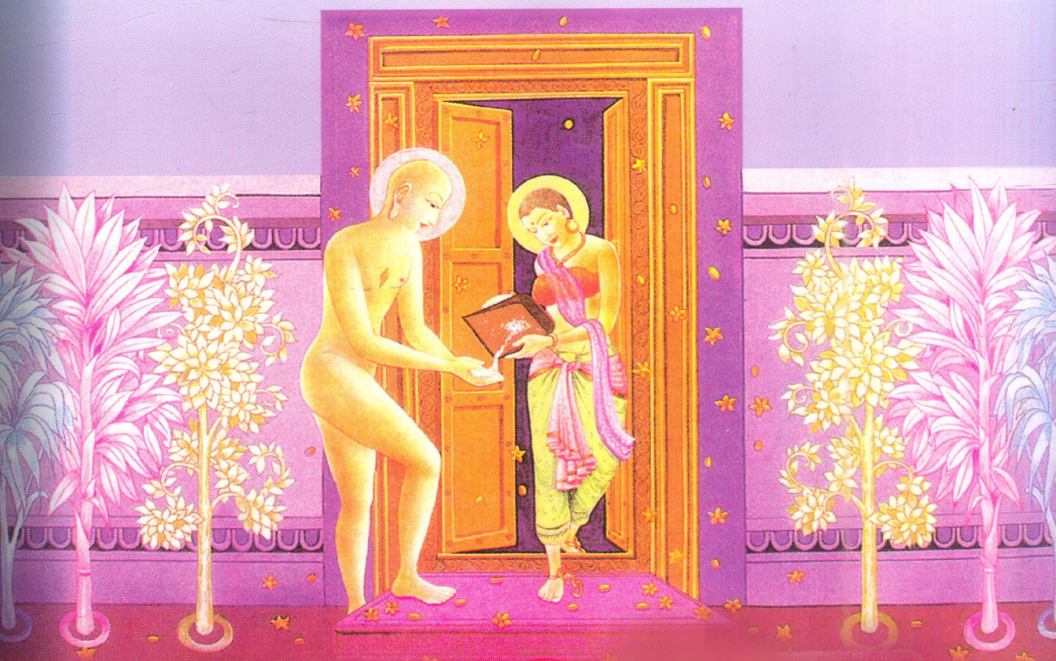


डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
दीक्षा गुरु	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जनमणि श्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरु	:	संघरत्ना प. पू. शशिप्रभा श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन वीणा से निकले सूर

- आगमों के प्रकाश में भिक्षाचर्या का स्वरूप ?
- वर्तमान में निर्दोष आहार की प्राप्ति किस प्रकार संभव है ?
- **Pizza, Burger** के युग में सात्विक भोजन का नियम कितना प्रासंगिक है ?
- श्रमण के लिए गुप्त आहार का संविधान क्यों ?
- भिक्षा सम्बन्धी नियम-उपनियमों की एक जानकारी ?
- साधु महाभोज आदि में भिक्षार्थ क्यों न जाए ?
- मुनि भिक्षाचर्या हेतु किस विधि पूर्वक गमन करें ?
- आज के शिक्षित एवं नौकरी प्रधान स्वावलम्बी समाज में भिक्षाचर्या का औचित्य कितना ?
- भिक्षाचर्या सम्बन्धी **42** दोष कैसे लगते हैं ?
- शारीरिक स्वस्थता में भिक्षाचर्या कैसे सहयोगी है ?
- इतिहास के आलोक में भिक्षाचर्या की अवधारणा ?



SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (VI)